दृष्टि एवम् दिशाएं

डा॰ रमाकान्त आंगिरस

पुस्तक-परिचय

विश्व की संस्कृतियों के बीच भारतीय संस्कृति का स्थान इसलिए विशिष्ट हो गया क्योंकि उसने सनातनता और परिवर्तन के बीच का सन्धिस्थल बहुत पहले खोज लिया था। उसमें प्राचीन होने का अर्थ जर्जर या व्याधिग्रस्त होकर जीना नहीं रहा अपितु काल की मार झेलकर सुदृढ़ जीवन जीने का रहा। उसका इतिहास रचने वालों के केन्द्र में मनुष्य रहा और वृत्त या परिधि में देवता या असुर। जीने के लिए दोनों उपयोगी थे। तकनीकी विज्ञान के चमत्कार मनुष्य को भोगप्रधान असुर या देवता बनने की दिशा की ओर मोड़ने को जुट गए हैं। आधुनिकता की आड़ में सत्य को तिरस्कृत करने वाली नई रूढ़ियां फफूंद की तरह उग आई हैं। समन्वय की संस्कृति का स्थान घालमेल ने और लोकमंगल का स्थान भीड़तन्त्र ने ले लिया है। सुशिक्षित वर्ग भी अपनी परम्परा–प्राप्त अस्मिता को पैसे के लिए बेचने पर उतारू है। उसे संस्कृति के साक्षात्कार की ओर प्रेरित करनेवाली ऐसी दृष्टि की अपेक्षा है जो अपने वर्तमान पर खड़े होकर अपने अनागत और अतीत को ठीक से आलोकित कर सके।



व्यक्ति हो या राष्ट्र, प्राचीन हो या वर्तमान हो, वह अपने बारे में, औरों के बारे में, जीवन और जगत् के संघर्ष के बारे में कैसे सोचता रहा है, उसकी इस संवेदनशीलता को मुखरित करने का प्रयास प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। भारतीय दृष्टि में समग्र सृष्टि का प्रकाशन कविता, दर्शन और विज्ञान का सामरस्य कैसे बना और मनीषी लोगों ने अपने इस लोक को, अपनी भाषा को, अपने भावजगत् को तथा अपनी जीवनदृष्टि को भारतीय परिवेश और भारतीय मन से जुड़ा होने पर भी, उसे विश्वमानव के साथ कैसे जोड़ा? ऐसी जिज्ञासाओं का सशक्त उद्घाटन करते हुए चिन्तन का चार खण्डों में संकलन पुस्तक को नई और पुरानी पीढ़ी के संवेदनशील पाठकों के लिए 21वीं शती का अमूल्य उपहार बना देता है।

डा॰ आशुतोष आंगिरस

दृष्टि एवम् दिशाएं

Presented to
Ishwara Ashram
Library SriNagar
Ramakant Angiras
17-5-2015

डा. रमाकान्त आंगिरस

प्रकाशक :

श्रीराम धर्मार्थ ट्रस्ट,

मोरिण्डा (पंजाब)

प्रकाशक : **श्रीराम धर्मार्थ ट्रस्ट,**
मोरिण्डा (पंजाब)
स्थानीय कार्यालय
1526, सैक्टर 18–डी, चण्डीगढ़
दूरभाष : 0172–2705239,
98141–06096

प्रथम संस्करण : 1100 प्रतियां, 7/2005

मूल्य : 500/– रुपये

मुद्रक : प्रिटिंग सैंटर, 2235/21–सी,
चण्डीगढ ।

समर्पणम्

शिवे शिवसुशीतलामृततरंगगन्धोल्लस
न्नवावरणदेवते नवनवामृतस्यन्दिनि
गुरुक्रमपुरस्कृते गुणशरीरनित्योज्ज्वले
षडंगपरिवारिते कलित एष पुष्पांजलिः ।।





आत्म–निवेदन

ओं तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् ।

ऋग्वेद 7-66-16

"सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च"

यजुर्वेद 7-42

दृष्टि एक ही होती है और दिशाएं अनेक। वैदिक मन्त्रों में सूर्य को देवों का प्रिय चक्षु या दृष्टि कहा गया है। वही भारतीय मनीषा का आत्मचक्षु बना रहा है। इस चक्षु–सूर्य के उदय होते ही किरणसमूह स्वयम् ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं का निर्धारण कर देता है। दिशाओं की चार, आठ या दस संख्या तो सभी को ज्ञात हैं किन्तु अन्तरंग दिशाएं असंख्य हैं। अतः भारतीय दृष्टि के एक होने पर उसके परिवेष–मण्डल में बहुत से रंग हैं। इस पुस्तक में चार खण्डों में विभाजित 34 शीर्षकों के माध्यम से उस एक ही योग–दृष्टि के अनुशीलन का अनुरणन या अनुनाद है। थोड़ा भी संस्कारित श्रोत्र होने पर वह अनुनाद आपकी चेतना को ध्वनित करेगा ही।

निश्चय ही पूंजीवादी सभ्यता के दौर में मनुष्यता सांस्कृतिक संकट के गहरे दलदल को देखकर आतंकित तो है। जीवन के जिन मूल्यों, मर्यादाओं और आदर्शों ने शताब्दियों–पर्यन्त हमारा मार्गदर्शन किया और करते आ रहे हैं, उनका लोकजीवन में जीवन्तरूप प्राप्त होना इसलिए दुर्लभ होता जा रहा है क्योंकि आर्थिक उपभोक्तावाद के तेज धारा–प्रवाह के आगे ठहर पाना सभी के लिए कठिन हो रहा है। भारतीय संस्कृति जो भारत के बहुत बड़े समुदाय की जीवन–दृष्टि थी उस पर पश्चिमी व्याख्याओं के अवलेपन ने अपना रंग देकर उसका ऐसा स्वरूप बना दिया है जो अब उसकी असली पहचान के लिए बड़ा संकट बन गया है। ऐसी स्थिति में उस संस्कृति की निरन्तरता और परिवर्तनशीलता के दोनों पंखों के नीचे छिपी संवेदना को छूकर देखने का यह लघु प्रयास है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में अपनी दृष्टि के मार्जन के लिए मैंने अपनी परम्परा के ऋषियों, मुनियों, आचार्यों, कवियों, सन्तों और आलोचकों के वाक्यों और विचारों

को प्रामाणिक रूप से उद्धृत किया है। इस दाय से उर्ऋण होना असंभव ही है। क्योंकि सभी विचार मानवमात्र की सांझी और सहज सम्पदा है। किन्तु इन वाक्यों या विचारों को पाचन–क्रिया द्वारा आत्मसात् एवम् रूपान्तरित करने की क्रिया में जिन गुरुओं एवम् मित्रों के साथ संवाद चलता रहा उनके प्रति आभार व्यक्त करना अपनी लघुता और उनकी महनीयता को ही स्वीकार करना है। किन्तु इस ग्रन्थरूप परिणति की सुदीर्घ चिन्तन–प्रक्रिया के चलते जिनके साथ दिन–रात का निरन्तर संवाद चलता रहा है उसमें धर्मपत्नी मीनाक्षी के सम्पूर्ण सहयोग का स्मरण अपने भीतर के सुप्त शक्तिभाव को ही चेतन स्तर पर स्मरण करने जैसा है।

इस पुस्तक के प्रकाशन का सम्पूर्ण दायित्व अपने पर धारण कर **श्रीराम धर्मार्थ ट्रस्ट, मोरिण्डा (पंजाब)** के संचालक **एडवोकेट श्रीराजेन्द्र कुमार मित्तल जी** ने अपनी संस्कृति और संस्कृत के प्रति अगाध निष्ठा का परिचय दिया है। उनके कुशल नेतृत्व में श्रीराम धर्मार्थ ट्रस्ट, मोरिण्डा भारत के आदिवासी बच्चों को अधिकाधिक सम्पूर्ण सुविधाएं प्रदान कर उन्हें भारतीय संस्कृति के प्रखर पुरोधा बनाने के संकल्प के साथ उनकी शिक्षा–दीक्षा की व्यवस्था में जुटा हुआ है। लेखक उनकी इस उदारता एवम् महाशयता के प्रति चिरकृतज्ञ है।

✍ **रमाकान्त आंगिरस**

अनुक्रमणिका

लोक–दृष्टि

1.	आधुनिक भारतीय दार्शनिकता का संकट	1
2.	भावयोग अथवा भावात्मक एकता : भारतीय सन्दर्भ	8
3.	कृषि–दर्शन	13
4.	समष्टि–दर्शन	19
5.	सत्याग्रह की भारतीय भूमिका	23
6.	श्वान–संस्कृति	28
7.	हिमालय–संस्कृति के स्रोत	34
8.	पुराणों की वैष्णव–दृष्टि और सिख–दृष्टि	43
9.	सन्त और योद्धा	52
10.	तिरिया और सन्त	

वाग्–दृष्टि

11.	भारतीय	65
12.	अम्बिका–मातृका	71
13.	यास्कीय निर्वचनविद्या–दर्शन	75
14.	शाक्त एवम् शैवमत में वाक्–तत्त्व	86
15.	संस्कृत एवम् पालि का सम्बन्ध–विचार	97
16.	सत्यः अभिव्यक्ति : तप	104
17.	सूत्र–दृष्टि	111
18.	शब्द के पार	

भाव–दृष्टि

19. अंगुलीयकशून्या मेऽङ्गुलिः 120
20. भारतीय हास्य–दर्शन 123
21. शान्तोऽपि नवमो रसः 128
22. तन्त्रदर्शन में सौन्दर्य–मीमांसा 139
23. ऋग्वेद के दो पक्षियों के साहित्य का रहस्य 155
24. आचार्य अभिनवगुप्त के स्तोत्रों में रस–साधना 165
25. छाया और भारतीय मन 174
26. भारतीय काम–चेतना 183
27. स्मृति–दर्शन 190

जीवन–दृष्टि

28. भारतीय मानस और तर्क 197
29. अथातो मृत्युजिज्ञासा 203
30. श्रीमद्भगवद्गीता की आधारभूमि वैष्णव सांख्य–योग 211
31. कालिदास के काव्य का पुरुष 221
32. शाक्तों का स्त्रीतत्त्व 227
33. रुद्र से साक्षात्कार 234
34. हिमालय में योग–साधना एवम् बौद्ध–दृष्टि 239

लोक–दृष्टि

आधुनिक भारतीय दार्शनिकता का संकट

दार्शनिकता मनुष्य के जीवन में एक चक्षु का विकास है जिससे मनुष्य का अन्तर्जगत् अपने समस्त सम्बन्धों के साथ खुलने लगता है। इसीलिए ज्ञानपिपासा, कुतूहलनिवृत्ति, या सोचने के नए ढ़ंग अथवा मतमतान्तर का विकास, अपनी नई नई चिन्तन–शैलियों का प्रचार, ये दार्शनिकता के बहिरंग में भले ही स्थित हो जाएं किन्तु उसके स्वरूप का निश्चय नहीं करवा सकते। जब चिन्तनदृष्टि जीवनक्रिया में स्फुरण होने लगे, और जीवनक्रिया ही चिन्तनदृष्टि को अग्रसर करती रहे तो समझना चाहिए कि सही दार्शनिकता का विकास आरम्भ हो गया। किन्हीं पुस्तकों का आश्रय, या किसी वादविशेष का आश्रय एक अवस्था–विशेष में लिया जा सकता है किन्तु उस अवस्था को हम प्रयत्न या आरम्भमात्र ही मानेंगे। जहां पर भी ज्ञान और क्रिया परस्पर विभाजित होकर जी रहे हैं या कहीं समझौते के नाम पर एक दूसरे पर आत्मप्रत्यारोपण करके चल रहे हैं, वहां द्वन्द्व का विकार चेतना की उस ऊर्जा या संवेदनशीलता को खा जाता है जो दार्शनिकता की प्रथम आवश्यकता है। पेशेवर व्याख्याएं तो उसका और भी अधिक अहित करने लगती हैं। क्योंकि जो आपके भौगोलिक एवम् संस्कृतिजीवन का व्यक्ति के माध्यम से सहज या आन्तरिक स्फोट है, उसको पेशेवर व्याख्याएं व्यावहारिक बनाने के नाम पर व्यापारिक बनाने पर आमादा हो जाती हैं और उसे तिरस्कृत करके स्वयम् को उस पद पर प्रतिष्ठित कर लेती हैं जिसे बाद में हम मानवनियति मान लेते हैं।

वस्तुतः दार्शनिकता स्वयम् में एक ऐसा सत्य है जिसे किसी अन्य सत्य की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिए वह जब भी जिस स्थिति में भी उठती है वह स्थिति चाहे उसके शत प्रतिशत प्रतिकूल भी हो तो भी वह टूटती नहीं क्योंकि कई बार वह देश और काल की मर्यादा से स्वयं को स्वतंत्र मानकर अपने अनुकूल देशकाल का स्वयम् भी सर्जन कर सकती है। इसलिए उसे अदैशिक या अकालिक इन्हीं अर्थों में कहा जा सकता है। अथवा यही उसकी सार्वभौमता और सार्वकालिकता का प्रकाशन माना जा सकता है। क्योंकि उस प्रकार की दार्शनिकता को स्वातन्त्र्य क्या, पूर्ण

स्वातन्त्र्य ही रास आ सकता है। उससे न्यून या अधिक कुछ नहीं। जिस काल और देश में सम्पूर्ण मानवीय शक्तियां इसी तरफ जुटी हुई हों कि हम समस्त जगत् की भौतिक या अतिभौतिक शक्तियों को अपने अधीन करना चाहते हैं उन्हें अपनी भोग्य बनाना चाहते हैं वहां इस प्रकार की स्वतन्त्र या निरपेक्ष दृष्टि का विकास इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि वहां दूसरी शक्तियों के स्वातन्त्र्य के अपहरण का प्रयास संकल्पपूर्वक जानबूझकर हो रहा है। वहां निरपेक्ष करुणा, मुदिता एवम् मैत्री का विकास इसलिए संभव नहीं क्योंकि उनका संदर्भ ही वहां नहीं है।

यही कारण है कि आज के संदर्भ में हम बहुत ऊंची उड़ान भर कर भी जीवन की सापेक्षता के सिद्धान्त से आगे नहीं बढ़ पाए। इतिहासबोध आज की दार्शनिकता का अनिवार्य अंग बन चुका है जो देश और काल से जुड़ा हुआ होने के कारण भौतिक प्रत्यक्षवाद के सन्दर्भ में ही दार्शनिक प्रश्नों को उठाना पसन्द करता है। परमार्थविचार या पराविद्या उसके लिए कोई महाप्रश्न नहीं बन पाते। क्योंकि वे विज्ञानसम्मत नहीं। बहुत से ऐसे प्रश्न हैं जिनका विज्ञान ने हमारे लिए अन्तिम समाधान कर दिया है। अतः दार्शनिक जिज्ञासाओं का बहुत सा क्षेत्र भौतिक विज्ञानवाद ने नियन्त्रण में ले लिया है और भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान,मनोविज्ञान, भूगंर्भविद्या, समाजशास्त्र एवम् कलाविज्ञान आदि पनपते नए विज्ञानों ने मनुष्यजीवन की समग्रता को ऐसे अपने में बांट लिया है कि आने वाले कल में मनुष्य को अपने या सन्दर्भ के बारे में सोचने की विपदा ही नहीं उठानी पड़ेगी। प्रत्येक विशिष्ट विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली किताबों में हमें मसाला ऐसे ही मिलने लगेगा जैसे कि पन्सारी की दुकान के बन्द डिब्बों में यथास्थान बनाकर रखी हुई चीजें मिल जाती हैं। आभास तो ऐसा ही हो रहा है कि कम्प्यूटर प्रणाली का विकास हो जाने से आपके प्रश्न और उत्तर बने बनाए तैयार होंगे। इस प्रकार संपूर्ण मानवचेतना पर आज के विशिष्ट विज्ञान के प्रामाण्यवाद का आधिपत्य स्थापित हो जाने पर ऐसा प्रतीत होने लगा है कि दार्शनिकता के नाम पर जब हम समाजवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद; मानववाद आदि आदि छोटी छोटी दार्शनिक संकल्पनाओं, या समय की मांग पर उठ रही नित नई बौद्धिक व्याख्याओं को ही दर्शन मानने लगेंगे तो इसका परिणाम यही होगा कि दार्शनिकता और वकालत, दार्शनिकता और राजनीति, दार्शनिकता और सांप्रदायिकता में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। क्योंकि व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपना लेने के बाद उस निरपेक्ष दृष्टि का लोप हो जाता है जो व्यक्ति के 'अहम्' या "मम" को दार्शनिकता की धुरी का सबसे बड़ा शत्रु मानती हैं। वर्तमान राजनीति की छाया में उठ रही शिक्षाप्रणाली या जीवनचर्या निरपेक्षता या तटस्थता की व्याख्या भी जब अपने व्यवहारवाद के सन्दर्भ में ही करने लगेगी तो बंधे बंधाए लोगों में उन्मुक्त दार्शनिकता के विकास का प्रश्न ही कहां रह जाता है? अतः उपनिषदों की, बुद्ध की या अन्य प्राचीन आस्तिक और नास्तिक प्रणालियों

की खुले वातावरण में पैदा हुई खुली खुली, कहीं कुछ ढीली ढाली कहीं कसी हुई दार्शनिकता को अब महानगरों में ऐसे ही विचरण नहीं करने दिया जाएगा।

दार्शनिकता के अर्थ यदि किसी ऐसी सहजानुभूति या सत्य का साक्षात्कार है जिसके आधार पर संपूर्ण जीवन और जगत् पल्लवित हो रहा है, अथवा कोई ऐसी महाशून्यता है जिसमें वह सब उपसंहृत हो रहा है जिसे हम जीवन की अपूर्णता या संपूर्णता कहते हैं अथवा कोई ऐसा तटस्थ दृष्टि का विकास है जो केवल तथ्यानुसंधान के बल पर जीवन और जगत् को एक अविरत गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखने को प्रेरित करता है तो उस साक्षात्कार के मार्ग में खड़े अवरोधकों को गिनाया जा सकता है। सुविधाओं का अनावश्यक मोह और उनका संचय जीवनदृष्टि को एक ऐसे लिज़लिज़ेपन से जोड़ देता है जो उसे दर्शन की भूमिका की ओर कदम ही नहीं उठाने देता। पुराने दार्शनिकों ने इस लिज़लिज़ाहट को सुखाने के लिए तपस् की ऊष्मा का प्रयोग करने की सलाह दी है। और यह तप कोई शारीरिक या मानस यातनाओं का अभ्यास न हो कर एक ऐसा चुनाव या स्वैच्छिक वरण है जो बढ़ती जिज्ञासाओं के अंकुरण के अवरोधों को तोड़ने में मदद करता है। शरीर और इन्द्रियों को भी दार्शनिकता में उपयुक्त बनाने के लिए किए गए वरण का नाम ही तप है जो एक अनुशासनमात्र है। नई नई विज्ञान द्वारा प्राप्त उपलब्धियों के उपभोग और संचय का मोह प्राप्ति के ग्लैमर (मायाजाल) को दर्शन बनाना चाहता है जो बन नहीं पाता।

दूसरा अवरोधक सहजता का अभाव है। समूचे भारतीय युवा मानस पर बढ़ता हुआ पश्चिम से आयातित मानसिकता का प्रभाव जिसने अपने मूल को ही अस्वीकार कर दिया है। क्षणिक उत्तेजनाओं या आरोपित मानसिकता का दर्जा देने के लिए या उपयोगी और समयानुकूल जीवन का चुनाव करने के लिए नर्सरी कक्षाओं से उच्चतम कक्षाओं तक शिक्षा की नई कलम को जड़ से ही लगाने के लिए जिन संस्थाओं का विकास हो रहा है वे दर्शन की भारतीय परम्परा से युवा मानस को पूर्णतः परे हटा कर पश्चिम के अनुकरणमात्र पर ऐसी सभ्यता को खड़ा करना चाह रही है जिसे नया भारत समझने का मोह प्रबल हो रहा है। रूपान्तरण की प्रक्रिया घटित हुए बिना ही हो रहे इस कच्चे सद्यःपरिवर्तन से भारतीय मानस का जो ह्रास हो रहा है उसके परिणाम किसी भी सही दार्शनिक चिन्तन के अनुकूल नहीं। क्योंकि मानवचेतना के रूपान्तरण की प्रक्रिया और है और प्रत्यारोपण की प्रक्रिया और है। रूपान्तरण सदैव हिंसा के बगैर होता है जब कि आरोप के मूल में हिंसा है। केवल मात्र कैरियर बनाने के लोभ से या भ्रम से अथवा हीनता की ग्रन्थि से ग्रस्त होकर जो लोग किसी प्रकार के परिवर्तन का वरण करते हैं तो उनकी चेतना इस लायक नहीं रहती कि वह बढ़िया दार्शनिक हो सकें। अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि रूपान्तरण की प्रक्रिया देश और काल की अनुकूलता या सहजता को लेकर

चलने के कारण सदैव अहिंसक होती है। आरोपण में बलात्कारी अंश की प्रधानता रहने से हिंसा का आना आवश्यक है और हिंसा दर्शन नहीं होता। इस समय पश्चिम से आने वाले संपूर्ण ज्ञानविज्ञान के मूल में हिंसा है और वह सारा विश्वकल्याण की भावना से प्रेरित नहीं अपितु विश्वकल्याण के नाम पर विश्वविजय की प्रेरणा से ग्रस्त और रूग्ण हो रहा है। यह रोग उसकी जड़ों में शायद अरस्तु के काल में सिकन्दर के विश्वविजेता बनने के हिंसक दर्शन के साथ ही पैदा हुआ था और विश्वयुद्ध का यह रोग क्रिस्तानों और अरबों के माध्यम से आज सारे विश्व में फैल चुका है। इसीलिए संतोष, शम, दम, तितिक्षा उपरति आदि भावों का अब दार्शनिकता के लिए कोई उपयोग नहीं रह गया। वस्तुतः पश्चिमी दर्शन के मूल की ओर यदि आप जाएंगे तो सुकरात की अहिंसक दार्शनिकता की निर्मलता को उसी के शिष्य प्लेटो ने जब शुद्ध बौद्धिक चेतना की ओर ले जाने का प्रयास किया तो उसी की प्रतिक्रिया अरस्तु के चिन्तन में प्रतिफलित हुई। अरस्तु ने उस निर्मल बुद्धिचेतना को भौतिकता के सन्दर्भ में व्याख्यायित करके ऐसा मोड़ दिया कि भौतिक उपलब्धियां लक्ष्य बन गईं और दर्शन उन उपलब्धियों का माध्यम बन जाने से भौतिक विज्ञान बन गया। इसलिए आज तरह तरह के पैदा हुए भौतिक विज्ञानों का पिता अरस्तू को माना जाता है जिसने दर्शन की भूमिका की भूतवादी व्याख्या देकर संभवतः उसे सिकन्दर की राजनीति का अंग ही नहीं प्रेरणास्रोत बना दिया। अतः कई बार ऐसा लगता है कि सुकरात के बाद संपूर्ण पाश्चात्य दार्शनिकता दार्शनिकता न होकर विचारों की विस्तृत राजनीति है जो मनुष्य को सत्ता और शक्ति का सुख देने के अतिरिक्त स्वयम् में कुछ भी नहीं। आत्मदर्शन की प्रेरणा से हीन उस अनीश्वरवादी या ईश्वरवादी विचारधारा से हिंसा का तादात्म्य अरस्तु के काल में ही होने की अधिक संभावना है। तब से लेकर अब तक यानी पूंजीवाद और मार्क्सवाद तक सभी ने समस्याओं का समाधान हिंसा में ही खोजा है और खोज रहे हैं। अतः सारे का सारा चिन्तन तनाव की राजनीति के रूप में संपूर्ण विश्व को लपेट कर बैठ गया है जिस से तटस्थता का दर्शन या आत्मदृष्टि का विकास संकुचित होता जा रहा है।

भारतीय दार्शनिकता के सम्मुख एक सबसे बड़ा भयानक संकट जो आया है वह भाषा का संकट है। भाषा ही आत्मचिन्तन और आत्माभिव्यक्ति का वह स्वच्छ स्रोत है जिसमें व्यक्ति जाति और समाज के चिन्तन के सारे मल धुल जाते हैं और निखार आ जाता है। लेकिन उस स्रोत में अंग्रेज ने और उससे भी अधिक हमारी राजनीति ने अंग्रेजी भाषा के प्रत्यारोपण से अस्वच्छता पैदा की है। अपने राष्ट्र के, अपने जनसामान्य के उत्सवों और पर्वों पर भी नेताओं को अंग्रेजी के डंडे से लोगों को हांकते देखकर एक प्रश्नचिन्ह खड़ा होने लगता है कि क्या आज़ादी के छलावे में हमें अंग्रेज की शाश्वत गुलामी ही कुछ सुविधाओं के प्रलोभन के साथ नहीं दे दी

गई? सोचना मुझे स्वयम् है, सीखना मुझे अपने परिवेश से है, और उसे अभिव्यक्ति मुझे देनी है तो फिर यह अंग्रेजी के माध्यम से कौन है जो राष्ट्र की मानसिंकता से व्यभिचार कर रहा है। अंग्रेजी के आने से पूर्व यह राष्ट्र गूगां तो नहीं था। अंधा भी नहीं था। फिर भी उसे अंग्रेज की विजेता की दृष्टि के अनुसार गूंगा और अंधा मानकर उसे विजेता की ही भाषा और दृष्टि देकर वह अनाचार किया गया है जिसका प्रक्षालन किसी राष्ट्रपिता या राष्ट्रमाता के मात्र रक्तप्रवाह से नहीं हो सकता। किसी भयानक आशंका की कल्पना से इन्कार नहीं किया जा सकता। आत्मशुद्धि का जितना प्रश्न स्थगित होता जाएगा मलिनता और हिंसा का उसी अनुपात में उभरना जारी रहेगा और भारतीय दार्शनिकता के उन्मेष का प्रश्न या आत्मदृष्टि का उन्मेष निलंबित ही रहेगा।

भारत के तत्त्वज्ञानियों की यह सोची समझी योजना का अंग था कि प्रत्येक राष्ट्रपुरूष को पहले आत्साक्षात्कारसम्पन्न होना चाहिए। इस लिए जो भी व्यक्ति उनके पास आता या चरण छूता तो उनका एक ही आशीर्वाद होता– "आत्मनिष्ठो भव।" लेकिन जब अपनी वाणी पर लोग ताले लगा कर बैठे हों, हीनताग्रस्त हों, राष्ट्र की बेशुमार संपत्ति का अंग्रेजी भाषा और मानसिकता के व्यर्थ के मुहावरों को पकड़ने के फेर में अपव्यय कर रहे हों, अपने जीवन की सारी शक्ति क्षय कर चुकने के बाद भारतीय संगीत, कामशास्त्र, ज्योतिष या गीता, रामायण की बात कर खुश हो लेते हों तो वहां दार्शनिकता का उदय होगा, यह संभव नहीं। यहां विचार करते समय पाठक को ध्यान रखना होगा कि वह पाश्चात्य आत्मरति या आत्मसंमोह की धारणा को आत्मनिष्ठा से नितान्त भिन्न रख कर देखे। यह आत्मनिष्ठ साधना जो भारतीय दार्शनिकता का आरम्भ है और चरम प्राप्य भी, उसका बढ़ता हुआ बहिष्कार एक और बहुत बड़ा संकट है।

बढ़ते हुए तनाव जीवन का एक और ऐसा पहलु है जिसका विश्व–राजनीति और राष्ट्रीय राजनीति, दोनों में समान प्रतिफलन हैं। जिसने सारे लोकजीवन को ऐसा पंगु बना दिया है कि वह जब भी सोचता है तो परिस्थितियों का दबाव या तनाव की स्थिति में ही सोचता है अन्यथा सोचता ही नहीं। फिर जीवन की सुख–सुविधा को प्राप्त करने या प्रतिकूल परिस्थितियों से बचने की प्रेरणा से पैदा हो रहे विज्ञान के आविष्कारों के चमत्कार ने तटस्थ दार्शनिकता की संभावनाओं को दिनप्रतिदिन और भी क्षीण कर दिया है। पुराने समय में कुछ एक वैज्ञानिकों एवम् कलावन्तों को राज्याश्रय की प्राप्ति होती थी। लेकिन श्रेष्ठता उन्हीं लोगों की थी जो बिना किसी आश्रय के सोच–विचार का काम कर सकते थे। जो लोग राज्याश्रय में होते भी थे उनका राजनीति से कुछ विशेष सम्बन्ध भी नहीं रहता था। वर्तमान सन्दर्भ में जब कि राजनीति के हाथों सभी कुछ बिक चुका है, सभी कुछ राजनीतिप्रेरित ही हो रहा है तो पेशेवर चिन्तकों के द्वारा उत्तम कोटि का चिन्तन हो पाना संभव ही कहां?

उसके अभाव में ही विघटनकारी विज्ञान की शक्तियों का आविर्भाव हो चुका है। संवेदनहीन विज्ञान मानव का श्रेयसाधन करेगा, इसमें सन्देह है।

स्वतन्त्र दार्शनिकता के लिए किसी भी परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रकार की आर्थिक अथवा किसी और प्रकार की निर्भरता एक बहुत बड़ा खतरा होता है। इसी सत्य के माहात्म्य को स्वीकार करते हुए भारतीय शब्दशास्त्र के प्रतिष्ठापकों में से एक पतंजलि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य पाणिनि के बारे में कहा कि आचार्य पाणिनि ने हाथ में केवल कुशग्रास का एक तृण पकड़ कर जो सत्य शब्द के विज्ञान के बारे में कहा, उसके किसी एकांश, अर्धांश या चतुर्थांश में भी त्रुटि नहीं लक्षित हो सकी। पाणिनि की प्रयोगशाला के बारे में सोचकर आज के भाषावैज्ञानिकों को अपनी उपलब्धि के बारे में कैसा लगेगा मैं नहीं कह सकता। किन्तु इतना अवश्य कह सकता हूं कि पाणिनि को बाघ ने जिस वनस्थली में खा लिया उसमें राजकीय सुखसुविधा या सुरक्षा की पाणिनि ने कल्पना भी नहीं की थी। पता नहीं कि उसके पास वहां कोई समृद्ध पुस्तकालय भी था या नहीं। उनके समय में ज्ञान की परिपाटी यही थी कि जितना शास्त्र जिह्वाग्र, कण्ठाग्र या स्मृति में समा गया वही अपनी सम्पत्ति है। "पुस्तकमन्त्रैर्मस्तकभारं निवहन्नंधो वेद न सारम्" की धारणा उस काल में बहुत दृढ़ रही। इसीलिए उस काल में सारे ही स्वाध्याय को श्रुति और स्मृति में धारण करने को लोग ज्ञान में स्वावलम्बिता का प्रथम लक्षण मानते थे। पतंजलि ने दार्शनिक उपयोगिता के लिए जिस "ध्रुवा स्मृतिः" की बात कही है वह अविकल या अविचल स्मृति सत्वशुद्धि या आन्तरिक निर्मलता से प्राप्त होती थी तोता–रटन्त वाला काम वह नहीं था।

तब दार्शनिकता के लिए सत्वशुद्धि यौन जीवन की स्वच्छ उन्मुक्तता थी। विकृतियों और ग्रन्थियों से ग्रस्त रूग्ण यौनभावना किसी स्वरूपदर्शन या तटस्थ दर्शन को नहीं उभरने देता। वस्तुतः पूर्व और पश्चिम के दोनों ही क्षेत्रों में कृत्रिम नैतिकता के अतिवाद एवम् उत्पीड़न ने जघन्य अपराध किए हैं। उन उत्पीड़नों से मुक्त होने के चक्कर में ही मानव की कई कई पीढ़ियां अपना अपना संतुलन खोकर दार्शनिक विकृतियों को जन्म देती जा रही हैं। फिर उद्योगीकरण की तेजी से बढ़ती प्रक्रिया ने मानव के सम्पूर्ण भोग को ही प्रदूषित किया है। अनावश्यक तनावों और दबावों से बढ़ता हुआ दफ़्तरों और कारखानों में नपुंस्त्व सही किस्म की दार्शनिक ऊर्जा के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती बन गया है जब कि दार्शनिक ऊर्जा के लिए उपयोगी जीवनपद्धति जुटा पाना यौन शुचिता के बिना संभव नहीं।

अतः दार्शनिकता के लिए भारत में जो भूमि तैयार की गई थी उसमें एक तो ऐसी सरल या मध्यममार्गी जीवन–पद्धति का विकास था जिसमें एक तो अनावश्यक दुस्साहस, हिंसा, संचय की प्रवृत्ति एवम् अन्ध इन्द्रियोपासना का कोई स्थान नहीं

रखा गया था। दूसरे आत्मान्वेषणापरक जिज्ञासाओं को उनके सहायक रूप में स्वीकार किया गया। बुद्धिविनोद–मात्र तो बहुत गौण रहा। कुल मिलाकर भारतीय दर्शन के आधार–स्रोतों में जो बात रखी गई थी उसे प्रायः दो हजार से भी अधिक वर्ष पूर्व अश्वघोष ने अपनी रचना बुद्धचरित के एक पद्य में समेट दिया है। बुद्ध कहते हैं कि अस्तित्व के बारे में मैंने पक्ष और विपक्ष की बातें खूब सुनी हैं। किन्तु मेरा अपना कोई निश्चय नहीं बना है। मैं स्वयम् तप और शम का आश्रय लेकर निश्चय करुंगा कि क्या ठीक है, क्या गलत।

यदस्ति नास्तीति य एष संशयः परस्य वाक्यैर्न ममात्र निश्चयः।
अवेत्य तत्त्वं तपसा शमेन च स्वयं ग्रहीष्यामि यदत्र निश्चितम्।।

इस मूल स्रोत से कटकर पश्चिम की हर चिन्तनप्रणाली का पिछलग्गू बनने से भारत की आधुनिक दार्शनिकता की स्थिति कीचड़ में धंसी हुई गाय जैसी हो रही है। न पीछे न आगे।

भाव–योग अथवा भावात्मक–एकता भारतीय सन्दर्भ

अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त "इमोशनल इण्टिग्रेशन" शब्द–योग के लिए भावात्मक–एकता पद का प्रयोग महज़ शाब्दिक अनुवाद ही होगा। इमोशनल के लिए भाव पद का और इण्टिग्रेशन के लिए योग शब्द का प्रयोग शब्द अर्थ एवम् भारतीय सन्दर्भ की दृष्टि से सर्वाधिक अनुकूल बैठता है। अतः हम इसे भावयोग या भावसमन्विति ही कहें तो बात अधिक स्पष्ट हो सकती है। संस्कृत या संस्कृति के सन्दर्भ में भाव शब्द के अनेक तरह से प्रयोग हुए हैं। वह सत्ता का वाचक तो है ही। इसके साथ सत्ता के अनेक रूपों या विवर्तों का भी बोधक है। गीता में कहा गया है कि सत् का अभाव नहीं और असत् का भाव नहीं होता। अतः भाव, सत्ता के मोड़ों का वह रूप है जो आत्मचेतना, मानसचेतना, भूतचेतना आदि सभी को समेट लेता है। वह सत्ता के साथ अपने सम्बन्ध को तो हर हालत में प्रकट करता है। अतः हमारे जितने भी सम्बन्ध हैं वे सभी भावात्मक हैं। मनुष्य का मनुष्य से, पशु से, प्रकृति से, अतिमनुष्य से जो भी सम्बन्ध है वह भावात्मक है। अतः भाव की व्याख्या सृष्टि के सम्बन्धों की व्याख्या है। इस सम्बन्ध को ही भारतीय सन्दर्भ में योग या जुड़ाव कहा गया है जो बिखराव या टकराव से विपरीत चलता है।

मनुष्य को इस योग या जुड़ाव की प्रथम अनुभूति मां के साथ से लेकर अचेत या सचेत रूप में अपने लोगों एवं परिवेश के साथ साथ ही चली आती है। अपने लोग एवम् अपना परिवेश ही अपनापन या भावजगत् है। अतः जो भी बाहरी वस्तुएं हमें प्रभावित करती हैं तथा हमारे अपने वासना, संस्कार एवं सुख–दुख के अनुभव जो हमें बांधे हुए हैं वे सभी भाव हैं। भाव शब्द के इन्हीं अर्थों को लेकर संस्कृत के दार्शनिकों, साहित्यकारों एवम् कलावादियों ने अपनी चेतना को संवारा तथा व्यक्ति का समाज से, समाज का व्यक्ति से, व्यक्ति का व्यक्ति से, राष्ट्र से, देश से, विश्व से सम्बन्ध जीवित किया।

संस्कृत–साहित्य में कुटुम्ब, गोत्र एवम् परिवार ही नहीं बल्कि वृहत्तर परिवार की कल्पना भी वैदिककाल में अपने सम्पूर्ण रूप तक पहुंच चुकी थी। परिवार के विस्तृत रूप को सुगठित करके उसे अन्य परिवारों के साथ एकीकृत करते करते ग्राम–समाज की स्वस्थ धारणा ने जन्म लिया। यह समाज ही राष्ट्र कहलाया। पुनश्च एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के साथ निर्विरोध प्रेम में दीक्षित करते करते "वसुधैव कुटुम्बकम्" का आदर्श जी उठा जिसका अर्थ था कि सम्पूर्ण धरती ही अपना कुटुम्ब है। किन्तु ऋषिमानस यहीं तक नहीं रूक सका। क्योंकि विस्तार की

प्रक्रिया एक बार यथार्थ में शुरू हो जाए तो फिर वह ब्रह्म बन कर ही रहती है। धरती भी छोटी दिखने लगती है। अतः पुराणों तक आते आते भारतीय मानस की भाव–दृष्टि विश्वात्मक हो गई। इस तथ्य को आर्यों के नित्यतर्पण से स्पष्ट किया जा सकता है–

"देवासुरास्तथायक्षानागागन्धर्वराक्षसाः
पिशाचागुह्यकाश्चैव कूष्माण्डास्तरवः खगाः।
जलेचराभूनिलयाः वाय्वाधाराश्च जन्तवः
प्रीतिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः।।

इस तर्पण से देवासुर आदि भूलोक की चेतना के प्रतिनिधि तथा कूष्माण्ड, तरू, और खग आदि चेतनाचेतन विश्वसमुदायों के साथ ही हमारा तादात्म्य नहीं सधा बल्कि जलजीव, धरती के नीचे के जीव, वायु के अन्तराल में रहने वाले जीवों से भी सम्बन्ध स्थापित हो गया। किन्तु अभी भी शेष जो था वह यह कि ब्रह्मा की आद्या रचना से लेकर एक घास के तृण तक जो भी देवर्षि, पितर, मानव, नद, नदियों, समुद्र, सातों द्वीपों के प्राणी तथा काल की दृष्टि से बीते हुए करोड़ों युगों में बैठे हुए मानव तथा आने वाले युग के अनेक कोटि जीवों की शान्ति के लिए नित्य प्रार्थना करने वाले आर्यों के समुदाय ने भावात्मक दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व के साथ अपना ऐक्य स्थापित किया हुआ था। यही कारण था कि भावात्मक ऐक्य के कारण ही आर्यों का मानस मुक्ति जैसे लौकिक एवम् लोकातीत तत्त्व में परिणत होकर ही रहा। मानव–मन के विश्वात्मक एवम् विश्वातीत सम्बन्धों के ये बीज इस पंचनद–प्रदेश में जो वैदिककाल में बोये गए थे, वे अंकुरित होकर सप्तसिन्धु–प्रदेश के जल में से होते हुए पूर्व, पश्चिम एवम् दक्षिणी समुद्रों तक उन धाराओं के साथ चले गए। पुराणों ने वैदिक संस्कृति के पंचनद तक सीमित इन भावों को इस सम्पूर्ण भूखण्ड में व्यापक बनाने का श्रेय लिया।

वैसे इस भू–चेतना के प्रसार की भूमिका का भी बीजारोपण अथर्ववेद में हो चुका था। धरती की मां के रूप में स्थापना, भूदेवी के रूप में तथा श्रीदेवी के रूप में उपासना अथर्वांगिरस लोगों की महती उपलब्धि थी। किन्तु इस उपलब्धि में क्रम–विकास नज़र आता है। पहले पांच नदियों ने ऋषिमानस को इतना अभिभूत किया कि पांच की संख्या, पांच जीवन–स्रोतों में, प्राण की पांच लहरियों में हिलोरें लेने लगीं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में जहां "पंचस्रोतोम्बुपंचयोन्युग्रवक्राम्" का ज़िक्र करते हुए जीवन की सरिता की ओर संकेत किया गया है वहां ऋषियों की नदियों के साथ भावात्मक एकता दर्शनीय है। पांच नदियों के स्रोतों को सरस्वती नामक नदी में समन्वित होते देखकर और एक नदी को पांच स्रोतों में बंटते देखकर ऋषि लोगों को समन्वित होने की प्रेरणा मिलती रही और एक ऐसी मानव–संस्कृति की दृष्टि मिली जिसमें सभी की एक ही पाठशाला, एक ही भोजनशाला, समान यात्रा एवम्

सह–जीवन की बात कहीं गई थी। उन्हीं बातों को लोकमानस में पुनः उतारने के लिए सन्तों ने उपदेश किया।

भावात्मक एकता का जो वर्णन संस्कृत–साहित्य में उपलब्ध होता है वह दो प्रकार का है। एक है उपासनात्मक दूसरा है ज्ञानात्मक। भाव जो एक अस्थायी वृत्ति है उसे उपासना के बल पर दृढ़ करके स्थायिभाव बना लिया जाता है। भारत भर में यह स्थायिभाव नदियों के साथ, पर्वतों के साथ, वन–वृक्ष आदि के साथ, किसी नाम के साथ, नक्षत्रों के साथ, जनजातियों के साथ हजारों वर्षों तक जुड़ा रहा। तभी एक स्थायी संस्कृति का जन्म हुआ। एक इसी प्रकार के सहजीवन का वर्णन विष्णुपुराण में आता है "कि इस प्रदेश में नदियों के किनारे लोग इस प्रकार रहते हैं जिस प्रकार नाना जातियों के पक्षी एवं अन्य अपने अपने स्वरों में इन नदियों एवम् भूक्षेत्रों का स्तवन करते हैं तथा लोक–लोकान्तरों में उड़ने का आनन्द लेते हैं। किन्तु उनका आपस में प्रेम अद्वितीय है। यह सम्पूर्ण भूखण्ड ऐसा बना रहा कि जिसकी स्तुतियां देवतालोग भी गाते रहे और यहां आने के लिए ललचाते रहे। सात समुद्रों वाली इस धरती के अतिपुण्यशील क्षेत्र इस देश में मोक्ष एवम् आनन्द पाने के लिए सप्तद्वीपों के लोग आते रहते हैं।"

इस धरती से प्यार, यहां की प्रकृति से प्यार, यहां के त्यागी तपस्वी महात्माओं के प्रति निष्ठा, शूरवीर एवम् आत्मबलिदानी लोगों के साथ अपना एकीकरण या निरन्तर उन सब की निष्ठापूर्वक उपासना करते रहना, हमारी भावात्मक एकता को बांधे हुए है। प्रेम की अपेक्षा भी संवलित उपासना का अधिक फल इसलिए माना जाता रहा है कि एक श्रद्धेय या उपास्य के करोड़ों उपासक हो सकते हैं। पर केवल प्रेम या आसक्ति में हम अपने प्रिय के किसी अन्य प्रेमी को सहन नहीं कर सकते। अतः भावात्मक एकता का उपासनात्मक मूल है, यह बात यहां प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात रही है।

भावात्मक एकता का संबन्ध ज्ञानात्मक एकता से भी है। हम लोगों ने इस भूखण्ड पर बसते हुए यह बात पहले समझ ली थी कि भाव का अर्थ केवल मनोवृत्ति की उपासनात्मक कोमलता ही नहीं अपितु ज्ञान की प्रौढ़ दशा भी है। उपासना का प्रत्येक ज्ञान या सहज ज्ञान में रूपान्तरण होते चले जाना बड़ा स्वाभाविक है। फिर भाव में ज्ञान और क्रिया की पूर्ण सिद्धि भी मानी गई। मीमांसकों ने भाव को भावना शब्द से संबोधित करते हुए कहा कि किसी भी होने वाली रचना–प्रक्रिया के अनुकूल जो रचनाकार का एक्शन या व्यापार–विशेष है वह भावना है। यही क्रिया जब पूर्ण हो जाती है तो भाव बन जाता है वह स्थायी होता है।

धर्म एक भाव है। यह धर्म एक समझने की, समझाने की या देखने की वस्तु है। जिन्हें इस धर्मतत्त्व का साक्षात्कार हुआ वे चाहे ब्राह्मण, बौद्ध जो भी रहे हों उन्हें

सहजीवन की बात या मिल कर रहने की सब बात समझ में आ गई। यदि हम अपने या मानव के अस्तित्व के प्रति सचेत हैं, यदि हम उसे जीवित रखना चाहते हैं तो उसे समझें। वह सैक्युलर या नॉन–सैक्युलर जैसे आयातित या इम्पोर्टिड शब्दों में गुम कर देने की बात नहीं। यहां धर्म का अर्थ है "रक्षा का सिद्धान्त" या "जीवन का सिद्धान्त"। मनु जब बात करते हैं तो सरल शब्दों में कह देते हैं कि "धर्मो रक्षति रक्षितः"। धर्म का साक्षात्कार कर या उसे जीवन में उतार कर जो व्यक्ति या राष्ट्र चलता है वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि धर्म तो सृष्टि की नियामक सत्ता का रूप है। उसके साक्षात्कार के लिए बड़े से बड़ा बलिदान या त्याग भी धर्म का अंग है। अतः इस भूखण्ड पर सभी मुक्तात्मा–पुरूषों ने धार्मिक एकता का सन्देश देकर भी भावात्मक एकता को ही पुष्ट किया।

भावात्मक एकता को अधिक से अधिक पुष्ट करने के लिए केवल भक्तों या कर्मयोगियों ने ही नहीं अपितु ज्ञानयोगियों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। धरती के जगत् से ऊपर उठकर भी इन लोगों ने धरती के स्पर्श को बहुत महत्त्व दिया। गीता या सुखमणि के स्थितप्रज्ञ और 'ब्रह्मगियानी' की स्थिति यह है कि वह सदा सम रह कर, किसी से भी द्रोह न करता हुआ सभी का बन कर रहता है। वह सभी प्राणियों में एक ऐसे चेतनासूत्र को खोज लेता है जिसमें सभी ब्रह्मसत्ता के भाव ब्रह्म ही प्रतीत होते हैं। तो फिर टकराव या विरोध की बात कहां से आए। इसी से हम जब भी अपनी नयी या पुरानी परम्परा का ध्यान से अवलोकन करते हैं तो कोई भागवत सत्ता का अवतार हो या गुरू, पीर पैगम्बर हो, पुराने अपनी पुरानी आवाज में, नए नई आवाज में आपस में जुड़कर रहने की बात ही कहते आ रहे हैं।

फिर भी उन महात्माओं के अनुयायियों में जो पारस्परिक विरोध फूटता है उसका कारण यह है कि अनुयायी लोग उन लोगों के अनुसार कर्म तो कर नहीं पाते फलतः उनका पल्लू पकड़ कर उन संतों, गुरूओं के चित्रों और शब्दों को बेच कर उन्हें अपनी रोज़ी रोटी का साधन बना लेते हैं। अतः आपसी विरोध का मूल धार्मिक भावना या चिन्तनप्रणाली नहीं अपितु उनका व्यवसायीकरण या बेचने की प्रवृत्ति है। क्योंकि व्यवसाय में प्रतियोगिता होती है और प्रतियोगिता में द्वन्द्व–युद्ध, जिस में सबसे पहले धर्म की ही हत्या की जाती है। अतः किसी भी धर्म या संप्रदाय के अनुयायियों को जब तक उपासना कर्म और ज्ञान अर्थात् भावना के इन तीन रूपों को एक साथ समन्वित कर समझने की आदत नहीं पड़ती तब तक धर्म के नाम पर अधर्म, प्रेम के नाम पर घृणा, ज्ञान के नाम पर जड़ता का प्रचार और प्रसार होता रहेगा। गुरू या सन्त ने जब भी कुछ कहा है उसे ठीक समझने वालों की संख्या सबसे कम होती है। क्योंकि अनुयायी गुरू की बात को अपने सांचे में फिट करने के चक्कर में होता है। स्वयं उसके पास तो रचनात्मकता होती नहीं। अतः वह गुरू या संत की रचनाधर्मिता को फौरन् आयातित करके एक्सपोर्ट–इम्पोर्ट शुरू कर देता है।

फलतः भावात्मक एकता का विघटन शुरू हो जाता है।

अतः हमें इस दिशा में दो बातों को स्पष्ट कर चलना होगा। एक तो भाव शब्द के सही अर्थ को समझकर इस राष्ट्र की समूची हार्दिक बौद्धिक और क्रियात्मक शक्तियों को अग्रसर करने वाले साहित्यिक, दर्शन–कला और सांस्कृतिक इतिहास को प्रोत्साहित करना होगा। दूसरे इन समस्त शक्तियों का विनियोग व्यावसायिकता में न होकर जीवन की सर्जनशीलता में होना चाहिए। क्योंकि सृष्टि का अस्तित्व ही भावमूलक है। इसीलिए वह प्रेममूलक, ज्ञानमूलक एवं धर्ममूलक है। अतः भावना के इन तीनों रूपों को एक सूत्र में पिरोने से ही भावात्मक एकता सिद्ध होगी, जिसका मूल मन्त्र होगा

(तू बराए वस्ल करदन आमदी
ना बराए फ़स्ल करदन आमदी।।)

अर्थात् तुम सृष्टि में मिलन की भूमिका निभाने आए हो विच्छेद की नहीं।

इस सारे अध्ययन से भावात्मक एकता के जो रूप हमारे सामने आते हैं वे परिवार से शुरू होकर ग्रामसमाज, राष्ट्र में से गुज़रते हुए ब्रह्माण्ड–पर्यन्त संचार करते हुए आते हैं। हमारे इस समय में यदि राष्ट्रीय संकट या टूटते हुए परिवारों का संकट है तो उससे उबरने का उपाय भावात्मक ऐक्य ही है। जिसका अभिप्राय होगा भाव के स्तर पर अपने को और अपने परिवेश को समझा जाए और स्वीकारा जाए। इस समझ के लिए कुछ एक बिन्दुओं की कल्पना को ठोस रूप दिया जाए। जैसे कि भौगोलिक विषमताओं की नहीं समानताओं की या सहधर्मिता और सहचार की खोज की जाए। इस भूखण्ड पर उगने वाले चल–अचल जीवन की मिट्टी के समान तत्त्वों को ढूंढा जाए। वैषम्य खोजने वाली दृष्टि को समरसता में रूपान्तरित किया जाए ताकि वह राष्ट्र–चेतना बन जाए और सभी प्रान्तों की भूमि, सभी समुदायों या जातियों के मत एवम् विश्वास, सभी वर्गों के सुख दुख मेरे मैं की चेतना में सूत्रित हो जाएं। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। अर्थात् जैसे अनेक मणियों का समूह एक धागे में पिरोया रहता है वैसे ही सभी की अहं–चेतना का सूत्र मुझ में ही पिरोया हुआ है।

कृषि–दर्शन

भारतीय जीवन–दृष्टि का एक अपना वैशिष्ट्य रहा कि उसने अपने भौतिक या ऐहिक अस्तित्व को सदा के लिए अनन्तयता के साथ जोड़ दिया। जब कोई सामान्य हिन्दू भी दान करते समय हाथ में जल लेकर अपने संकल्प को एकत्रित कर ठोस या क्रियान्वित रूप देने लगता है तो संकल्प का प्रयोजन एक ही होता है–''कि मैं अपने धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि की सिद्धिपूर्वक या ऐहिक (यानि इस लोक के) और आमुष्मिक (दूसरे लोक के) फल की प्राप्ति के लिए दान, पुण्य, जप साधन कर्म करने जा रहा हूं।"

फल का विभाजन यद्यपि चार भागों में किया गया तो भी यह सबको पता था कि फल मूलतः एक ही है, और वह सबको मिलना चाहिए। धर्म, अर्थ और काम वास्तव में फल हो नहीं सकते। क्योंकि ये तीनों तो आनन्द रूप या मोक्षरूप फल के साधन हैं। अतः धर्म अर्थ और काम तक की प्राप्ति को तो ऐहिक या लौकिक और मोक्ष या आनन्द को आमुष्मिक, अलौकिक या पारलौकिक कहा गया। पर इस अलौकिकता को कहीं बाहर या लोकान्तर में जाकर नहीं, बल्कि यहीं, इसी भूखण्ड में विशेषतः भारत में ही खोजना है। क्योंकि जो सर्वत्र है वह यहां भी है। अतः पुरानी कहावत "अर्के चेन्मधु विन्देत् किमर्थं पर्वतं व्रजेत्" कि मधु या शहद घर के पास ही मिल जाए तो पर्वत की ओर किसलिए भागें'' के अनुसार लोगों ने इस मधु या आनन्द के लिए बाहर मण्डियों की ओर नहीं, लूटपाट के लिए नहीं अपने पांवों तले की धरती का कोना कोना, अणु परमाणु छान मारा। और उन्हें जो मधु मिला उसकी भौतिक स्तर पर अभिव्यक्ति इस रूप में हुई कि

अकृष्टपच्यापृथिवी सिद्ध्यन्त्यन्नानि चिन्तया
सर्वकामदुघाः गावः पुटके पुटके मधु।।

यानि धरती जब बिना हल जोते अन्न देती हो, जब भूख का विचार आते ही भोज्य अन्न सामने बहुल हों, समस्त कामनाओं की पूर्ति में जब गोधन सहायक हो, और हर पत्रों पुष्पों की कटोरियों में मधु छलकता हो तो उन्होंने इसी देह–चेतना के लोक के कर्षण या कृषि का काम आरम्भ किया। इसी चेतना के कर्षण या कृषि का नाम ही हिन्दुओं के सोलह संस्कार बन उठे! भूमि और चेतना के स्तर पर कृषि करने की बात ऋषियों ने भी कही कि भाई ''अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व'' अर्थात् जीवन को 'लाटरीसिस्टम' मत समझो। कृषि करो।'' बुद्ध ने भिक्षा मांगते समय एक कृषक को उपदेश दिया कि भाई! जैसे तुम धरती का संस्कार, मार्जन कर्षण, तर्पण करके उसमें से अन्न उगाते हो वैसे ही मैं भी तप के संसाधनों से चेतना की धरती का

संस्कार करके फल उत्पादन करता हूं।'

अतः कृषि के सन्दर्भ में उठी इस संस्कृति के कारण ही यह देश आज की उद्योगीकरण की स्पर्धा में भी कृषि–प्रधान है। यद्यपि मार्क्सवादी विचारक मानव–अर्थव्यवस्था का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सभ्यता के विकास के चार चरणों में से कृषि तीसरा चरण है। अर्थात् सर्वप्रथम मनुष्य मृगया या शिकार पर और अपनी अर्थव्यवस्था चला रहा था, फिर पशु–पालन पर चलाने लगा, फिर कृषि पर, अब उद्योग धंधों पर चला रहा है या चलाएगा। पर मैं समझता हूं कि मार्क्स के व्याख्याता एंगेल्स को यह पता था कि इन चारों अवस्थाओं को खण्डित करके देखने का अर्थ लोकदृष्टि को ही खण्डित करना है। क्या उद्योग धन्धों वाली सभ्यता में लोग अन्न नहीं उगाएंगे, या अन्न खाना छोड़ देंगें। खेती के औजारों का विकास तो देश और काल के भेद से सदा ही होता रहा है। ट्रैक्टर से खेती करने का अर्थ कृषि–सभ्यता का लोप नहीं। सभ्यता के चारों चरण गौण–प्रधानभाव से आगे पीछे होते रहेंगे। लेकिन चारों को उत्तरोत्तर क्रम में न मानकर एक साथ मानना पड़ता है।

अथर्ववेद के 12 काण्ड में पृथ्वीसूक्त पढ़ जाइए। आपको उन समस्त भावनाओं का विकसित रूप मिल जाएगा जिन्हें हम आज भी पाना चाहते हैं। इस एक ही छन्द वाले मन्त्रों के सूक्त में पृथिवी की आध्यात्मिक और भौतिक समृद्धि एवम् उपयोगिता का ऋषियों को कितना ज्ञान था, आपको पता चल जाएगा। जहां एक ओर पृथिवी के प्रति ममता या आदरपूर्ण मातृदृष्टि है, वह केवल भावुकता–मात्र नहीं। उसमें लोगों को पृथ्वी के परिवेश का और पृथ्वी के भीतर बाहर की सम्पूर्ण गरिमा का बोध है। उनकी ममता या श्रद्धा बोध–जन्य है। अन्ध नहीं। इस सूक्त में पृथ्वी को कामदुघा, पयस्वती, सुरभिः धेनु आदि पदों द्वारा जिस सन्दर्भ में कहा गया है, वह महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि भारतीय दृष्टि में गौ या धेनु का अर्थ कोरा पशुविशेष नहीं रहा। उसके अनेक आयाम हैं। इस बहुआयामी शब्द को एक ऐसी चाबी माना गया है जो भूतदर्शन तक के सभी तालों को खोल देता है। श्रीदेवी, वाक् देवी, भूदेवी, माता, गतिशील प्रेरक शक्ति, ज्ञान–शक्ति और पशुविशेष आदि सभी अर्थ इस शब्द के कल्पित आदिकाल से आज तक रहे हैं। लेकिन एक बात निश्चित है कि भूमि का गाय के साथ सम्बन्ध जिस दिन भी मनुष्य को स्पष्ट हुआ तभी गोप–संस्कृति और कृषि– संस्कृति का उद्भव और विकास हुआ। दोनों एक दूसरे की प्रतिच्छाया बन कर बढ़ती चली आईं। दोनों में मानवीय परिश्रम के साथ दया,ममता, स्नेह, सौख्य और आनन्द को जोड़ दिया गया। जिस की चरम सार्थकता कर्षण अर्थवाची कृष्ण के साथ गोप, गोपी, गोधुन के जुड़ जाने से हुई। गाय इस संस्कृति में अपनी ममता, वात्सल्य, उपयोगिता अनुकूलता, ऋतधारकता, शुचिता के कारण सर्वोपरि प्रतिष्ठित हुई। वह धर्मरूपता बनी। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, उसके

चार स्तन बने। जिनकी अजस्रधारा से लोकजीवन आप्यायित हुआ। नर–वृषभ के रूप में उसको शिव एवम् मंगल का निकटतम संगी, एवम् देवमाता अदिति के रूप में प्रतिष्ठित गौ का कृष्ण के साथ नित्य सम्बन्ध हो गया। यहां तक कि कृष्ण की वंशी के स्वर उसके लिए उमड़ते रहे। मिट्टी, पत्थर और लावाओं का पुंज इस आदिम पृथ्वी से जब मानव ने मनोवांछित फल पाने का आग्रह किया वह गाय के रूप में ही प्रकट हुई। ऊबड खाबड़ संकुचित पृथ्वी को विस्तार देने वाले राजा पृथु ने उसका दोहन किया। लेकिन यह पौराणिक उपाख्यान एक संकेत अवश्य करता है कि पृथु राजा धरती के पहले किसान रहे होंगे जिन्होंने कृषि–दर्शन को जन्म दिया। और पृथु या विष्णु–चेतना मानव का वह अंश है जिसका आरम्भ से ही पृथ्वी, गाय और कृषि से सम्बन्ध रहा है। पुराणों में पृथु को विष्णु का अवतार कहा गया है। इसके आगे के सभी राजन्य या क्षत्रिय कृषि से सम्बन्ध जोड़े रहे। कृषक जिसे पहले का कर्षण या जोतने के कारण भूमि का पति कहा जा रहा था, उसके फल के उत्पादक पक्ष को ध्यान में रखकर उसे जनक कहा जाने लगा। वह सीरध्वज हुआ। उसके ध्वज पर हल सा सीर का चिन्ह लगा था। उसने इस सीर को धरती पर चलाकर पुत्री के रूप में जिस चेतना को जन्म दिया उसने मानवीय आदर्श के चरम रूप राम का वरण करके संपूर्ण चेतना को इतना उर्वर बना दिया, कि वाल्मीकि से तुलसी तक के भारतीय मानस को धरती पर रहते ही दिव्य–दृष्टि मिल गई। तपस्या, सहिष्णुता, धर्म, आत्म–विमोचन और आत्मविलोपन, जैसे उदात्त तत्त्वों से सारा भारतीय मानस आप्लावित हो उठा। कृषि–संस्कृति की उपज वह सीता राजगृह में जाकर भी निर्वासित तपोमूर्ति बनी रही। अग्निपरीक्षा में वह सदा एक सौ एक प्रतिशत शुद्ध उतरी। रावण उसे छू नहीं सकेगा। लेकिन राम की उपेक्षा, अपनों की उपेक्षा उसे सहन नहीं होगी। वह जहां से उठी थी वहीं समा जाएगी।

ब्राह्मण, राजन्य, विश् और शूद्र इन सभी ने कृषि को जीवन का अभिन्न अंग मानकर उसे अपने ज्ञान और कर्म का आधार बनाया। वैदिकों का यज्ञभाव, सारा कर्मकाण्ड, उपनिषदों का ज्ञान, सभी कृषि–दर्शन की उपज हैं, यह बात भारतीय विद्याओं के मर्मज्ञ विद्वानों को आज भी पता है। उन्हें पहले भी पता था कि प्रकृति में तो जो कुछ हो रहा है, वह सब तो स्वयंचालित ढंग से हो रहा है। उन्हें जो स्वयं कुछ करना है, वह सीखना है। वह सब तो धरती पर ही करना और समझना है। अतः धरती को माता और स्वयं को पुत्र तो उसने वेदकाल में पृथिवीसूक्त द्वारा घोषित कर दिया था। क्योंकि उसे पता लग ही चुका था, कि यह धरती ही मानव–चेतना के लिए ऐहिक और पारमार्थिक सुखसमुदाय की जनयित्री है। अतः इसी को उसने पुरूष–सूक्त में विराट् पुरूष की दो पत्नियों में से एक को श्रीदेवी कहा। दूसरी पत्नी जो शेष समग्र ब्रह्माण्ड को चला रही है उन्हें लक्ष्मी कहा गया। उन्हें चल माना गया। अथर्ववेद का श्रीसूक्त इसी अचला श्री की स्तुति में कहा गया है। बाद में

लक्ष्मी का समावेश भी इन्हीं में हो गया। क्योंकि विराट्पुरूष की इन दोनों पत्नियों में सौतिनों वाली कोई बात नहीं रही। लोगों को ज्यों ज्यों धरती से भिन्न लोकों के साथ इस भूलोक का सम्बन्ध स्पष्ट होता गया श्री–लक्ष्मी का भेद कम होता गया। इसी श्रीदेवी को जब नाना प्रकार की कृषि के साथ जोड़ा गया तो भगवती के शाकम्भरी, अन्नपूर्णा आदि देवीरूपों का पौराणिकों में प्रचलन हुआ। स्त्रीमात्र को धरती का अवतार माना गया। न केवल क्षमा, ममता, प्रेम के कारण अपितु मनुष्य के कामतत्व में भी सुशिक्षित एवम् प्रजनन–फल के कारण, मानव मात्र की ज्ञान–चेतना और क्रिया–चेतना को उज्जीवित करने के कारण उसे भूदेवी, श्रीदेवी का अवतार माना। इसी ने जननी और जन्मभूमि को एक साथ स्वर्ग से भी गरीयसी मानने की राम की प्रेरणा को जन्म दिया। और गौतम सिद्धार्थ बुद्ध हो जाने पर भी भूमिस्पर्शमुद्रा में अंगुलि से भूमि की ओर संकेत करते हुए ही समाधिस्थ रहे।

भू का और स्त्री का ही कर्षण होता है। कर्षण उसका संस्कार है। उसका शृंगार है। प्राकृतिक सौन्दर्य में जब अप्राकृत दिव्य सौन्दर्य की झलक आने लगती है तो वहां देव–भाव यानि द्युति या प्रकाश को देखकर देवता की स्थापना हो जाती है। यानि प्रकृति के प्राणों में उतरे या संचारित हो रहे अप्राकृत तत्त्व का नाम ही देवता है। कर्षण या संस्कार से उस वस्तु या व्यक्ति की योग्यताओं को रोक रखने वाली प्रतिबन्धक शक्तियों को खींच कर अलग कर दिया तो देवत्व आ गया। अग्नि को देवता मानने वाले पण्डित आज हवन करने से पूर्व वेदिका में स्थण्डिल या छोटा सा चबूतरा मिट्टी का ही बनाते हैं। जो भूमि या क्षेत्र का ही लघु प्रतीक है। उस पर ब्राह्मण हल या कुदाल के प्रतीक स्रुव से मिट्टी में तीन गहरी लम्बी रेखाएं खींचता है जो जोतने का प्रतीक हैं। लेकिन इससे पहले और पीछे वह जल आदि के द्वारा जोतने से पहले पीछे की उन क्रियाओं को भी करता है जिन्हें स्वच्छता या शुद्धि संस्कार कहते हैं। प्रतीकात्मक तीन रेखा खींचने के बाद पण्डित तीन बार ही तीन अंगुलियों से मिट्टी को ऊपर आकाश की ओर उछालता है और फिर सदा ऊपर की ही ओर उठने वाले अग्नि के बीजों को बो देता है। फिर पृथ्वी से ही उत्पन्न घृत आदि भोज्य हवि के द्वारा उस आग को पुष्ट करता जाता है लेकिन मन्त्र के साथ। मन्त्र, जो कि चेतना का प्रतीक है, वह टूटा नहीं कि सारा यज्ञ– कर्म होते हुए भी शव की तरह अस्पृश्य एवम् अशुचि हो जाएगा। अतः यज्ञ का अर्थ ही सचेतन क्रिया या कर्म निकलता है। अग्नि की वेदिका के चारों ओर तीन वेद, तीन अग्नियां, तीन देव, आदि त्रिगुण सृष्टि के विकास का आदिप्रतीक पवित्र त्रिमुखी कुशग्रास क्रम से विछा दिया जाता है। यह सब समझने के लिए कुशाग्रबुद्धि या कुशल होना अनिवार्य था।

धरती की सृष्टि दो प्रकार की है। एक वह है जो शव की तरह निष्प्राण लेटी है। दूसरी वह, जो उसमें से उठकर भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् लोकों को देख आना चाहती है। द्यौ पिता सूर्य के माध्यम से रविकिरणों एवम् चन्द्रकिरणों द्वारा

अपना स्नेह भूमि पर हर समय उंडेल रहा है। भूलोक की प्रतिनिधि चेतना रचना ज्ञान एवम् कर्म के गुरू प्रतीक अग्नि, जिसकी पहुंच सभी लोकों में है, उसके माध्यम से हम अपना श्रद्धाजल भेज देते हैं। उसी को हमने पुरोहित माना। उसी ने हमें वीहड़ जंगलों में भयंकर डायनासोरों, हिंस्र श्वापदों एवम् मृत्युवाहक रोगों और प्राकृत विपदाओं से छूटने में सहायता देकर कृषि द्वारा पोषित व्यवस्थित सभ्यता को अग्रसर करने में हमारा मार्ग प्रशस्त किया है। वह हमारा गुरू है, पुरोहित है, वैद्य है सदा मित्र है। उसी ने हमारे लिए ज्ञान और कर्म के द्वार खोल दिए। उसको साथ लेकर हम जिन सूचीभेद्य अंधेरों में घुस गए वहीं से सुख–सौन्दर्य और श्री लेकर लौटे। उसने हमारा सब जगह साथ दिया। वह हमारा समानधर्मा है। कृषि यदि संघर्ष का प्रतीक है तो पृथ्वी के पत्थरों, धातुओं और वृक्षों के संघर्षण से ही अग्नि भी जन्म लेता है। और एक बड़ा सीधा सादा तर्क लोगों के पास रहा कि चूंकि प्रकाश में आना और सदा ऊपर की ओर उठना या संरचण करना यह, अग्नि में ही पाया जाता है, अतः अन्धकार एवम् संवेदना में आने वाले तथा नीचे से ऊपर की ओर उगने वाले सभी तृण, तरू, वनस्पति, पौदों, बीजों में,अंकुरों में, शाखाओं में फूलों में भी अग्नि ही विशिष्ट रूप धारण कर गतिशील है। मनुष्य के मन प्राण में भी जब ऊर्ध्व–संचार या आत्मप्रकाश आता है तो उसके लिए भी एक और तरह का अग्नि ही जिम्मेवार है। अतः यह सारी धरती और उसकी सन्तानें सभी अग्निगर्भा हैं। उस अग्नि को उद्दीप्त या जाग्रत् होने के लिए जिस प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है वह धरती पर कृषि, यज्ञ में संस्कार और उपासना तथा चेतना के स्तर पर ज्ञानयोग है। चेतना इन तीनों स्तरों पर एक होने पर भी कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग को पृथक् मानकर लोगों ने झगड़ने का बहुत यत्न किया, किंतु मूल वेद के साथ रहने के कारण लोग अधिक नहीं झगड़ पाए।

अग्नि का एक और महात्वपूर्ण पक्ष यह था कि वस्तुसृष्टि के कच्चे मलों को दग्ध कर उन्हें उपयोगी खाद में बदल डालना, तटस्थभाव से, अधिकारी–अनधिकारी सत् की परीक्षा करना तथा क्रिया और चिन्तन को एक करना। क्योंकि अग्नि जिस भी काष्ठ आदि द्रव्य या आधार में रहता है उसको अपने में आत्मसात् किए बिना रहता नहीं। अतः विचार और आधार के एकीकरण की दिशा उसी ने दी। ज्ञान भी जब अग्नि बनता है तो व्यक्तित्व के खण्डों को गला ढला कर एक बना देता है। गीता में इसी से ज्ञानाग्नि से सभी कर्मों के दग्ध होने की बात है। अतः जीवन में समन्वय–योग और समर्पण–योग की दीक्षा भी हमें अग्नि से प्राप्त हुई।

अतः आर्य सभ्यता और संस्कृति में कोई भेद नहीं। संस्कृति ही सब कुछ है। सभ्यता उसका अलंकार हो तो हो। अग्नि– विज्ञान की उपासना के कारण ही आर्यों को अभेद या अद्वैत का लाभ हुआ। आज भी हमें भारतीय जीवन की दृष्टि की गरिमा को यदि पहचानना हो तो भूमि, गौ और अग्नि के त्रिकोण में क्रियारत कृषक को

ध्यानरत देख लीजिए। लेकिन पहले का कृषक न भूमि बेचता था, न गाय, न अग्नि। आज उसने तीनों को ही बेच दिया है। आज उसके पास पैसे हैं ट्रैक्टर हैं, मण्डियां हैं। इन सबके बल पर उसे वह क्यों मिलेगा जिसके लिए वह यह सब करता आया है। पहले उसका शोषण तब शुरु हुआ जब तथाकथित बड़े लोगों ने कृषि को त्याग कर कृषि–प्रतीकों के बल पर जीना शुरू किया। फिर भूस्वामी और सामन्त तथा ब्रिटिश शासन ने मिलकर अपने कृषक का गला दबोचकर कृत्रिम सभ्यता को अपनाकर उसका उत्पीड़न किया। अब वह पूंजीवादी सभ्यता की अर्थव्यवस्था में संशयग्रस्त है।

समष्टि–दर्शनम्

विस्तार तब अभिशाप बनता है जब वह बिखराव बन जाता है। जिसके मन में जो आया वैसा कर दिया। फिर उसके परिणामस्वरूप जिस कलह और अन्तर्द्वन्द्व का जन्म होता है वह लोगों के व्यवहार और आचरण में जैसे जैसे उतरने लगता है वैसे वैसे आनन्द की अवस्था एवम् चेतना पर आवरण चढ़ने लग जाता है। जीवन का उपभोग आनन्द या समरसता के लिए न होकर इन्द्रियों की अतृप्ति एवम् मानसिक अपचिन्तन के लिए काम करने लगता है। फलतः सुखप्राप्ति का संकल्प व्यसन बन कर रह जाता है जिससे व्यक्ति और समाज अन्दर से दरारें खा जाते हैं और आए दिन मुरम्मत करवाकर ऊपर से जोड़ने और टूटने की प्रक्रिया का अबाध दुश्चक्र चल पड़ता है। परिस्थितियों से पैदा हुई विवशता ही खण्डित व्यक्तियों को जोड़ने का एकमात्र प्रयास करती रहती है। सहज मानव–धर्म की भूमिका नगण्य हो जाती है। सहज मानव–धर्म उस समय भी व्यक्ति और समाज को खण्डित होने से बचाता है जब शत्रुओं के आक्रमण न भी हो रहे हों। तीसरी या चौथी ईस्वी शताब्दी पूर्व का भारत राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा से ग्रस्त होकर लूटपाट करने वाले आक्रान्ताओं के आने से पूर्व इस सहज धर्म को ही यथाशक्ति जीने का प्रयास कर रहा था। आक्रमणों के बढ़ते दबाव के कारण धीरे–धीरे वह खण्डित होता चला गया। सहज धर्म का पालन बृहत्तर समाज में न रहकर यत्र तत्र खण्डित समुदायों का दायित्व बन गया। समान मन, सम्मिलित परिश्रम और सादगी यह कृषि–प्रधान संस्कृति के सहज गुण थे। वहां समष्टि–मानस से खण्डित हुए बगैर व्यष्टि–मानस तरंगित हो सकता था।

आदमी आदमी से टूटे बिना अपना जीवन जी सके, इसी अखण्डता का नाम समष्टि है। 'लोग निर्विरोध भाव से अपनी रचनाशक्ति के बल पर आत्मप्रकाशन कर सकें' इस संकल्पना के साथ लोक की यात्रा का निर्वाह सामाजिकता को जन्म देता है जिसमें व्यक्ति अपने स्वार्थों की पूर्ति इसलिए करता है कि वह अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण कर सके। इस अतिक्रमण के बिना सुख की सामाजिक संकल्पना न पूंजीवादी मानसिकता से संभव है, न मार्क्सवादी और न ही मिथ्या धर्माचरण से संभव है। जिन देशों में पाखण्ड–धार्मिकता के उन्माद ने ज्ञान के विरुद्ध विषवमन ही निरन्तर किया था, जिससे उत्पीड़ित वहां के तत्त्वज्ञानियों ने अपने तप के बल पर किए तत्त्वानुसन्धान के बल पर, जिस ऊर्जा को विज्ञान–ज्ञान के रूप में जन्म दिया था उसने वहां की अन्ध–धार्मिकता की जड़ें तो हिला दीं किन्तु स्वयम् को वहां की व्यापारी मानसिकता के हाथों बेच दिया। परिणामतः एक महती

आर्थिक शक्ति का उदय हुआ जिसने सारे विश्व को अपने अधिकार में ले लेने के चक्कर में व्यक्तित्व के अतिक्रमण की बात को दरकिनार करके व्यक्तिवाद को ही नए सामन्तवाद, पूंजीवाद एवम् समाजवाद के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। एक ऐसी सामाजिकता का निर्माण हुआ जो ऊपर से समष्टि–चेतना का आभास तो दे किंतु भीतर से खण्डित–मात्र ही नहीं, खण्ड खण्ड हो।

कोरी भोगपरायणता या प्रतियोगितावादी प्रेरणाएं मानव–मन को एक दूसरे से थोड़ी देर के लिए जोड़ती हैं और परिणाम में कामनाओं का उन्माद पैदा कर देती हैं। कृषि–प्रधान संस्कृति क्योंकि मध्यमवर्गी है अतः वह भोग को योग से अन्वित कर देती है। जिसका अर्थ होता है कि भोग तो निरन्तर रहे, लेकिन वितरण के साथ जुड़कर व्यक्ति के व्यक्तित्व को पैदा करके उसका अतिक्रमण भी सहजभाव से सिखा दे। किन्तु होता यह है कि डार्विन जैसा व्यक्ति जब एक दृष्टि देता है कि 'योग्य जन जीता है' या 'जीवो जीवस्य भक्षणम्' तो सामान्य व्यक्ति इस 'मन्त्रवाक्य' को किताबों में पुनःपुनः मनन कर इसी की वकालत करने में सारा जीवन व्यतीत कर देता है। इस अमन्त्र का अतिक्रमण करके 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' (अर्थात् आपने जो संचित किया है वह पूर्णतः आपका हो ही नहीं सकता अतः उसे बांटकर भोगो या उसे छोड़ने की हिम्मत को भी मरने मत दो। अन्यथा लूटपाट और विशृंखलता लोक–जीवन को खण्ड खण्ड कर देगी) के भाव के साथ साधारण आदमी जुड़ ही नहीं पाता।

साधारण आदमी के लिए निरन्तर मूल्य बदलती जीवन–पद्धति के बीच में जी पाना बहुत कठिन है। अतः वह या तो उसकी उपेक्षा करता है या फिर पुरातन जीवन–पद्धति का ही जो विकृत रूप है उसी को पकड़ लेता है। मानसिकता के स्तर पर औसत भारतीय का मन व्यामोह की स्थिति में चला गया है। जब वह बुद्धिजीवियों को इस व्यामोह का कारण पूछता है तो उसे ऐसे बेबुनियाद तर्क पकड़ा दिए जाते हैं जिनको वह यथार्थ के प्रकाश में देखता है तो स्तब्ध रह जाता है। क्योंकि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अपनाए गए हर तरह के हथकंडे या छल युक्तियां मिथ्या–आभास के रूप में निकल कर सामने आती हैं। अपने आचार का या अपना सामना करने से हर कोई कतराता है। फलतः कभी जातिवाद, कभी मनुवाद, कभी सांप्रदायिकता के नाम पर दलितवाद, अन्धधार्मिकता आदि आदि को दोष देकर इस बात को दृष्टि से ओझल कर दिया जाता है कि ये सारे मानवीय विकृतियों के रूप एक ऐसी पूंजीवादी मानसिकता के प्रकार हैं जो अर्थहीन उपभोग को जन्म देकर प्राणिमात्र के जीवन को सन्दर्भहीन करते जाते हैं। अंतः ऐसा प्रतीत होने लगता है कि पुरानी सारी लुप्त हो चुकी मान्यताओं एवम् मर्यादाओं के नाम पर गाली–गलौच करके मिथ्या आत्मशान्ति का मार्ग खोल लिया जाता है। स्वयम् का चेहरा देखने से उबकाई आ सकती है।

अतः समस्या व्यक्तिमात्र की या वर्गविशेष या समुदाय–विशेष की नहीं अपितु संपूर्ण भारतीयता अपने सन्दर्भ की तलाश में भटकने लगी है। वर्तमान की

उपलब्धियां अवश्य बड़ी होंगी। पर क्या कारण है कि बड़े बड़े इस देश के अर्थशास्त्रियों के रहते हुए भी उड़ीसा जैसे क्षेत्रों के साथ राष्ट्र के बहुतेरे क्षेत्रों में लोग रोटी–मात्र के दर्शन के लिए तरसते हैं। इतने बड़े कूटनीतिज्ञों की ठेकेदारी के बावजूद आये दिन राष्ट्र की अमूल्य निधि सैनिक या असैनिक नागरिक या ग्रामवासी असमय में ही मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। अकाल–मृत्यु हमारे राष्ट्रीय जीवन का कलंक बन गया है।

समष्टि–चिन्तन का अभिप्राय ही एक है कि समष्टि के मानी है राष्ट्र का सन्दर्भ। पुराने लोग वन को समष्टि कहते थे और पेड़ को व्यष्टि। वन और वृक्ष के सम्बन्ध को समझना ही समष्टि–चेतना का विकास है एवम् लोकमानस का निर्माण है। एक समय वह था जब हम लोग अपने वनों और वृक्षों को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते थे। संस्कृत के आरण्यक ग्रन्थों का सन्दर्भ ही वन था। आरण्यक का सार ही हमारा उपनिषद् साहित्य है। समाज की आश्रम–व्यवस्था में वानप्रस्थी होने का गौरव इस बात में था कि हम वन में मुनिवृत्ति को सचमुच में जीकर अनुभव करना चाहते थे। यह मुनिवृत्ति वैदिक मार्गानुयायियों से ही अनुबन्धित नहीं थी। बुद्ध को यदि शाक्यमुनि कहा जाता था तो महावीर को जैन मुनि। कारण यही रहा कि भारत में वन में जाना या रहना आज की तरह 'जंगली' 'वाइल्ड' या असभ्य 'वहशीपन' के अर्थ में कभी प्रयुक्त नहीं हुआ। क्योंकि वह तो भारतीय मानस का सन्दर्भ था जिसके रहते हुए हमें बिना उपदेश के सह–जीवन का दर्शन, हिंसा और अहिंसा की तत्त्वदृष्टि सहज में समझ आ जाती थी।

आज यदि वन हमारा सन्दर्भ है तो वह सब ओर से वनों के दोहन का है। इस दोहन की व्यक्तिनिष्ठ निष्ठुरता को तोड़कर यदि हम अपने मानस में 'निष्क्रय–भाव' की चेतना को अपने नैतिक बोध में जोड़ लें तो बड़ी समस्याओं का समाधान हो सकेगा। निष्क्रय का अर्थ केवल इतना ही है कि मनुष्य की इस विषय में जागरूकता हो कि उसने समाज या लोक से जो लिया उसका मूल्य अदा किया या नहीं? लेते रहने का जो ऋण उसके बोध पर हावी हो गया है उससे उसे उर्ऋण या मुक्त होना है या नहीं? यदि होना है तो अपने से अधिक दूसरों के विषय में निष्ठापूर्वक सोचना होगा। इसका अर्थ उस नैतिकता का विकास है जिसमें इस बात का महत्व हो ही जायेगा कि मैंने जिससे जितना लिया बदले में उसको कुछ और अधिक सद्भाव से दे दिया। किंतु इस मानसिकता का चरम विकास तो वहां है जहां आप को लेना ही नहीं, केवल देना है। महाभारतकार ने इस सरल संवेदना को समष्टि के हित से जोड़ते हुए भारत–मूल के लोगों से कहा था कि यदि उपकार करने वाले पर आपने भी बदले में उपकार कर दिया तो यह कोई विशेष बात नहीं। अपितु जिन्होंने अज्ञानवश आपका कभी अपकार भी किया है उनको भी उपकृत कर देना ही श्रेष्ठ जीवन–पद्धति है जिसमें व्यक्ति अपनी गुणवत्ता पर से भी अपना अधिकार हटाकर

उसका लोकार्पण करते हैं। इस लोकार्पण की चेतना का विकास ही 'समष्टि' का एक संस्थागत ध्येय है और इसी में समष्टि नाम की सार्थकता भी।

संस्कृत भाषा में जब कोई शब्द या नाम पढा जाता है या रखा जाता है तो वह कोई कामचलाऊ ध्वनिमात्र नहीं होता। अपितु उसका सामर्थ्य किसी पदार्थ को उसके गुण या क्रिया के आधार पर, उसके स्वरूप को प्रस्तुत करने का होता है। वह केवल वचनमात्र या संकेत नहीं होता। शब्द के उसके अपने अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध को जांच परखकर, तथा सुनिश्चित करके ही वाणी का प्रयोग अग्रसर होता है। शब्द पदार्थों के बाहरी स्थूल रूपों को और मानवबुद्धि में प्रतिबिम्बित विचारात्मक सूक्ष्म अर्थों को एक साथ प्रकट करता है। अतः समष्टि, इस नामकरण के पीछे जो सार्थकता है उसका सम्बन्ध भारतीय मानस का समस्त के साथ जो नित्य सम्बन्ध है, उसे प्रकट करने का है। उसका लक्ष्य कहीं भी अंग्रेजी घोल में संस्कृत का थोड़ा–सा नमक या मसाला डालने का नहीं है। भाषणों में 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' या फिर 'सरबत का भला' जैसे जुमले डालकर उन्हें चटपटा बनाने का भी नहीं है। न ही अधकचरी मानसिकता को समाज के बिगड़े हाजमें में बलात् प्रक्षिप्त करने का है। समष्टि पद का प्रयोग केवल उस चेतना को जगाने का है जो क्षुद्र मानसिकता के बन्धनों को काटकर, अथवा निहित स्वार्थों के बढ़ते अन्धकार में से किसी एक व्यक्ति को, उसका समस्त के साथ जो संबन्ध है, उसके साथ यथार्थ परिचय पाने या लेने में सहायता कर दे ताकि हमारे समष्टि मन में फिर से यह बात जागृत हो कि तुम जिसे क्षुद्र समझते हो वह क्षुद्र नहीं है। वह तो विश्वात्मक समष्टि का प्रतिबिम्ब मात्र है प्रतिनिधि है –

तुमि जानो क्षुद्र जाहा क्षुद्र ताहा नाय
सत्य जे था किछु थाके विश्व सेथा रय।

हमने अपने राष्ट्रगान में भारत के पंजाब सिन्ध गुजरात मराठा आदि प्रान्तों को प्रदेश के रूप में तो मान लिया किन्तु बोध के स्तर पर उसकी समग्रता का अनुभव होना अभी शेष है जिस अनुभव के बाद न तो किसी को आर्थिक विषमता का आए–दिन विष पीना पड़े न ही उच्छृंखलता और अभाव के कारण लोगों को अपराध का जीवन जीना पड़े। अतः पहले राष्ट्र को, फिर सारे विश्व को एक कुल के रूप में अनुभव करना सीखने के लिए हम भगवान् कुलेश (शिव) से न जाने कब से प्रार्थना करते आए हैं। इस अनुभव को समझना और सीखना ही समष्टि संस्था की मूल भावना है। आशा है आप इस संभावना को स्वागत योग्य मानेंगें और इसे चरितार्थ करने में कहीं सहयोग देंगे तो कहीं सहयोग लेने में भी संकोच नहीं करेंगे।

सत्याग्रह की भारतीय भूमिका

लोक–प्रचलित सत्याग्रह शब्द का जन्म अपने पूरे अर्थों में उन्नीसवीं शती के अन्त में और बीसवीं शती के आदि में भारत के पश्चिमी क्षेत्र में हुआ। यद्यपि हिन्दुओं की भावभूमि और परम्परा में बहुत पहले से इसके बीज और विकाससूत्र पनपते आ रहे थे, किन्तु शत्रु के विरूद्ध शस्त्र के रूप में इसका प्रयोग लोक–स्तर पर कभी नहीं हुआ था। यूं लोक–मानस में इसकी प्रतिष्ठा तो अहिंसा और लोकप्रेम के रूप में उपनिषदों में हो चुकी थी। बुद्ध एवम् महावीर जैसे व्यक्तियों द्वारा उसे सुदृढ़ भी कर दिया गया था। काव्य–साहित्य के पण्डितों ने उत्साह स्थायिभाव से पैदा होने वाले वीर–रस की चर्चा में वीरता को युद्धवीर तक ही सीमित नहीं रखा था। दयावीर, दानवीर, धर्मवीर रूपों में भी वीरता की मूल भावना को ही प्रत्यक्ष किया था। उत्साह एवम् आत्म–उत्सर्ग ही वीरता का मूल है। उसका भी मूल है पराक्रम या शक्ति की शालीन और सहज अभिव्यक्ति। इसी कारण सनातन मत्त में यदि रामायण–युग के अप्रतिम योद्धा हनुमान को महावीर कहा गया तो जैन तीर्थंकर को भी महावीर की ही उपाधि मिली। क्योंकि वीर्य या पराक्रम दोनों में ही अभिव्यक्त हुआ है। एक में समाज में पनपते हुए अभद्र के विरूद्ध रौद्री शक्ति जगी तो दूसरे में शान्ता शक्ति का उदय हुआ। उत्साह एवम् आत्मोत्सर्ग दोनों में ही एक दूसरे से बढ़ कर हैं।

परन्तु प्रश्न यह उठता है कि आत्मोत्सर्ग किसके लिए? कभी कभी लोग उथली या गम्भीर भावुकता के कारण भी आत्मबलिदान के अनुपम उदाहण दे जाते हैं। किन्तु उनका प्रभाव लोक में स्थायी नहीं होता। व्यापक भी नहीं होता। किन्तु जिन लोगों ने यह आत्मदान या समर्पण सम्पूर्ण सत्य के प्रति निष्ठा के कारण किया है या उनसे हो गया है उनका यह निर्भय प्रयोग युग युगान्तर तक लोक–जीवन के लिए अभद्र के विरूद्ध संघर्ष करने की शाश्वत प्रेरणा बन जाता है। 'अतः सत्य' के लिए सर्वांश में आत्म–समर्पण ही सत्याग्रह की पृष्ठभूमि है। समर्पण अपने शरीर, धन, जन, जाति, बन्धु, वर्ग अथवा किसी भी वस्तु का हो सकता है। महावीर व्यक्ति के लिए ये वस्तुएं कोई अर्थ नहीं रखती हैं। क्योंकि उसका आत्म इतना व्यापक होता है कि वह सत्य में समा कर ही सारी क्रिया करता है। और सत्य पहले यद्यपि उसके व्यक्ति के आगे ही खुलता है परन्तु वह तत्क्षण ही ऋत में या विश्वसत्य में परिणत हो जाता है। अतः उसके सामने सत्य कोई घटना या तथ्यों अथवा आंकड़ों के रूप में नहीं अपितु पूर्णता के रूप में स्फुट होता है। एक वैदिक मन्त्र सत्य के इसी रूप को प्रकट करता है कि "वह सत्य विश्वतःचक्षु है, विश्वतोमुख है, विश्वतोबाहु है, विश्वतस्पात् है। उसकी सब तरफ आंखें हैं, मुख हैं, और पैर हैं। वह सर्वात्मक है। वह जाति, देश,

काल कर्म से मुक्त है। पर इन सब में उसी की अभिव्यक्ति रहती है। जब ये उसकी अभिव्यक्ति से अपने को हटाने लगते हैं तो नष्ट हो जाते हैं।

अतः इस सत्य का आग्रहण, यानि 'आ' मानी सम्पूर्णरूप से 'ग्रहण' मानी धारण करना या समझना ही सत्याग्रह का अर्थ है। वह सत्य के लिए हठ नहीं। आग्रह का अर्थ हठ करना अर्थ का अपकर्ष है। हठ तो मन की जडवृत्ति है। सत्य का हठ से तो कभी अवतरण होता ही नहीं। हां, सत्यलाभ से व्यक्ति में जो कभी कभी अखण्ड दृढ़ता आती है उसे कोई व्यक्ति हठ कहना चाहे तो दूसरी बात है। सत्य तो सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक् संकल्प की अभिव्यक्ति है। समझ की पूर्णता है । हठ तो सदा ही टूटता है। पर समझ सत्य से पृथक् होती ही नहीं।

भारतीय इतिहास में सत्याग्रह का मुझे सर्वप्रथम साक्षात्कार कठोपनिषद् के नचिकेता के उपाख्यान में हुआ। उपनिषद् सत्याग्रह की भूमिका बनाता हुआ आरम्भ में ही कह देता है कि "वह नचिकेता था तो अभी बालक ही। पर कुमारावस्था में ही उसमें श्रद्धा का आवेश या प्रवेश हो गया। अतः पिता के प्रति आस्था होते हुए भी पिता के द्वारा किए जा रहे निषिद्ध गोदानकर्म के विरोध में वह उठ खड़ा हुआ। पिता उसे सत्य से हिला न पाये तो उसे यमलोक भेज दिया। नचिकेता न तो पिता के द्वारा दिए मृत्यु के भय से, न ही यम के द्वारा दिए गए स्वर्ग के अनन्त वैभव के लोभ से विचलित हुआ। श्रद्धा ने उसकी रक्षा की। सत्य ने उसका साथ दिया। पातंजल योग के व्यासभाष्य में श्रद्धा को योगी की मां कहा गया है। उसी से योगी में वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा का उदय होता है जो उसे निर्भय बनाकर मृत्यु से परे कर देता है। क्योंकि भय ही मृत्यु है अथवा प्रमाद (गफ़लत या उपेक्षा) को भी उपनिषदों की भाषा में मृत्यु ही कहा गया है। अतः श्रद्धा को उपनिषदों के सन्दर्भ में, विशेषकर नचिकेता के सन्दर्भ में समझने का यत्न करना चाहिए। श्रद्धा अपने ध्येय में पूर्ण आस्था या विश्वास है जिसकी परिणति विवेक या प्रज्ञा में है। वह आम प्रचलित धारणा के अनुसार युक्तिहीन अन्धप्रेरणा या विश्वासमात्र नहीं। उसी से नचिकेता को यम के माध्यम से भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति हुई। अतः ध्येय के प्रति पूर्ण आस्था ही सत्याग्रह का मूल है कोरा हठ नहीं।

सत्याग्रह के मूल में विद्रोह बड़े सशक्त रूप में उपस्थित रहता है। लोग व्रत, उपवास, पूजा, आत्मबलि आदि क्रियाओं द्वारा अपनी जड़ता को तोड़ डालने के लिए अथवा अपनी क्षुद्रसीमाओं को तोड़ने के लिए पहले अपने प्रति विद्रोह, फिर लोकजीवन में व्याप्त जड़ता को तोड़ डालने के लिए जो उचित समझते रहे हैं, करते रहे हैं। जीवन में विद्रोह की भूमिका चेतना के जमाव को उत्कीलित करने या उखाड़ने की रही है। क्योंकि वहीं से वामन चेतना यानि लघु मानव तीन पदसंक्रमणों द्वारा अपनी चेतना को उत्क्रान्त कर सर्वत्र व्याप्त विष्णुचेतना का रूप ले लेता है। चेतना के ये दो आयाम ही उपनिषदों के ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त रूप हैं। इस सन्दर्भ

में सत्याग्रह का अर्थ सत्य के आश्रय में जीवन बिताना हो जाता है।

पुराणकाल में भी सत्याग्रह का आरम्भ गणपति और कुमार कार्तिकेय के द्वारा हुआ। गणपति या गणेश का विद्रोह रूद्र के अविवेकी क्रोध के विरूद्ध है। मां उसे दीक्षित करके द्वार पर डटने का आदेश देती है। इसी आदेश या गुरूवाक्य के पालन में बालक गणपति को रूद्र से सिर कटवाना पड़ा। देवी रूद्र को बालक को नवीन जीवन देकर प्रायश्चित्त करने को कहती है। रूद्र मंगलकारी शिव बनकर उस बालक को महागणपति–पद पर अभिषिक्त करते हैं। दूसरा विद्रोह शिवपरिवार में ही पुत्र को माता के पक्षपात के विरूद्ध होता है। कुमार कार्तिकेय मां के ऐसे निर्णय के विरूद्ध है कि गणपति को इसलिए श्रेष्ठ घोषित किया है क्योंकि उसने प्रतियोगिता की शर्त के शब्दों की मूलभावना को चालाकी से तोड़ मरोड़ कर निर्णय अपने पक्ष में करा लिया। लेकिन सत्याग्रही विद्रोही की खूबसूरती यह है कि वह अन्याय या मिथ्या के विरूद्ध जब लड़ता है तो पहले स्वयम् को और फिर अन्यायी को सत्य के छोर पर लाकर मुक्त करा लेता है।

सत्याग्रह की सर्वाधिक क्रियात्मक अभिव्यक्ति प्रह्लाद के चरित में होती है। उसका पिता हिरण्यकशिपु उसकी दृढ़ता को जितना बढ़ते देखता है उतना ही उग्र तथा व्यग्र होता जाता है। हिरण्यकाशिपु की प्रतिहिंसा जितनी भयानक होती जाती है प्रह्लाद में उतनी ही अहिंसात्मक प्रतिरोधशक्ति जागृत होती जाती है। अंततः अहिंसा और हिंसा के बीच में एक ऐसी चेतना आविर्भूत हो उठती है जिसे नृसिंह–चेतना कहा जा सकता है। इसी से यह बात कही गई कि जहां दुर्बल लोगों का उत्पीड़न होता है वहां रूद्र जन्म लेता है। प्रह्लाद को यदि क्लेश सहना है तो नृसिंह के अवतरण को कौन रोक सकता है। वह हिंसा और अहिंसा के घेरे मे बन्द नहीं। वह सम्पूर्ण है। देश और काल उसका अभिनन्दन करते हैं। उस चेतना को क्रिया करने के लिए धर्मशास्त्र को खोल कर देखने की आवश्यकता नहीं कि हिरण्यकशिपु का वध हिंसा है या अहिंसा।

अन्याय पर भारतीय ब्राह्मणसाहित्य में देखा जाए तो भरपूर सामग्री मिलेगी। न्याय या अन्याय के बीच के अन्तर को उन्होंने सम्पूर्ण दृष्टि से समझने को कहा है। खोखली बुद्धि या वकालत की किताबोंमात्र से ही उसे नहीं ग्रहण किया जा सकता। न्याय या अन्याय की बात तो आम आदमी की समझ में आनी चाहिए। अन्यथा न्याय वही हो जाएगा जिसे वकील बोलेगा। अतः अन्याय या अन्याय की बात तो आम आदमी को और विशेषकर निर्मल–बुद्धि बालकों को सहज ज्ञान के बल पर समझ आ जाती है। निर्मलबुद्धि के कारण ही वे सत्य का आग्रहण करते हैं। सत्याग्रही विद्रोह का जन्म इन्हीं दोनों में होता है।

विद्रोही बालकों को यद्यपि बहुसंख्या में इतिहास में सत्याग्रही पाया जा

सकता है तथापि मानवीय प्रकृति के मनोविश्लेषण से भी ऐसा लगता है कि जो लोग बाद में बड़े–बड़े सत्याग्रही बने उनके सत्याग्रह की भूमिका उनके बालजीवन में ही पड़ी। क्योंकि बाल–हृदय जोकि सरल संवेदनशील रहता है उसमें सत्य के अभिव्यक्त हो उठने का अधिक अवकाश रहता है। संभवतः इसी से ऋषियों ने सत्य के खोजी विद्वानों को भी यह सलाह दी कि सब कुछ जान लेने के बाद बाल–भाव में आ जाने से तुम मुनि बन जाओगे।

कई आधुनिक विचारक भारतीय मानस पर यह आरोप लगाते रहते हैं कि भारतीय मानस में प्रतिवाद या 'एण्टिथीसिज' की धारणा कभी नहीं रही अतः सही विद्रोह अथवा क्रान्ति की बात भारत में कभी हो ही नहीं पाई। इसी से यहां के लोग संघर्ष से बचते रहे हैं राजनीतिक उदासीनता के शिकार रहे हैं। ये आरोप सरसरी तौर पर देखें तो गम्भीर लगते हैं। किन्तु भारतीय मानस द्वारा प्रसूत धर्म, दर्शन, साहित्य इतिहास पुराण का अनुशीलन करने से बात भिन्न प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब इस देश में अहिंसा की बात बहुत जोरों से गम्भीरता के साथ चल रही थी उस से पूर्व निश्चय ही प्रकृति में प्रतिवाद की स्थिति को स्वीकार तो किया गया किन्तु उससे पार जाने की समस्या का समाधान अत्यन्त प्राचीनकाल में तब ही हो गया जब दांईं बांईं दो दृष्टियों के अतिरिक्त एक तीसरी आंख होने का आभास भी लोगों को मिल गया। त्र्यम्बक अथवा त्रिनेत्र शिव की धारणा में इस दृष्टि का विकास हुआ। अर्थात् वाद प्रतिवाद के विवादग्रस्त विषय को सुलझाने के लिए एक ऐसे संवाद को खोज लिया गया, जहां विवाद एवम् द्वन्द्व नहीं। यह संवाद पश्चिम में कभी रहा भी हो तो भी विकसित नहीं हो पाया था। फलतः वहां का मन जीवन की अनन्तता में से समग्रता की बजाए कुछ ऐतिहासिक घटनाओं के चुनाव के साथ ही थीसिज एवम् एण्टिथीसिज के शाश्वत विरोध को ले करके बैठ गया। ईसाईमत में सृष्टि के आरम्भ के साथ ही ईश्वर का एण्टिथीसिज् शैतान पैदा हो गया। और वह शैतान सदा सदा अपनी सत्ता बनाए रखे है। बाइविल का यही शैतान रूप बदल कर पाश्चात्य भौतिक दर्शनों में एण्टिथीसिज् बन गया है। क्योंकि संभवतः ईसायत में लोक में ही लोकातीत तत्त्व की बात कभी नहीं रही। इसी से उनका अध्यात्म भौतिक अभौतिक दृष्टियों से परे अतिभौतिक के समीप अधिक नहीं गया। कुछ ईसाई सन्तों को अतिभौतिक तत्त्व दिखाई दिया भी तो रहस्यानुभूति के रूप में। क्योंकि वहां ईश्वर भी कभी अपने लोक से बाहिर नहीं निकल पाया। अतः ईश्वर भी भौतिक ही रहा। इसी कारण ईश्वर और शैतान का एक ही सामान्य आधार हो जाने के कारण दोनों ही भौतिक रह गए।

वस्तुतः पश्चिम में पैदा हुए सभी भौतिकवादी विचारों की जड़ें वहां के यूनानी दर्शन में विद्यमान थीं। उस घेरे से मुक्त न हो सकने के कारण संभवतः भारतीय अध्यात्म से उस दृष्टि का परिचय कभी ही कभी हो न सका। वहां के धर्म

मत या सम्प्रदाय भी वही बात कहते लगते हैं जो बात आज के वस्तुवादी जड़वादी पाश्चात्य विचारकों ने कही है। अतः साम्यवाद तक की जड़ों को ईसाइयत में खोजा जाना चाहिए। फलतः विद्रोह, क्रान्ति या संघर्ष की बात को केवल पाश्चात्य दृष्टि से जोड़कर ही नहीं देखना चाहिए। एक तटस्थ दृष्टि के विकास के साथ उसे समझने का यत्न भी होना चाहिए। समझ आ जाने से विद्रोह या संघर्ष में जो प्रतिहिंसा का तत्त्व है वह रूपान्तरित होकर अधिक सूक्ष्म अन्याय–विरोधी शस्त्र बन जाएगा। वह शस्त्र संहार–शस्त्र न होकर शल्य–चिकित्सा के औजार की तरह सर्जना–शस्त्र बन जाता है। सत्याग्रही के पास यही शस्त्र होना चाहिए। देवी देवताओं की मूर्तियों के हाथों में हिन्दू मूर्तिकला में शस्त्र पकड़ाने की प्रथा का मूल रहस्य शायद यही रहा। अतः सत्याग्रह वह शस्त्र है जिसके प्रयोग से चलाने वाले का भी और जिस पर वह चल रहा है उसका भी कल्याण हो। वह चिकित्सक और रोगी दोनों का हित–साधक है।

भारतीय इतिहास में इस शस्त्र को बहुत लोगों ने अन्याय के विरूद्ध धारण किया। उपनिषदों में ऋषि दध्यङ्अथर्वा को इन्द्र ने धमकी दी कि यदि तुम मुझे ब्रह्म का उपदेश न देकर किसी अन्य को दोगे तो तुम्हारा शिरश्छेद होगा। उसने इन्द्र को अनधिकारी समझकर उसे उपदेश नहीं किया और अपना शिरश्छेद करवा लिया। इस तरह के बीसियों उपाख्यान मिलते हैं जिनमें लोगों ने अपनी सत्य की धारणा के आधार पर अपने प्रति अन्यायी के अन्यायों को सहकर भी अपनी बात नहीं छोड़ी। बौद्ध, जैन, हिन्दू सभी ने सत्याग्रह की भूमिका को बार बार परखा और प्रयोग किया जिनकी चरम परिणति हमारे ही युग में सामूहिक सत्याग्रह के रूप में महात्मागांधी की विचारधारा के रूप में हुई। इस संदर्भ में पौराणिक उपाख्यानों में से वसिष्ठ–विश्वामित्र, विश्वामित्र–हरिश्चंद्र आदि के उपाख्यानों को देखा जा सकता है। दोनों ही उपाख्यानों में हिंसा के विरोध में अहिंसा के प्रयोग से हिंसा का प्रतिरोध किया गया था।

श्वान–संस्कृति

लोगों में जब किसी प्रथा का चलन होता है तो वह उस काल में या वातावरण में घटित हो रही कुछ एक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म से स्थूल में आना ही होता है। उस स्थूल को देखकर सूक्ष्म प्रवृत्तियों का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। आजकल जब सवेरे घूमने के लिए निकलता हूँ तो रास्ते में जो लोग भी मिलते हैं उनके एक हाथ में अपने अपने कुत्तों की डोरी होती है और दूसरे हाथ में छोटी सी बेंत। ऊंची जात वाले लोगों को विलायती नस्ल के कुत्ते रखने की नकल पर छोटी जात के लोगों ने भी गलियों में घूमने वाले आवारा देसी कुत्तों के गले में भी रस्सी बांधनी शुरू कर दी है और उनका नामकरण भी अंग्रेजी संकेतशब्दों से कर दिया जाता है। लेकिन इतने मात्र से उनके स्टैंडर्ड में कोई फर्क नहीं पड़ता। स्टैण्डर्ड तो विलायती नस्ल के जटाधर कुत्तों का ही है जिन्हें प्यार से मालिक और मालकिन लोग अण्डे, बिस्कुट, मिठाइयां,मछली, मांस आदि खिलाते हैं और फिर अंग्रेजी में उनके साथ बातचीत करते हैं। मलत्याग कराने के लिए सड़कों के किनारों पर ले जाते हैं। कई मुहंजोर लोग सड़क से जाते जाते अपनी भारतीय व्याख्या देने से बाज नहीं आते और कह भी देते हैं कि "साहिब ने बाप दादा की जीते जी सेवा इस तरह तो की नहीं और उनका माल संभाल लिया। अब वे पितृगण ही अंग्रेजी कुत्ते की योनि में से होकर सेवा लेने आए हुए हैं।" वैसे यूं भी कोई देसी आदमी बाहर पश्चिमी देशों में कुछ चक्कर वक्कर लगा आए और पहरावा बदल आए और बातों बातों में टूटी टूटी सी अंग्रेजी बोलने लगे तो लोग समझने लगते हैं कि आदमी बढ़िया है। और यहां पर रहने वाले साधारण वेषभूषा वाले लोगों को अविकसित बुद्धिवाले समझ लेना यहां के किसी भी अंग्रेजी दाँ को अच्छा लगता रहा है। और इनके कुत्ते, ये भी सड़क पर चलते किसी मुँडू, रिक्शावाले एवम् मैले या फटे वस्त्र गरीब को पास से गुज़रता देख उस पर टूट पड़ने को उद्यत रहते हैं।

यूं कुत्ते तो हमारी संस्कृति का भी अभिन्न अंग रहे हैं, पर वह बात और थी। ऋग्वेद में देवशुनी सरमा नाम की कुतिया को गउएं चुराने वाले पणि जाति के लोगों के पास से रहस्य लेने के लिए इन्द्र ने भेजा था। क्योंकि पणि इन्द्र की गउएं चुरा ले गए थे। किन्तु सरमा को पणियों ने दूध पिलाया और वह उन्हीं से मिल गई। लौटकर आई तो वृहस्पति ने उसकी गद्दारी को भांप लिया। संभवतः तभी से सरमा के वंशजों को समाज या घर के अन्तरंग क्षेत्र में से निकाल दिया गया और उसे अस्पृश्य या अछूत करार दे दिया गया। आज भी कई चोर जब चोरी करने जाते हैं तो घर के पालतू कुत्तों का मुंह बन्द करने के लिए मांस या मिठाइयां ले जाते हैं। इसलिए कुत्ता एक ऐसी मानसिकता का प्रतीक बन गया जो सामने तो बहुत प्रेम

प्रकट करता है, सारा दिन भौंकता है, पर वक्त पड़ने पर दुम दबा जाता है। वह शायद बुरा नहीं, पर उसमें दम ही इतना है। कहा जाता है कि सरमा के दो पिल्लों को यमदेवता सिर्फ अपने द्वार पर ही रखते हैं। भीतर नहीं आने देते। उनमें से एक श्याम रंग का कुत्ता है तो दूसरा चितकबरा। अग्निहोत्र जानने वाले हिन्दू आज भी भोजन से पहले इन दोनों के लिए रोटी का टुकड़ा अवश्य निकालते हैं। उनकी उपयोगिता तो भले ही नहीं हो पर घर में प्रवेश निषिद्ध रहा। वैदिक साहित्य में एक ऐसे हीन ब्राह्मण की चर्चा भी मिलती है जिसने अपने तीन पुत्रों का नाम कुत्ते के नाम पर ही "शुनःशेप, शुनःपुच्छ, शुनःलांगूल" रखा हुआ था। इनमें से पहला और तीसरा तो कुत्ते की दुम है और बीचवाला नाम कुत्ते की कामेन्द्रिय के नाम पर है। यह मंझला शुनःशेप ही बाद में राजा हरिश्चन्द्र के यज्ञ में ऋग्वेद का एक महान् ऋषि बना।

निश्चय ही कुत्ता हमारी ग्रामीण संस्कृति का भी अंग रहा है। पर उसकी अस्पृश्यता सदैव बनी रही। गांव के बाहर या गलियों में ही कुत्ते को रहने की इजाज़त थी। और किसी भी अजनबी के गांव में आने पर उनका भौंकना और इधर उधर भागना और अजनबी को घेरने का व्यूह बनाना आदि देखते ही बनता था। पर अजनबी के पास अगर एक मोटा डंडा होता तो फिर कुत्ते की सक्रिय शक्ति खत्म हो जाती। मालिक के आने पर यद्यपि सभी कुत्ते दुम हिलाते, पेट दिखाते, लोटते, पर उसे गम्भीरता से नहीं लिया जाता। समझा जाता है कि यह कुत्ते का काम ही है, "लांगूलचालनमधश्चरणावपातं भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च।" और उसकी इन क्रियाओं को कोई गम्भीरता से नहीं लेता। हां, इसके विपरीत कुछ बुद्धिवादी और शुद्धिवादी लोगों ने कुत्ते के द्वारा प्रेम में आकर चाटने में और गुस्से में आकर काटने में, दोनों तरह हानि होने का भय बताकर कुत्तों से परे रहने की सलाह अवश्य दी "काटे चाटे स्वान गति।"

महाभारत में भी कुत्ते के सम्बन्ध में दो एक उपाख्यान मिलते हैं। उनमें संभवतः धर्मराज युधिष्ठिर अपनी दैवी उत्पत्ति के सिलसिले में तो सीधे धर्मराज या यम के ही अंशावतार थे और मृत्युदूत के रूप में या मृत्युसूचक के रूप में कुत्ता उनके काम में पहले ही जुड़ा हुआ था। लोगों का विश्वास रहा कि कुत्ते को मौत का पूर्वाभास होता है। यमदेवता के दूत जब कहीं किसी नगर या ग्राम में वायुशरीर में किसी व्यक्ति के प्राण लेने के लिए आते हैं तो कुत्ते की नज़र उनको पहचान लेती है। और उसकी आवाज कुछ विचित्र क्रन्दन के रूप में माहौल में भय पैदा करती है। पुराने ग्रन्थों में बराबर उल्लेख मिलते हैं कि गीदड़ जिन्हे लोग जंगली कुत्ता ही मानते हैं उनमें से भी गीदड़ियां (या मादा गीदड़) जब एक विशेष प्रकार से रात को रोती हैं तो लोग सोचते हैं कि कोई महायुद्ध जैसा विप्लव होने वाला है जिसमें लाशों के ढेर लगेंगे। विनाश के देवता रूद्र के किसी भयंकर ताण्डव की भी वह पूर्व सूचना होती। रूद्र शिव के साथ जुड़ने से उन गीदड़ियों को शिवा भी कहा गया और शिव

से सन्देश वहन करवाने के कारण चण्डी को शिवदूती भी कहा जाता है। अतः महाभारत के अन्त में यदि धर्मराज युधिष्ठिर देवताओं के निषेध करने पर भी अपने कुत्ते को स्वर्ग के भीतर ले ही जाना चाहते हैं तो उसका औचित्य बन ही जाता है। किन्तु यज्ञभाग आदि रचनाप्रधान वैदिक कर्मों में कुत्ते, मुर्गे, चाण्डाल और संन्यासी का प्रवेश वर्जित ही रहा। क्योंकि ये सभी मृत्युदूत ही माने जाते रहे हैं। यज्ञ में तो जरा सा कुत्ते की उपस्थिति का संशयमात्र होने पर भी उसको लकड़ी मारकर भगा दिया जाता। ऐसी ही पौराणिक कथा में एक पिल्ले को अकारण ही किसी ब्राह्मण द्वारा लकड़ी मार देने पर उस पिल्ले की मां एक न्याय-सभा में उस ब्राह्मण के लिए दण्डविधान की याचना करती है। क्योंकि उसका बच्चा निर्दोष है। उसने यज्ञ के हवि (या मिल्कफूड) की ओर नजर उठाकर भी नहीं देखा था। जूठा करने की बात तो ही कहां? लेकिन कुतिया ने ब्राह्मण को कचहरी से दण्ड तो दिलवाया। यही कथा वाल्मीकि रामायण के अन्त में भी थोड़े भेद से आई है।

ऐसा स्पष्ट पता चलता है कि यज्ञादि में जहां ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, अग्नि आदि देवों की प्रधानता रही वहां तो गाय और घोड़े ही की प्रधानता चलती रही और कुत्ते को द्वार पर भी नहीं खड़ा होने दिया गया। कुत्ते को जो कुछ राहत मिली वह सब भगवान् शिव के द्वार पर आने पर। क्योंकि शिवपूजा खुले-द्वार मन्दिरों में होती। और कोई भी पुजारी शिव को अर्पित वस्तु या चढ़ावे को उतार लेने में अपने अनिष्ट की कल्पना से डरता था। शिव की शक्ति के मन्दिरों में अक्सर कहीं न कहीं चढ़ावे की बलि का मांस कुत्ते को रास आ जाता। अन्यथा कुत्ते को गांवों में मरे हुए पशुस्थलों में गिद्धों के साथ शवमांस-भोजन में ही शामिल होना पड़ता था। भारतीय इतिहास में मध्यकाल यानी प्रायः मुस्लिम युग में कुत्ते को शरण मिली उन बूचड़-खानों, चाण्डाल-बस्तियों या फिर साधारण मुसलमानों की उन गलियों में जहां बकरों और मुर्गों के फालतू कटे अंग बिखरे रहते। सूफियों की दरगाहों में कुत्ता चक्कर तो काटता रहा पर वहां भी हिन्दू वैजिटेरियन का असर रहने से बताशे के साथ सड़क पर पड़ी रोटी का कोई कोई टुकड़ा ही मिलता। अतः दरगाहों में तो उसे दरवेश का ही बाना पहनना पड़ा। क्योंकि वहां तो सारा दिन सब्र और सबूरी का सबक ही सीखने को मिलता था। और सारा दिन लोगों के हाथों में पकड़े टुकड़े को देखने में बीत जाता।

कोई कोई कुत्ता दरवेश बनकर भी जीना सीख जाता। और भूखे पेट थोड़ा बहुत पाकर भी रहना सीख जाता। किन्तु मुसीबत तब होती जब पेट की आग कुछ शान्त होकर कामाग्नि में पलट जाती। खासतौर पर ऐसे युग में, जब कि मुस्लिम शासक, सारे हिन्दुस्तान की औरत पर बुर्का और घूंघट के साथ सारी शर्म ओ हया को लाद देना चाह रहा था। औरत को सलज्ज बनाकर, पर्दे में डालकर, खुद की बेपर्दगी और निर्लज्जता को अपनी मर्दानगी जाहिर करना चाहता था। औरत का

पर्दा हटाने का अधिकार उसने सिर्फ अपने हाथों में ले लिया था। ऐसी स्थिति में जब कि घूंघट के पट बिल्कुल बन्द हो गये थे तो कुत्ता अपने स्वाभाविक लोभ और निर्लज्ज रति के कारण सड़कों पर मार खाता रहा और भले लोग उसके हालात को अनदेखा सा करके शर्म से सिर झुकाए गुज़र जाते। मस्जिदों, दरगाहों के आगे की सड़कों पर तो यह बात किसी को गवारा कैसे होती? अतः कुत्ता पिटता भी रहा और बाद में अपनी निर्लजता को धोने के लिए चाटुकारिता का चस्का भी लगाता रहा। पिटना भी, कराहना भी। लेकिन मालिक के सामने आने पर उसे रिझाने के लिए चाटुकारितापूर्ण दुम हिलाना, पेट दिखाना, पैरों में घुसना, मालिक के इशारे पर भोले–भाले शिकारों पर टूट पड़ना, गैर लोगों पर भौंक कर मालिक के प्रति अपनी आत्मीयता और वफादारी जताते रहना, यह कुत्ता होने के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्षण हो गए। और ये लक्षण कुत्ते के काटे की तरह धीरे धीरे मुगल सल्तनत के अन्तिम दिनों तक इतने अधिक प्रबल और प्रकट हो उठे थे कि अंग्रेज की तोप ने ही आकर उसे नींद में सुला दिया और लगभग सौ वर्ष के लिए सारा मुसलमानी हिन्दुस्तान ही सो गया। निर्लज्जता, चाटुकारिता और लोभ की प्रत्यक्ष मूर्ति बन कर कुत्ता मुगलों के हरमों और किलों से निकला, तो उसे याद था कि वहां उसके साथ रहने वाले गोल्ले, गुलाम और शायर कैसे रहते थे? अब अंग्रेज के द्वारा शाहे–आलम का तख्ता पलट हो जाने से उनका हाल भी क्या उसी जैसा होगा? बहुत देर तक वे भी तो जब निकलते थे तो बादशाह का इशारा मिलते ही किसी मासूम का गोश्त लाने के लिए दौड़ पड़ते थे। पर इस काम के लिए कोई कोई हुक्मरान शेरनुमा बाज जैसे पक्षिराजों को भी शिक्षण देकर मासूम व पक्षियों की हत्या करवाते रहे।

पूर्व हिन्दूकाल में कुत्ते की यह स्थिति नहीं थी। उसे पास भले ही नहीं फटकने दिया जाता था किन्तु उसका रोटी का टुकड़ा हर घर में सुरक्षित था। गाय के लिए निकाले गए टुकड़े के बाद कुत्ता और कौआ ही भोजन पाने के अधिकारी थे। इसके लिए उसे चाटुकारिता नहीं करनी पड़ती थीं । अपितु लोग स्वयम् उसे बुलाकर टुकड़ा देते पर घर में घुसने नहीं देते थे। संभवतः पंचतन्त्र जैसे महान् पशुकथा–ग्रन्थ में जहां अन्य पशु–पक्षियों के गुण अवगुण से भरी बीसियों कथाएं है उन कथाओं में कुत्ता बहिष्कृत ही लगता है। जहां कहीं प्रसंग आया है तो वहां वह अतत्त्व–दर्शन और अशुचिभक्षण करने के कारण हीन ही बना रहा। उसका अतत्त्व–दर्शन यह कि वह कहीं से भी सूखी हड्डी पाकर चबाने का प्रयास करता है। किन्तु हड्डी के द्वारा किए गए अपने तालु में गहरे घाव से वह अपने ही लहू को पीता हुआ उसे हड्डी का लहू मानता हुआ अनजाने में आत्महत्या की ओर बढ़ता। वैसे भी उसे खाने न खाने की चीजों का विवेक नहीं रहता। अतः सर्वाहारी और मलाहारी ही बना। हां, कहीं कहीं पर उसे नींद में सावधान रहने वाला अवश्य बताया गया है। परन्तु जब भारत में जन्म से जाति को मान्यता मिल चुकी थी उस काल में कुत्ता संस्कारहीन

क्षुद्र प्रणियों में खड़ा था। चाटुतापूर्ण दुम हिलाना और सेवा करके रोटी पाना श्ववृति की बोधक क्रियाएं बन चुकी थीं। अतः मनु ने अपनी स्वाधीनता की रचना करने वाले ब्राह्मण को कहा कि ब्राह्मण जीवन के कठिन क्षणों में कोई भी वृत्ति अपना ले किन्तु कुत्ते की वृत्ति को किसी भी स्थिति में अपनी आजीविका का साधन न स्वीकार करे ''न श्ववृत्त्या कदाचन।''

संभवतः उस समय श्ववृत्ति पराधीनता में रहने की मानसिकता का नाम था। सिंहवृत्ति और चातक–वृत्ति ही जीवन के उदात्त माडल या निदर्शन माने जाते रहे। अतः स्वाभिमानपूर्वक जीवन का आचरण करना लोग शेर और छोटे से पपीहे से सीखते तथा सरलभाव से खेतों में कृषि से बचे हुए अन्नकणों को खाकर निर्वाह करना लोग कबूतर से सीखते जिसे कापोती वृत्ति और उञ्छ वृत्ति कहा जाता। कुत्ता दैन्यवृत्ति का ही प्रतीक रहा। अतः ''अदीनाः स्याम'' की उपासना करने वाले ऋग्वेद के ऋषियों और ''न दैन्यं न पलायनम्'' के महाभारतीय संदेश को पसन्द करने वाले लोगों को श्ववृत्ति कैसे भा सकती थी। दिन में कई कई बार स्नान के पुण्य को संचित करने में लगे स्पर्श और अस्पर्श के विज्ञानसम्मत मसले को छुआछूत की हद तक ले जाने वाले हिन्दुमानस को कुत्ते की मलिन वृत्ति में कोई दिलचस्पी कैसे होती । फलतः मध्यकालीन भक्तों ने भी कुत्ते और गधे को एक पंक्ति में खड़े करते हुए पढ़ दिया – ''खर को कहा अरगजा लेपन स्वान नहाए गंग'' गधे को चन्दन–लेप और कुत्ते को गंगा–स्नान कराना एक समान ही है। कहीं कहीं पर किसी पण्डित ने किसी व्यक्ति की हीन या पतित वृत्ति को प्रदर्शित करने के लिए कुत्ते को ''वान्तावलेही'' यानी उल्टी तक खा जाने वाला निर्धन तथा सदैव गांवों में दूसरों के हाथ के अन्न की ओर लोभ से देखता रहने वाला चित्रित किया तथा उसके मुकाबले में भद्रता का प्रतीक हाथी खड़ा किया जो अपने मालिक के सौ सौ अनुरोध करने के बाद भी घी–चूरी का अन्न भी बड़ी नज़ाकत से खाना चाहता है। अस्तु, मध्यकाल की लोकभाषाओं में या संस्कृत में लोगों ने अपनी समस्त गलाजत कुत्ते की आड़ में निकाल कर रख दी। और हम गाली गलौच में कुत्ते को राजनीति, धर्म संस्कृति की चर्चा में न चाहते हुए भी हाज़िर पाते हैं। जैसे कि एक कुत्ता हमारे सामने बैठा रहता है जिस की शक्ल आदमी से मिलती है और हमारे सारे आचार व्यवहार की यह नियति बन गया है।

भला हो इस अंग्रेज का जिसके आने के साथ ही भारत में कुत्तों की लोकमानस में बहुत कुछ इज्ज़त बढ़ी। आज घर धर में जिस किसी पढ़े लिखे को देखो साथ में कुत्ता लिए धूमता नज़र आता है। लेकिन ये कुत्ते पश्चिमी देशों की नस्ल के हैं। रंग–बिरंगे, छोटे, बड़े, केशधारी घर घर में बैठे और लोगों के बिस्तरों में साथ लग कर सोते हैं। पूंजीवादी एवम् उसी की प्रतिक्रिया के रूप में उठी समाजवादी जीवनव्यवस्था में जब कि लोग पैसा कमाने और यन्त्रवत् जीवन भोगने

के लिए विवश है और फिर स्टैण्डर्ड सुरूचि के चक्कर में जब निरोध की शरण में लोगों ने निज़ात पाने का मार्ग ढूंढ़ लिया है तो मनुष्य के भीतर और बाहर के खालीपन को भरने के लिए ''कद्वयम्'' यानी दो ''क'' कुत्ता और कार के रूप में हमारे सामने आए हैं। आप दफ्तर या काम पर जा रहे हैं, बीबी भी जा रही है। तब पास आकर खड़े हुए, आपका मुंह जोह रहे कुत्ते को आप अपने वारिस के रूप में घर की देखभाल के लिए छोड़ जाते हैं। जब आप लौटते हैं तो घर में आपके स्वागत के लिए वह खड़ा होता है। आपका अकेलापन कुत्ते के सहारे घर के भीतर कट जाता है और बाहर का अकेलापन कटता है कार के सिर पर। कहते हैं पश्चिम में जहां अब कारें भी सड़कों पर आवारा कुत्तों की तरह घूमती नज़र आती है। वहां पर पड़ोसी यदि पड़ोसी की कार और कुत्ते की सेहत खराब होने पर हाल चाल पूछने न जाए तो अपराध अक्षम्य माना जाता है। तर्क यह कि दफ़तरों में काम करने वाले लोगों में पति पत्नी को और पत्नी पति को दगा दे सकती है पर उनका कुत्ता ऐसा नहीं कर सकता। फलतः कार और कुत्तों पर निर्भर करने वाली रूग्ण मानसिकता ने विज्ञान के नाम पर एक ऐसी मानसिकता को जन्म दे दिया है जो घर से बाहर तक श्वान–वृत्ति का ध्वज लहराएगी। जिसमें मालिक के आने पर दुम हिलाना और बेमतलब आ पहुंचे अतिथि के आने पर भौंकना शामिल रहेंगे।

लेकिन आप ऐसा मत सोचिए कि श्वान–संस्कृति के बढ़ते हुए दौर में आदमी ने विलायती कुत्तावाद को अपने पर थोपा है। कुछ एक होशियार मौकापरस्त लोगों ने गोरों के इन कुत्तों की तारीफ करके या उनकी देखभाल करके उस श्ववृत्ति के आधार पर पश्चिमी देशों में खूबसूरत सेंध लगाई है और अंग्रेजियत की डुप्लिकेट प्रतिकृति बनाकर बहुत बड़ा धन्धा शुरू किया है जिसमें देशी कुत्तों का बहिष्कार ही नहीं किया गया अपितु उनकी हत्या भी करवा दी जाती है। ताकि समय असमय जब भी वे अपने अंग्रेजी कुत्ते को सैर कराने निकलें तो देसी कुत्तों की छूत से या उनके आपसी मेलजोल से अंग्रेजियत की शुद्धि मलिन न हो जाए। आज संसार के सभी अयोरूपीय देशों में जो यह डुप्लिकेट मानसिकता के पुतले तैयार होकर दुनियां के बाजार में धड़ाधड़ आ रहे हैं उनमें से यह जो वर्तमान श्वानसंस्कृति की मानसिकता है यह कितनी मानवता की मांग पूरी कर सकेगी यह देखना है। बहरहाल, यह साफ जाहिर है कि श्वान–उपासना के बढ़ते हुए माहौल में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति एक ऐसी मानसिक रूग्णता का शिकार हो चुका है जिसका प्रदर्शन हमें हमारे दफ़तर, घर, कोर्ट कचहरी समूचे प्रशासकीय जीवन में मिलता है। यानी लोग कृत्रिम प्रेम या दिखावे के इश्क के माध्यम से अपना सारा जीवन काट देने के अभ्यस्त हो गए हैं। सिंह–संस्कृति या गोसंस्कृति को आइए अब हम अलविदा कहें। क्योंकि कुत्तों के पास अब ऐसे हथियार और हथकण्डे आ गए हैं कि उन्होने सिंह का तो शिकार करवाकर उन्हें समाप्त कर दिया है और भद्रता की प्रतीक गौ से उसका दूध ही छीन कर उसके चमड़े की जूतों की बड़ी बड़ी इन्डस्ट्री खुलवा दी है।

हिमालय-संस्कृति के स्रोत : एक संकल्पना

सत्ता का स्वभाव ही स्फुरण है। यदि पदार्थ हैं तो वे प्रतीत होंगे ही। जो है, उसका ज्ञान तो होगा ही। अतः कई जाने हुए पदार्थों के भी नए नए रूपों का ज्ञान होने पर, कई विस्तृत पदार्थों के पुनः उपलब्ध होने पर, तथा बहुत से सृष्टि के अज्ञात पदार्थों के पहली बार ज्ञान का विषय बन जाने पर हमारे ज्ञान की आनन्द में परिणति हो जाती है। इसीलिए हम लोग पराशक्ति के इस विस्तृत रूप का सच्चिदानन्द इस एक पद से सम्बोधन करते आए हैं। उपनिषदों का यह सार–सूत्र मानवीय नाना ज्ञानों–विज्ञानों के विस्तृत होते जाने के बावजूद भी चिन्तनशील मानवमात्र के लिए नवीन प्रेरणाओं का सदा ही स्रोत रहा है।

सत्ता के इस बोध के साथ हमें जब से भारतवर्ष या उसकी सांस्कृतिक परम्परा का बोध हुआ है तब से आज तक उसके शीर्ष महत्त्व का प्रतीक हिमालय रहा है। चिरकाल से समाधिस्थित इस शिव के मस्तक में से उठे अनेक गंगाओं के प्रवाहों ने मानव–संस्कृति को भारत की प्रमुख संस्कृति का उपहार दिया जिसका मूल संकल्प ही विश्वकल्याण के साथ जुड़ा हुआ है। पृथ्वी पर दिव्यता को उतारने के लिए हिमालय के हिमशिखर प्रथम सोपान बने। उसकी पारदर्शी हिमानियों की निर्मलता में आकाश की स्वच्छ नीलिमा, चन्द्रमा की धवल चांदनी एवम् सूर्य के तेजस्वी ऊष्मा के स्पर्श ने जो स्पन्दन या क्रिया पैदा की उसने एक ओर दिन–रात मन्त्र गान करने वाली विपाशा, शतद्रु, वितस्ता, चंद्रभागा, इरावती, यमुना, सिन्धु, सरस्वती, गंगा आदि वैदिक महानदियों को जन्म दिया वहीं शिलाओं के कठोर गर्भ से स्थानीय ग्राम–क्षेत्रों में झरझराते असंख्य निर्झरों के लोकगीतों के नाद–अनुनाद ने लोक–जीवन को संगीतमय, कलामय एवम् देवसंस्कृतिमय बना दिया। महानदियों के साथ उछल–कूद करते हुए इन झरनों ने यहां के संवेदनशील मानव के लिए एक ओर भारत के अमर मन्त्र–काव्य को जन्म दिया तो वहीं महानदियों ने उस आर्षप्रज्ञा को भी स्फुरित कर दिया जिसने मानव–चेतना को अगणित काल से हिमालय जैसा ही स्थिर जीवन–दर्शन दिया जिसमें अन्तःप्रज्ञा का काव्यानुभव भी शामिल था तो बौद्धिक प्रज्ञा की व्यवहार–दृष्टि एवम् कर्मठता का क्रियादर्शन भी सम भाव से जुड़ा हुआ था।

हिमालय के इसी चिन्मय रूप का साक्षात्कार करने के लिए बड़े–बड़े योगी, सिद्ध, महात्मा भारत के मैदानी क्षेत्रों में जन्म लेकर भी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण के सागरतटीय किनारों से उठकर अपने जीवन को सार्थकता एवम् सिद्धता देने के लिए हिमालय की शरण में आए और यहीं के होकर रह भी गए। वेदों की दृष्टि

रही या बुद्ध का प्रज्ञा–दर्शन, सभी में हिमालय की हिमानियों की पारदर्शी अनुभूतियों को छू लेने की एक अखण्ड जिज्ञासा रही है। इसीलिए कोई भी दर्शन बहुदेववाद या सर्वदेववाद की जीवन–पद्धति से पीछे नहीं हट सका। यहां के प्रत्येक शिखर शिला, प्रस्तर, वृक्ष, जड़ी, बूटी, पशु, पक्षी, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, पिशाच, किन्नर, गन्धर्व, नाग एवम् सिद्ध गण आदि सभी को देवयोनि प्राप्त हुई है।

वास्तव में देवता पद–सृष्टि में प्रकाश की अभिव्यक्ति एवम् स्फुरण का वाचक भी है, द्योतक भी है। अंधेरे से उजाले में आने के लिए, पीड़ाओं के निरन्तर आघात से निकल कर एवम् सुख से जीने के लिए मान–वमन की जो चिकित्सा करता है वह प्रकाश ही है। किन्तु चिकित्सा करने के लिए उसे जीवन की संवेदनाओं के भीतर से होकर आना पड़ता है। उपनिषत्काल का ऋषि इसी कारण से प्रखर तापवाले ज्वालपुंज सूर्य को प्रार्थना करते हुए पहले उसे पोषण करने वाले नियामक ऋषि–पद से संबोधन करता है, फिर उसे ऋषित्व प्रदान करके आग्रह करता है कि वह अपने तेजस् के बहिर्मुखी प्रवाह को रोककर उसे अन्तःस्रावी संवेदनाओं का कल्याणतम रूप प्रदान करे। इन्हीं संवेदनाओं का नाम देवत्व है। यह देवत्व जब संस्कार द्वारा अनुभव किया जाता है तथा बाह्य पदार्थों पर आरोपित किया जाता है तब वह आरोपण मिथ्या या बलात्कारी नहीं होता, अपितु मिट्टी में फसल की तरह पदार्थों पर उगाया जाता है या अकुंरित किया जाता है। काल के अथक प्रवाह के साथ यह अंकुरण परिपूर्ण–भाव को प्राप्त कर लेता है। मिट्टी भी रहती है और धरती मां भी बन जाती है। मां एक औरत भी रहती है और सम्मानीय भी हो जाती है। यही देवत्व–प्रदान करने की प्रक्रिया का रहस्य है।

यह प्रक्रिया एकसाथ त्रिवेणी की तरह गुंथ कर प्रवृत्त होती है जिसमें एक व्यवस्था के अधीन होकर उपयोग, उपभोग एवम् उपासना के तीन सूत्र एकसूत्र में परिणत हो जाते हैं। इस देव–दृष्टि का व्याख्यान हमें इसलिए करना पड़ रहा है क्योंकि सर्वग्रासी कठोर एकेश्वरवाद की अपेक्षा इस सर्वदेववाद का ही हिमालय के "अनेकरूपरूपाय" चरित्र पर प्रभाव रहा है। क्योंकि उसकी प्रत्येक हिमानी, शिला, वनस्पति, ओषधि, वृक्ष, पशु, प्राणी, सरिता–सरोवर सभी तो किसी न किसी देवता से अधिष्ठित हैं। हिमालय का निवासी साधारण जन भी अपने देवता को जानता है। उसकी उपासना भी करता है। उसके उपयोगी भौतिक स्वरूप का आत्मनिर्वाह एवम् सुरक्षा के लिए उपयोग भी करता है और उन्मुक्त आकाश, प्रकाश एवम् जल के साथ उन्मुक्त जीवन का उपभोग भी करता है। दैन्य, दुःख, दारिद्र्य एवम् अनाचार यदि कहीं से आसुरी मानसिकता से आता भी है तो उसका उपचार देवत्व की सरल एवम् सूहज औषधि से कर लिया जाता है। शिव और पार्वती की अनगिनत रूप में शास्त्रकथाएं एवम् लोककथाएं हिमालय के

अन्तरात्मा से उठकर उभरा हुआ वहां के जीवन का दूर–दूर तक फैला हुआ विस्तीर्ण फलक है।

उपयोग की दृष्टि व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि है। हमारा दैनंदिन जीवन कैसे चले? उसकी नित्य की भूख, प्यास, निवास की समस्याएं कैसे हल हों? वहां के मनुष्य की भौतिक आवश्यकताएं कैसे पूर्ण होकर उसके जन्म और जीवन को सार्थकता प्रदान करें? ब्राह्मणग्रन्थों, पुराणों एवम् लोकाख्यानों में बार–बार इस बात का उल्लेख मिलता है कि देवताओं पर जब–जब असुरों या राक्षसों के आक्रमण होते हैं तो वे हिमालय को अपनी रक्षा–स्थली मान कर उस में शरण प्राप्त करते हैं। वहीं रहते हुए तपस्या द्वारा आत्मसाधन द्वारा फिर से एक नई ऊर्जा पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। सुरक्षा की दृष्टि से हिमालय भारत का रक्षाकवच तो रहा ही है किन्तु साधन–सम्पन्नता की दृष्टि से जीवन की संतुलित आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी उसने संकोच नहीं किया। केवल उपयोग को योग से शासित करने के लिए भगवान् शिव के जीवनदर्शन को एवम् नीतिधर्म को जरूर साथ जोड़ दिया।

इतिहास की दृष्टि से भी देखें तो पता चलता है कि भारत की समृद्धि को लोभी आंखों से देखने वाली आक्रान्ता जातियों से जितनी रक्षा पर्वतराज हिमालय कर सकता था उतनी उसने की। इसके अतिरिक्त वर्तमान में हिमालय में बसी बहुत सी ऐसी जातियां है जो भारत के मैदानों से असुरक्षा के दिनों में भाग कर हिमालय में आकर बस गईं और फिर वहीं की होकर रह गईं। भारतीय हिमालय के प्रत्येक पदार्थ को उन्होंने शिव और शक्ति के द्वारा शासित माना। वैदिक ऋषि ने तो यहां तक कह डाला कि ये विशाल एवम् गगन में विस्तीर्ण हिमश्रृंग जिस परम शिवपुरुष की महिमा का गान कहते हैं तथा जहां से अमृतरसतुल्य जल को सागर की ओर प्रवाहित करती हुई रसा नामक नदी के साथ मिल कर ईशान कोण (यानि उत्तरपूर्व) से अग्निकोण (दक्षिणपूर्व) तक फैली प्रदिशाएं बाहें उठाकर जिसके गुरुत्व का बखान कर रही हैं उसको हम क्या कह कर हवि प्रदान करें–

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

ऋग्वेद 10-121-4

इस स्थिति में इस भूलोक पर स्थित होने पर भी आकाश की गहराइयों को छूने वाले हिमालय के हिमशिखर शिवलोक में परिणत हो गए तथा वहा पर रहने वाले लोग परम भट्टारक शिव के प्रजागण हो गए। कैलास उस शिवपद के साम्राज्य में समस्त जीवों के स्वराज्य की राजधानी बन गया। स्वराज्य का अर्थ वह लोक हुआ जहां सम्पूर्ण जन बिना किसी बाहरी दबाव या संविधान के,

आरोपण के, अपनी कृति या कर्म का अनुशासन स्वयम् करता था। शिव ही सब के गुरु थे, जिनके सान्निध्य में रहते हुए सब लोग ऋषिपद के अधिकारी बने और हिमगिरि के हिम की पारदर्शिता ही वहां का निर्मल तत्त्वदर्शन बना। लोक और शास्त्र दोनों ने घोषणा की कि इस धरती के लोग भले ही धन–प्राप्ति की इच्छा रखते हुए अग्निदेवता से धनप्राप्ति की कामना करें, सूर्य की उपासना से आरोग्य या स्वास्थ्य की कामना करें, समुद्रशायी विष्णु से मोक्ष की कामना करें; किन्तु तत्त्वज्ञान–प्राप्ति की कामना तो भगवान् शिवगुरु शंकर से ही करनी होगी।

अग्निना धनमिच्छेत्तु ज्ञानमिच्छेत्तु शंकरात्
आरोग्यं भास्करादिच्छेत् मुक्तिमिच्छेज्जनार्दनात् ।।

इसलिए इस हिमालय के हिमशिखरों से, यहां के पर्यावरण के पदार्थों से जहां एक ओर नाना तत्त्वज्ञानों के स्रोत वैदिक, शैव, शाक्त और बौद्ध ज्ञानों की धारा, रूप में प्रवाहित होने लगे वहीं बड़ी संख्या में बसने वाली यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, असुर–सुर, राक्षस, नाग पिशाच आदि जातियों या यहां के गणदेवों के प्रयासों से जीवन के लिए उपयोगी और विशुद्ध आनन्द प्रदान करने वाली उपयोगी कलाओं और ललितकलाओं का विकास भी खूब हुआ। एक समय था जब हिमालय भारत की उत्तर दिशा में स्वर्ग का ही अपर पर्याय था जहां सभी के 'स्व' की रक्षा और संवर्धन का सहज अधिकार सभी को था। योगियों की योगसाधनाओं को फलने के लिए जहां मुक्त वातावरण मिल रहा था वहीं उपभोग–प्रधान यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, असुर आदि गणों के आनन्दवाद को भी उतना ही प्रश्रय मिल रहा था; जिससे एक ऐसे समाज की सृष्टि हुई जो योग और भोग के समन्वय पर पल रहा था। योग उसकी एक मुट्ठी में था तो भोग दूसरी मुट्ठी में – *"योगश्च् भोगश्च करस्थ एव"।*

हिमालय की इस विश्ववारा संस्कृति में बाधा डालने के लिए यदि कोई वृत्रासुर या रावण नीचे से उठकर ऊपर की ओर आया और इसमें उन्होंने क्षोभ पैदा किया तो शिवगुरु ने उनको अनुशासन में लाने के लिए निग्रह– शक्ति अथवा दण्डशक्ति का प्रयोग किया। पौराणिक आख्यान बताते हैं कि वृत्रासुर ने अपनी असुरशक्ति के प्रयोग से यहां की बहती जलधाराओं को अपने व्यक्ति के नियंत्रण में रोक कर कैद कर लिया था। देवराज इन्द्र ने वज्र के प्रयोग से वृत्र का वध करके बंधे हुए प्रवाहों को फिर से मुक्त किया क्योंकि मुक्त ता यहां के जीवन का मूल स्वर है।

एक दूसरे उपाख्यान के अनुसार शिवगुरु की कृपा से अनेक प्रकार की वैज्ञानिक शक्तियों को प्राप्त करके सप्तद्वीपाधिपति लंकेश्वर रावण मैदानी क्षेत्रों को पारकर हिमालय पर अपने भुजबल के अहंकार को आजमाने के लिए उस

हिमानी या ग्लेशियर को ही उखाड़कर ले जाने लगा जिस पर शिव और पर्वतपुत्री पार्वती संवाद–रत थे। हिमानी के हिल उठने से अकस्मात् पार्वती को आंतकित देखकर शिव ने अपने पैर के अंगूठे से जरा दबाया और रावण की समस्त भुजाओं का बल उस हिमानी के नीचे पिस गया। पीड़ित रावण भुजबल के अंहकार को वहीं छोड़ कर भगवान् शिव की स्तुति का गान करता हुआ वापस भागा।

इन घटनाओं को इतिहास कहिए, पुराण कहिए या माइथॉलोजी उससे हिमालय की संस्कृति के उपाख्यान में जो पदार्थ है उसको समझने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। केवल रुचिभेद की समस्या शब्दों की उलझन का कारण बन जाती है। किन्तु एक बात स्पष्ट रहती है कि भारत की संस्कृति के मूल्यों और मर्यादाओं के निर्माण में हिमालय का योगदान सर्वोपरि है। आसुरी विनाशलीला के विरोध में यदि कहीं संरचनात्मक, सहज जीवन की रक्षा के लिए प्रयास हुए तो वे भारत के इसी भूभाग पर हुए। प्राचीन साहित्य से संभवतः सर्वप्रथम इसका प्रसंग उपनिषदों में खुलकर आता है। केनोपनिषद् में इन्द्र, अग्नि, वायु देवताओं के मोहभंग की एक बड़ी ही मार्मिक आख्यायिका मिलती है जो एकदम उपयुक्त है। असुरों के साथ युद्ध में विजय पाकर तीनों देवता अपनी अपनी शक्तियों एवम् कारनामों की डींग हांकने में व्यस्त थे कि इतने में पूर्व हिमालय पर भव्य आकृति वाला यक्ष प्रकट हुआ। तीनों देवताओं में से यक्ष ने विजयी अग्निदेव के आगे एक तिनका रख कर कहा कि इसे जलाओ। सम्पूर्ण बल लगाकर भी अग्निदेव उसे नहीं जला पाने से लज्जित हो लौट गए। इन्द्र ने वायुदेव को यक्ष के पास भेजा। वायु भी उस तिनके को नहीं हिला पाए। तब देवराज स्वयम् परीक्षा के लिए आगे बढ़े तो देखा कि यक्ष अन्तर्धान हो गया। स्तम्भित देवराज ने हिमालय के पूर्वकोण में प्रकट हुई भव्य नारीमूर्ति को देवीरूप में देखा और पूछा कि वह यक्ष कौन था? हिमपुत्री उमा पार्वती ने इन्द्र को समझाया कि तुमने जिसे देखा था वही परमपुरुष ब्रह्म था, जिसने तुम्हें विजय दिलाई। तुम्हारा अपना विजयमद मिथ्या है। सामवेद के केनोपनिषद् की यह कथा इस ओर स्वच्छ संकेत करती है कि उमा हैमवती के रूप में समस्त विद्याओं की प्राणभूता ब्रह्मविद्या का अवतरण प्रथम बार देवसमाज के बीच हिमालय के एक शिखर पर ही हुआ। यह ब्रह्मविद्या विज्ञानमय होकर भी विज्ञान का अतिक्रमण कर जाती है। इसलिए योगमय होने के कारण समस्त भौतिक जड़ पदार्थों को भी चैतन्य की ही विभूति मानती है। अन्यथा श्रीकृष्ण जैसे योगेश्वर गीता में (अ० 10) स्वयम् को जगत् के समस्त पर्वतों में से पर्वतराज हिमालय नहीं कहते ("स्थावराणां हिमालयः") और कालिदास उसे देवतात्मा नहीं कहते (कुमारसम्भव, 1-1,)

मार्कण्डेय पुराण में भी विज्ञान–शक्ति को दैत्यों और दानवों के क्रूर एवम् उन्मादी हाथों से बचाकर सुरक्षित करने के लिए देवी का प्राकट्य हिमालय पर ही हुआ। एक दानव हिमालय के एकान्त में देवी के रूपालोक को नारीदेह में देखकर

उत्तेजित हो उठता है और तुरन्त जाकर अपने सम्राट् शुम्भ–निशुम्भ को उसका अपहरण करने का युक्तिपूर्वक आग्रह करता है। इस प्रसंग में आधुनिक नारीआन्दोलन की प्रेरणा पश्चिम से लेने वालों को ज़रा पूर्व की इस देवी की उक्ति को भी अवश्य देख लेना चाहिए जिसे उसने राज्य की सत्ता के मद में चूर दानवेंद्र को, उसके विवाह–प्रस्ताव भेजने के उत्तर में उसे भेजा है – "जो मुझे युद्ध में जीतने की सामर्थ्य रखता है, जो मेरे स्त्रीदर्प या अस्मिता का खण्डन कर सकता है, जो मेरे समान ही बल रखता है वह मेरा पति हो सकता है।"

एक अकेली तपस्यारत स्त्री की इस एक घुड़की ने सकललोक–जयी असुरराज के पांव तले की मिट्टी खिसका दी। क्योंकि समस्त आसुरी शक्तियां मिलकर भी ब्रह्मबल के द्वारा दिया एक झटका सहन नहीं कर सकतीं। भारत के स्वातन्त्र्यपूर्व के सत्याग्रहियों का भी संकल्प यही था कि स्वतन्त्र होने के बाद भारत अपनी ब्रह्मविद्या के बल पर विज्ञान को आसुरी–भाव से बचाने की दिशा में अग्रसर हो। हिमालय उस विद्या की सदैव से बृहत् प्रयोगशाला रहा है अतः यहीं से मानवता की सांस्कृतिक क्रांति का अभिनव आरम्भ हो। क्योंकि पाश्चात्य विज्ञान ने विश्वबाजार में जो कुछ माल लाकर मनुष्यता के आगे रख दिया है उसे समेटने में बहुत कठिनाई भी तो आ रही है।

विश्व के पर्वतों के कुल में से भारत का जो पर्वतकुल है उसमें प्राचीनकाल से प्रायः ग्यारह पर्वतों का समावेश रहा है जिनका नाम हिमवान्, मेरु, गोवर्धन, क्रौंच, चित्रकूट, हेमकूट, महेन्द्र, मलय, सह्याद्रि, इन्द्रकील और पारियात्र है। इन सभी पर्वतों का अपना अपना उपयोगी और धार्मिक महत्त्व रहा है। किन्तु तत्त्वज्ञान की पराकाष्ठा की दृष्टि से एवम् उपयोगिता की दृष्टि से भारतीय संस्कृति की संरचना में हिमवान् का महत्त्व उत्कृष्टतम रहा। हिमालय की नदियों के द्वारा लाई हुई मिट्टी के साथ वैदिक, बौद्ध, शैवाद्वैत, शाक्तदर्शन जैसी शाश्वत चिन्तनधाराओं ने भी भारत के मैदानों को सींचा। कालिदास जैसे महाकवि ने अपने कुमारसम्भव महाकाव्य में तो अपने बोध और संवेदना को केवल हिमालय के उच्चतम शिखरों तक ही सीमित रखा है तथा शिवपार्वती की प्रेमसाधना की फलोत्पत्ति को देवताओं के हितसाधन तक ही मर्यादित रखा। किन्तु मेघदूत की रचना में उसने भारत के साधारण जन की चेतना को, सागर– जल की चेतना को, सागरजल की नीचाइयों से उठे मेघ के माध्यम से भारत–यात्रा करवाते हुए उनकी सफलता को हिमालयदर्शन की ऊंचाइयों से स्पर्श करवाकर यहां तक कह डाला कि "हे मेघ! यह हिमालय साक्षात् शिवलोक है जो भगवान् शिव के ठहाकों–भरी हंसी का हिमपात है, हिम की बौछार है, जहां पहुंच कर लोग निष्पाप जीवन को जीते हुए निम्नस्तर के जीवन की ओर फिर कभी नहीं लौटते।" कहने की आवश्यकता नहीं कि इस हिमगिरि के प्रत्येक पर्व या चोटी के स्तर पर जीने वाला लोकजीवन, उस

लोकजीवन की कलाएं, काव्य और संगीत सभी कुछ व्यवहार में भी शिवमय होकर चलता गया। शिव–पार्वती के संवाद का ही उत्पादन बन गया।

किन्तु, वर्तमान के सन्दर्भ में हिमालयी संस्कृति का आकलन उपयुक्त उपासना की दृष्टि से न होकर वैज्ञानिक उपयोगितात्मक दृष्टि से है। जिसके अनुसार इस पर्वतस्थल के हमें चार नाम प्राप्त होते हैं–हिमालय, हिमाद्रि, हिमाचल, हिमवान्। चारों का अर्थ प्रायः एकसा ही हैं हिम का पुंजीभूत रूप जो भारतवर्ष की उत्तरी सीमा का निर्माण करता है। इसकी गौरीशंकर चोटी की ऊंचाई 29,140 फीट है, नागा शिखर 26,140 फीट, कंचनजंघा 8,585 मीटर तथा नंदादेवी, गोडविन आस्टिन की ऊंचाई 8,611 फीट है जो सर्वोच्च है। पूरे हिमगिरि की लम्बाई प्रायः 1500 मील और चौड़ाई प्रायः 175 मील मानी गई है। इस पर्वतमाला का विभाजन दो शाखाओं में कर दिया गया है – पूर्वी और पश्चिमी। पूर्व में पटकोई, नागा, लुशाई जयंतिया, खासी तथा गारो नाम की पहाड़ियां हैं। पश्चिम में कोह सफेद, हिन्दुकुश, सुलेमान तथा किरथर पर्वत–शृंखला है, जो क्रमशः नीचे होती हुई 6000 फीट की ऊंचाई तक रह जाती है। इन्हीं के मुख्य दर्रे जैसे कि खैबर, कुर्रम, टोची, गोमल तथा बोलान दर्रे हैं। बोलान दर्रा ही बलोचिस्तान को सिन्धप्रांत से मिला देता हैं। प्रायः इन्हीं दर्रों से भारत का दूसरे देशों से व्यापार भी होता तथा भारतीय सुरक्षा के दुर्बल हो जाने पर विदेशी आक्रमण भी। समूचे भारतीय हिमालय की उच्चता के आधार पर उसके तीन वर्ग मान लिए गए हैं। प्रथम वर्ग में शिवालिक की पहाड़ियां तथा उसके पीछे की घाटियां आती हैं। तदनन्तर 5000 हजार फीट की ऊंचाई से लेकर 1000 फीट की ऊंचाई की पर्वत–शृंखला आती है। तीसरे वर्ग में हिमालय की वे श्रेणियां जो 10000 ऊंचाई फीट की ऊंचाई से भी परे की हैं।

उपयोगिता की दृष्टि से हिमगिरि भारत को सुरक्षा के साथ–साथ उत्तरी ध्रुव से आने वाली बर्फीली हवाओं से भी रक्षा प्रदान करता है। समुद्र से आने वाले मेघों का रास्ता रोक कर उन्हें भारतीय क्षेत्रों में बरसने के लिए विवश भी करता है। समृद्ध वनसम्पदा एवम् जड़ीबूटियों तथा धातुसम्पदा से आयुर्वेद आदि चिकित्सा–पद्धतियों को विकसित करने में सहायता भी करता आ रहा है। इसकी नदियां बर्फीले पर्वतशिखरों से निकलने के कारण सदानीरा होकर वर्ष भर बहती हैं, जिनके कारण भारत के बड़े बड़े तीर्थ–स्थानों एवम् महानगरों की संस्कृति की रचना हो सकी और कृषि–संस्कृति का विकास भी भारत में सम्पूर्ण रूप से विकसित हो सका। और हर बार नई से नई मिट्टी के नदियों के माध्यम से आते रहने से एक समय भारत का यह भी स्वरूप था कि बिना हल के कर्षण या न जोतने पर भी पृथिवी अन्न देती थी। चिन्तनमात्र से ही लोगों को सहज में अन्न प्राप्त हो जाता था। गउएं अपने दूध से गृहस्थ की सब कामनाओं को पूर्ण करने

में समर्थ थीं एवम् पेड़ों से मधु टपकता था –

अकृष्टपच्या पृथिवी सिद्ध्यन्त्यन्नानि चिन्तया।
सर्वकामदुघाः गावः पुटके पुटके मधु ।। (महाभारत)

प्राचीन वैदिक ग्रंथों के आधार पर जयशंकर प्रसाद ने अपनी कामायनी नामक महाकाव्य की रचना में आधुनिक संस्कृति को जीवन के प्रति सही दृष्टि पाने के लिए तथा अपने को मिथ्याचार से मुक्तकर 'जीओ और जीने दो' के वास्तविक सिद्धान्त की ओर लाने के लिये एवम् द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से दिशाहीन लोगों को समरसता सिखाने के लिए; अथ च जलप्लावन से नष्ट हुई पथभ्रष्ट जीवन–पद्धति के शव पर एक नई मानवता की गाथा का प्रारम्भ करने के लिए मनु और श्रद्धा की समन्वित संस्कृति को उगाने के लिए हिमालय के शिखरों की पृष्ठभूमि को चुना। ''हिमगिरि के उत्तुंग शिखर" से कथा आरम्भ करके उसका तत्त्वदर्शन समझाते हुए कहा,

"ऊपर हिम था, नीचे जल था एक तरल था, एक सघन।
एक तत्त्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।।
– कामायनी, सर्ग।

प्रसाद ने तो अपनी भारतीय संस्कृति की सुरक्षा के आन्दोलन की शुरुआत भी अपने जन्मस्थान परम पुण्य तीर्थ काशी से न करके उसके लिए हिमाद्रि के तुंग यानी ऊंचे शिखरों को चुना–

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती
अमर्त्य वीरपुत्र हो दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो।

कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि समस्त भारत की प्रतिभाओं का मूल आकर्षण और प्रेरणा–केन्द्र हिमालय रहा है। उसने जीवन को म्लेच्छता से काटकर भारत को एक अद्वितीय संस्कृति प्रदान की है जो न तो नस्लवादी रही, न अर्थहीन धार्मिकता वा सत्ता से शोषण की समर्थक।

जो लोग दलितों या पिछड़े वर्गों के शोषण की परम्परा को अग्रसर करते रहे उन्होंने हिमालय और उसकी नदियों के नाद को न सुना, न समझा। क्योंकि हिमालय पर जो भी पदार्थ पैदा होते थे या वहां जो भी घटित होता है उसका विनियोग सदा परहित के लिए ही होता है। हिमाचल की प्रकृति का दर्शन एवम् प्रयोग जिस मानसिकता का निर्माण करता है वह जीवन में पारदर्शिता के दर्शन को पाने की अधिकारिणी है। ऋग्वेद के पवित्र मन्त्रों में बार बार आने वाला 'हिम' शब्द का प्रयोग सिद्ध करता है कि वैदिक समाज की नैतिक एवम् चारित्रिक

पारदर्शिता की रचना में पवित्रता एवम् प्रत्येक मंत्र के साथ 'शांति' पद का प्रयोग कोई आकस्मिक नहीं है। वह सब इस बात का प्रमाण है कि मानव–मन अपनी अन्तरंग आंखों से अपने आस पास खुले आकाश को, निर्मल हिमहार जैसी ज़लधारा को, हृदय को हर लेने वाली हरीतिमा को जब बार–बार देखता है तो उसकी चेतना का स्वरूप भी वैसा ही हो जाता है। इसलिए मन्त्रदृष्टि प्राप्त करने के लिए दूर देशान्तर से भी लोग हिमालय की ओर आते रहे हैं। आधुनिक भारत के पुरोधाओं में से गुरुगोबिन्दसिंह, स्वामी विवेकानंद, दयानन्द, रामतीर्थ, सुभाषचन्द्र बोस जैसे महामना लोग अपनी प्रेरणाशक्ति का प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिए हिमाद्रि की गुफाओं की शरण लेते रहे।

लेकिन वर्तमान में, जबकि समस्त लोक की स्थितियां ही बदल चुकी हैं और निरन्तर बदल रही हैं उसमें भारत की प्रचीनता को ही लोग संशय की दृष्टि से देखने लगे हैं। बढ़ती हुई जीवन की आर्थिक सामाजिक भौगोलिक विषमताओं के बीच हिमालय के शिखरों पर खूनी गोले आग बरसाते दृष्टिगत होते हैं। भारतीय मानसिकता समान–मनस्कता का मन्त्र भी खो चुकी है। सत्तालोलुप अर्थतन्त्र ने सारे मानवीय मूल्यों को ढेर करने की सामर्थ्य प्रकट कर दी है। अतः फिर से लोकजीवन की विपन्नता और आपसी वैमनस्य को मिटा देने वाले एक मन्त्र की हिमालय की अन्तरात्मा से भारतीय मानस को अपेक्षा है। उस मन्त्र की शक्ति ज्ञान, विज्ञान, कला, शिल्प को नई दृष्टि देने की होनी चाहिए जो एक सूत्र की तरह भौतिकी, रसायन, प्राणिविज्ञान, वानस्पतिक बोध, भूगर्भ–विद्या, अन्तरिक्ष–विज्ञान एवम् समस्त भाषाओं एवं नीति–विज्ञानों को एक समन्वित सूत्र में पिरो सके।

हिमालय की जीवनपद्धति की विविधता तथा उसकी सामाजिक एवम् आर्थिक समस्याओं का अनुसंधान तथा वहां के विविध भाषा या बोलियों के स्वरूपों का उपयोगी एवम् वैज्ञानिक अनुशीलन, वहां के लोक साहित्यों की चेतना का सही मूल्यांकन, चिकित्सा–जगत् में उसकी एक एक वनस्पति का गुणपरीक्षण, बदले हुए परिप्रेक्ष्य, बदले हुए परिप्रेक्ष्य में उसकी भौगोलिक मर्यादाओं का नए सिरे से रेखांकन, उसके नृत्य–गीत संगीत की परम्परा आदि अनेकानेक पक्षों के प्रति एक सशक्त जागरूकता पैदा करने के दायित्व का निर्वाह होता रहना चाहिए।

पुराणों की वैष्णव दृष्टि और सिख–दृष्टि

ऋग्वेद के दशम मण्डल में विश्वरचना और समाज–रचना के संदर्भ में पुरुषसूक्त में जब ऋषियों ने यह कहा कि इस विराट् पुरुष का ब्राह्मण मुख था। और राजन्य यानि राजा बाहें था, तो प्रश्न उठता है कि इस मंत्र–पंक्ति का शब्दार्थमात्र तो कुछ भी नहीं कहता कि ब्राह्मण श्रेष्ठ था या राजन्य, वैश्य अथवा शूद्र। मुख का काम मुख और भुजाओं का काम भुजाएं, जांघों का काम जांघें तथा पैरों का काम पैर करेंगे। वेदों में यज्ञ के संदर्भ में यह बात भी कही गई कि अग्नि देवताओं का मुख है एवम् सबसे आगे रहकर हित करने वाला पुरोहित भी है। समन्वय को देखने वाले द्रष्टा ऋषियों ने भौतिक अग्नि, वायु और आदित्य इन तीनों में से अग्नि को लोगों के अत्यधिक निकटस्थ होने के साथ साथ प्रकाश और क्रिया का समन्वित रूप होने से संभवतः श्रेष्ठ माना और सभी वैदिक कर्मों में उसका प्राधान्य हो गया। अग्नि–प्रधान यज्ञ–पुरुष भी ज्ञान और क्रिया का समन्वित रूप होने से कर्म और ज्ञान का सम्पिण्डित रूप था। इस सम्पिण्ड में से उठते हुए दो सिरों की पृथक् कल्पना उपनिषदों में उठने लगी थी।

किन्तु ऋग्वेद में जब मुख की बात कही गई होगी तो कोई कारण तो रहा होगा। अन्यथा श्रेष्ठता ही सिद्ध करनी थी तो ब्राह्मण को "ब्राह्मणोऽस्य शिर आसीत्" कह करके सिर या चिन्तक मस्तिष्क कहा जा सकता था। इस विषय में अर्थ करते समय सायण आदि भाष्यकार कुछ भी खुल नहीं पाते कि आखिर ब्राह्मण को ब्रह्मपुरुष का आंख, नाक, कान आदि कुछ भी न कहकर मुख क्यों कहा ? गुह्य योगसाधनाओं के अनुसार पांच–भौतिक सृष्टि का आरम्भ मुख से या कण्ठ में स्थित विशुद्धिचक्र के तत्त्व आकाश से आरम्भ होता है। किन्तु यह धारणा ऋषिमानस में भले ही स्फुट रूप में उठी हो किन्तु उपनिषदों में यह बात अवश्य ही स्फुट हो गई थी कि मुख कर्मेन्द्रिय वाक् और ज्ञानेन्द्रिय रसना का संयुक्त स्थल है। क्रियायोग और रसबोध के इस सन्धिस्थल पर ही क्या वैदिक ब्राह्मण खड़ा था? ऋग्वेद का ऋषिमानस या कवि जो केवल नए युग का द्रष्टा था वह साम, यजु और आथर्वण मंत्रों में युगस्रष्टा बन रहा था। सुव्यवस्थित समाजरचना और एक नए इतिहास की सृष्टि करना चाहता था। वह सम्पूर्ण सम्भावनाओं और क्षमताओं को समेटे हुए सम्पूर्ण बलों का स्वामी था। महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्म पर्व के 188वें अध्याय में ऋषि भारद्वाज ने कुतूहलवश महर्षि भृगु से यह पूछा था कि यदि चारों वर्णों (जाति और रंग) में एक वर्ण का दूसरे वर्ण के साथ रंगभेद है, तब तो सभी वर्णों में अनेक रंग के मनुष्य होने के कारण वर्णसंकरता ही दिखाई पड़ेगी। उत्तर में महर्षि भृगु ने कहा कि "भारद्वाज! रंगभेद के कारण कोई भेद नहीं होता।

पूर्वकाल में सभी लोग ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण ही थे। लेकिन धीरे धीरे स्वधर्म या ब्राह्मणत्व से विमुख होते होते कर्मों के कारण क्षत्रिय वैश्य शूद्र में परिणत हो गए। स्वधर्म से विमुख होने का कारण भृगु जी ने लोभ बताया है–

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः।।

प्राचीन इतिहास एवं साहित्य के अनुशीलन से यह तो निश्चित ही पता चल जाता है कि ब्रह्मबल, क्षात्रबल, ज्ञानबल या कर्मबल इनका आधारभूत तत्त्व एक ही था। इतिहास के स्तर पर इसके विभाजन की प्रक्रिया उपनिषत्काल से कुछ पहले ही हो गई। विभाजन दूर तक चलता गया। वसिष्ठ और विश्वामित्र के विभाजन के संघर्ष से लेकर परशुराम और सहस्रार्जुन, राम और रावण, द्रोणाचार्य और द्रुपद, अश्वथामा और धृष्टधुम्न या पाण्डव, महात्मा बुद्ध और चाणक्य–सम्प्रदाय, जैन महावीर और ब्राह्मणदृष्टि, शैव–शाक्तदृष्टि और वैष्णवदृष्टि, सिख गुरुओं के प्रथम पांच गुरुओं की वैष्णव दृष्टि तथा बाद के गुरुओं का अकाल पुरुष और शक्तिवाद की ओर झुकाव, ये सभी भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाएं संकेत करती हैं कि ज्ञान और कर्म की दृष्टियों के इस द्वन्द्वात्मक इतिहास से विलक्षण ज्ञान और विलक्षण कर्म का उदय होता रहा। लेकिन यह हुआ तभी जब दोनों दृष्टियां एक तीसरी दृष्टि या गुरुदृष्टि से समन्वित हो उठीं। इसी कारण वैदिक और पौराणिक काल में धनुर्विद्या–निपुण ब्राह्मणों के शिक्षण के अन्तर्गत विश्वविख्यात क्षत्रिय धनुर्धर हुए। वीरभाव या पराक्रम–रस का जो आदर्श क्षात्रबल में संचारित हुआ उसी ने वैष्णव दर्शन के कम से कम आठ नौ अवतारों की सृष्टि की।

दूसरी ओर ज्ञानदृष्टि, इक्ष्वाकु, मनु, जनक, विश्वामित्र आदि के माध्यम से भौतिक विजयों से आध्यात्मिक विजयों की ओर बढ़ रही थी। सम्भवतः वे किसी वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, वेदव्यास जैसे तत्त्ववेत्ता ब्राह्मणों को समाज में प्रतिष्ठित करना चाहते थे जो "सर्वभूतहिते रताः" हों। जब इसमें कमी आने लगी तो बुद्ध और महावीर स्वयम् अध्यात्मगुरु के रूप में उतरे। फलतः आचार्य शंकर जैसे तत्त्वगुरु का उदय हुआ। दूसरी ओर ब्राह्मणवादी रामानुज आदि ब्राह्मण वैष्णवाचार्यों ने आचार्य शंकर के कर्मविरोधी बौद्ध–छायाग्रस्त दर्शन को अस्वीकार कर राम और कृष्ण जैसे वीर क्षत्रिय योद्धाओं को लोक के आदर्श रूप में उद्धृत किया। वाल्मीकि और तुलसी ने राम को, व्यास और सूर ने कृष्ण को, भारत की आदर्श क्षात्रशक्ति के रूप में अंकित किया।

इस प्रकार ज्ञान और कर्म का विरोध यहां की परम्परा में एक लीलामात्र या बात बढ़ाने के लिए है वास्तव नहीं है। विरोध इतिहासदृष्टि से पैदा होता है जो जीवन–चेतना को भी जड़ वस्तु के समान तथ्यमात्र समझकर केवल विश्लेषित

करके द्वन्द्व खड़ा कर देती है। एकांगी और समन्वयहीन इस दृष्टि को अकालदृष्टि के बगैर अनन्तता के संदर्भ में खड़ा नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टि के आलोक में सिख गुरुओं के इतिहास को सही समझा जा सकता है। सिखों का मूल मन्त्र अकाल पुरुष का स्वरूपलक्षण प्रस्तुत करता है कि वह अकाल–मूर्ति, अयोनि, स्वयम्भू, अभय, अवैर सर्वकर्तृत्वशक्ति–सम्पन्न तीनों कालों में सत्स्वरूप है। परमेश्वर की कर्तृत्वशक्ति या "करतार" की भावना को कुछ लोग इस्लामी भावना कहते हैं जो कि उचित नहीं लगता। क्रिया या कर्तापन काल के अन्तर्गत होता है। वह क्रियाअकाल या कालातीत तत्त्व के अन्तर्गत ही है उससे भिन्न नहीं। वेद का पुरुष–तत्त्व, जिसने अपने ही अंगों की बलि से सृष्टि रचना की थी, जिसने सृष्टि यज्ञ का आरंभ अपने अंगों से किया था, और अब तक जिसके महत्वपूर्ण कर्म के रूप में प्रत्येक यज्ञकर्म में 'खांडे' यानि खण्डों में सृष्टि को विभाजित या व्यवस्थित करने वाले खड्ग की पूजा की जाती है, वह खड्ग व्यवस्थापक–शक्ति का प्रतीक रहा और बलिपुरुष की अर्थ–शून्यता को अर्थ देकर उसे कृतार्थ करता है। वह शक्ति उसी की है, उसी से उद्भूत है, उसी में स्थित है। उस खांडे का स्मरण करके ही सृष्टि–क्रिया सम्भव हो सकी। ईशोपनिषद् का ऋषि कहता है कि "जो अकाय, अव्रण, स्नायुरहित, पापरहित शुद्ध कवि मनीषी स्वयंभू है उसी ने कालतत्त्व और उसमें निवास करने वाले लोगों के लिए यथातथ रूप से कर्तव्यों अथवा पदार्थों का विभाजन किया। वह ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का अद्भुत सन्धिस्थल है। वैष्णवों ने उसे काल भी कहा और कालातीत भी। "कालातीतं कालकरालं करूणार्दम्। "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे। कालश्च अकालश्च। अथ यः प्रागादित्यात् स अकालोऽकलः। अथ य आदित्याद् (अर्वाक्) स कालः सकलः। एवं हि आह–कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महात्मनि। यस्मिंस्तु पच्यते कालः यस्तं वेद स वेदवित्।।" मैत्रायणी उपनिषद् 7–12

वस्तुतः भारतीय इतिहास के मध्यकाल में वैष्णव चेतना का जो प्रवाह चला उसका प्रमाण श्रीमद्भागवतमाहात्म्य और कबीरपंथ दोनों देते हैं। राष्ट्र के दक्षिण–पश्चिमी छोरों से उठकर वैष्णवसाधना के मेघ जो भक्तिसंगीत का गर्जन करते चले, तो मार्ग के अन्य सभी तत्त्वों को अपने में समेटते हुए वे पूर्वी, उत्तरी एवं पश्चिमी भारत पर छा गए और खूब बरसे। जिसके फलस्वरूप, पूर्व बंगाल में चैतन्यभक्तिसम्प्रदाय, उत्तर में पंजाब में सिखसम्प्रदाय एवं उत्तरप्रदेश में कबीरपंथ आदि, पश्चिमी गुजरात एवम् महाराष्ट्र में संत ज्ञानेश्वर, रामदास आदि की विष्णु–भक्ति की फसल लहलहाने लगी। कबीर तो इस भक्ति के प्रकाश के सातों द्वीपों और सृष्टि के नौ खण्डों में फैल जाने की बात कहते हैं।

हम केवल पंजाब की ही बात लें तो पता चलेगा कि वेदों में जिसे यज्ञपुरुष कहा गया था वह विष्णु ही था जो पंजाब से ही दक्षिण में पहुंचा था। वह फिर लौटा था। उसी के दश अवतारों का गुणगान करके सम्पूर्ण भारत कृतकृत्य हो रहा था।

इसी यज्ञपुरुष विष्णु के दश अवतार वैदिक और तांत्रिक दश महाविद्याएं थी। चार वेद और छः वेदांग जिनका इस राष्ट्र में शताब्दियों तक आवाहन चलता रहा उन्हें दक्षिण ने मूर्तिकला में प्रतिबिम्बित कर हमें लौटाया और मन्दिरों में प्रतिष्ठित किया। भारत की राजनीति भले ही प्रादेशिक रही हो किन्तु संतवाणी सम्पूर्ण राष्ट्र और विश्व–हित की बात करती है। प्रादेशिकता का उसमें गन्ध भी नहीं। सम्पूर्ण राष्ट्र और धरती ही विष्णुक्रान्ता भूमि है यह घोषणा आर्यवर्णों ने पंजाब में खड़े होकर की थी। क्या गज़ब का उन लोगों का धरती के साथ स्पर्श था। मिट्‌टी को देह पर मल कर गाते थे।

"अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे,
शिरसा धारिता देवि रक्षस्व मां पदे पदे।। (महानारायणोपनिषद्, 1–37)

यह विष्णुक्रान्ता क्या थी? क्या वही, जिसे वामन विष्णु यानि मनुष्य ने अपने पैरों से मापा था। विराट् विष्णु की त्रिपाद् विभूति यानि द्युलोक, अंतरिक्ष एवं भूमि को इस वामन ने ज्ञान, इच्छा और क्रिया से पूरी तरह अपने दिव्य–दर्शन में समेट लिया था। जिस प्रकार सूर्य अत्यन्त विराट् अग्निपुंज होने पर भी दूरी के कारण वेदों में वामन मनुष्य कहा गया था उसी तरह यह मनुष्य का आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म अथवा वामन होने पर भी समाधि में देखने पर व्यापक विराट् विष्णु दिखाई दिया। अतः विष्णु और वामन एक ही परमसत्ता के दो व्यवहार–संगत रूप हैं, ऐसा वैष्णवों का बोध है। आरम्भ में वैष्णव लोग अपना कर्तव्य न केवल भूमि की रक्षा एवं व्यवस्था को ही अपना लक्ष्य मानते रहे बल्कि "त्रैलोक्यत्राणसहिते नारायणिनमोऽस्तु ते" को आधारमंत्र मानकर संपूर्ण त्रैलोक्य की रक्षा का ही दायित्व अपने पर लेते रहे।

विष्णु के यह दस अवतार समयानुकूल परिस्थिति में अपने को ढालकर विश्वहित में ही संलग्न रहे हैं। जहां तक उनके कर्मों का प्रश्न है वे विद्याबल और धर्मबल दोनों में समान रूप से प्रतिष्ठित हैं। उनको प्रधानतः दश या चौबीस की संख्या तक सीमित रखने के पीछे कोई दृष्टि रही है। सिख सम्प्रदाय में क्या उसी वैष्णवचेतना के पुनर्नवीकरण की प्रक्रिया में गुरुओं को दश संख्या तक निश्चित कर दिया तथा दशम गुरु ने पुराणों और तत्कालीन वैरागी संतों की परिकल्पना में उतरे हुए नृसिंह अवतार को या नरसिंह की चेतना को सिख के जीवन में उतारना चाहा?

आखिर सिख की परिकल्पना का आधार कहीं तो खोजना होगा। व्यर्थ में इस्लामी मिश्रण से जोड़ना भूल है। दसों ही गुरुओं का क्षत्रियत्व सिद्ध करता है कि परम्पराप्राप्त क्षात्रधर्म को उसके सच्चे अर्थों में पुनरूज्जीवित किया जाए। क्षत्रियत्व का आधारभूत शौर्य जो भारतीय इस्लाम में क्रूरता का ही पर्याय रहा वह गुरुओं की दृष्टि को कैसे स्वीकार्य होता? समरशूर और क्रूर दो भिन्न दशाएं हैं। समरशूर जो शुद्ध वीर–रस का उपासक है वह किसी भी स्थिति में दूसरी जातियों के स्त्री–पुरुषों,

बच्चों एवं अनाथों का धर्म–परिवर्तन बलात्कार से कर ही नहीं सकता। न बात बात में हिंसा और लोभ से प्रेरित होता है। वैष्णव चेतना का एक वैशिष्ट्य रहा है कि यदि किसी विशिष्ट विधर्मी का भी उसके स्वधर्म में हिंसारहित मानवीय परिपालन है तो वह उसे अपना लेता है। इसी से वैष्णव मुसलमानों की परम्परा सम्पूर्ण भारत में है। वैदिक परम्पराओं को पुनरूज्जीवित करने का स्वप्न प्रत्येक हिन्दु आर्य का रहा। उसे क्रियान्वित करने का यत्न भी समय समय पर हुआ। किन्तु विष्णु के अवतारों द्वारा वेद की रक्षा एवं उद्धार कर्म को बहुत ही महत्त्व दिया गया है। क्योंकि वेद एवं वैदिक साहित्य एक संपूर्ण समाजव्यवस्था एवं कर्मज्ञान–व्यवस्था का आदर्श रूप है। यज्ञ को जब विष्णु कहा गया तो कर्म और ज्ञान के प्रतीक वेद द्वारा खड्ग चक्र, गदा पद्म शंख आदि प्रतीकों से उसकी मूर्तियों को सुसज्जित भी किया गया। यह चेतना जिसे मूर्तिकार अब तक पत्थरों में ढाल ढाल कर जनमानस को प्रेरित कर रहे थे उसी चेतना को क्रियान्वित होते हुए देखने के लिए दशम गुरु ने उसे जीवित पर अचेत मनुष्यों में उतारने का यत्न किया।

शाक्त चेतना और विष्णु–चेतना जो दो भिन्न दिशाओं में काम कर रही थीं उनका एक व्यक्ति की चेतना में जब समन्वय हुआ तो सही सिख–दृष्टि का विकास हुआ। इसके पीछे चाहे हिन्दु जाति के महान् उत्पीड़न की कथा हो, जोर जुल्म का इतिहास हो, काश्मीरी पण्डितों द्वारा अत्याचार से बचाने की उत्प्रेरणा रही हो, समन्वय तो हुआ। फलतः शाक्तों के प्रतीक धनुष, बाण, पाश, अंकुश कोड़ा आदि शस्त्रों एवं शाक्तों के पांच मकारों को पांच ककारों में परिणत कर युगानुकूल चेतना का सर्जन कर दिया गया। वैष्णवों का चरणामृत खड्गामृत हो उठा, सत्यनारायण का प्रसाद सतिगुर प्रसाद हो उठा, वेषभूषा में नीले और पीले दोनों ही वर्ण, जो वैष्णवों में नीलवर्ण विष्णु और स्वर्ण–वर्णा योग–माया के पीत वर्ण केवल रसबोध तक ही सीमित रह गये थे वे क्रियाबोध में परिणत हो गए। वैष्णव वाणी का संग्रह वैदिक ऋषियों के वाणी–संग्रह के समानान्तर विभिन्न रागों और छन्दों में सन्निबद्ध हो गया। श्रीमद्भागवत में एवं अन्य शाक्त साधनाओं में परंपरा–प्राप्त गुरु–पूजा और ग्रन्थ–पूजा, गोरक्षा, वेद, वैष्णव, ब्राह्मण, स्त्री, राजा और महापुरुषों के प्रति परम निष्ठा का होना अत्यावश्यक माना गया था–

"वेदवैष्णवविप्राणांगुरुगोव्रतिनां तथा
स्त्रीराजमहतां निंदा वर्जयेद् यः कथाव्रती।। श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, 6–48

वेदव्रत या ग्रन्थपूजा एवं गुरु और गोव्रत पर सिखमत में विशेष बल दे दिया गया। वैसे ब्राह्मण–रक्षा और स्त्री–रक्षा व्रत का भी पालन गुरु करते रहे। किन्तु श्रीमद्भागवत, जिसे वैष्णवों का भक्तिवेद कहा गया उसके माहात्म्य में श्रीकृष्ण ने अपने अन्तिम क्षणों में उद्धव के यह पूछने पर कि आपके बाद वैष्णवों को मार्गदर्शन कैसे मिलेगा, तो श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत में ही अपना समस्त तेज स्थापित कर दिया –

स्वकीयंयदभवत्तेजः तच्च भागवतेऽदधात्।
तिरोधाय प्रविष्टो यं श्रीमद्भागवतार्णवम्।। (श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, 3–61)

लेकिन इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्रीमद्भागवत को प्रकट हरि की देह कहा गया।

तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः
सेवनाच्छ्रवणात्पाठात् दर्शनात्पापनाशिनी।। (वही, 3–62)

यह बात वैदिक काल से ही परम्परा में रही कि सरस्वती का या वाणी का प्रतीक कोई ग्रन्थ रहा है। फिर शाक्तों की परम्परा में वाणी या सरस्वती–पूजा में भी जब यह कहा जाता है "कि पिशाचों को उखाड़ फेंकने वाली त्रिशूल एवं खड्ग को हाथ में लिए, सिंह पर आरूढ़ भगवति! यहां आइए," तो क्या ऐसा नहीं लगता कि कर्म एवं शौर्य के प्रतीक नररूप सिंह के सिर पर ही ज्ञान की प्रतीक वाणी या सरस्वती को ही सीधे प्रतिष्ठापित किया गया हो। गुरुवाणी को बाहरी तौर पर सिर पर उठाए रखने का क्या अर्थ हो सकता है?

गुरुपूजा– भारतीय मेधा ने वेदों में जिस ऋषितत्त्व का साक्षात्कार किया था उसी का अवान्तरकाल में, जब अन्तःसाधनाओं का जोर बढ़ने लगा, तब गुरुतत्त्व में परिवर्तन हो गया। शाक्तों में यह गुरु अपने ईश्वरीय अनुग्रह के कारण शिष्यों की अध्यात्मपीड़ा एवं अंधकार–रूप विष को शंकर के समान दक्षिणा के रूप में ले लेता था तथा ज्ञानामृत बांट देता था। इसीलिए नरदेह में गुरु के पद की प्रतिष्ठा भौहों के बीच आज्ञाचक्र में हुई। गुरु मनुष्य की तीसरी आंख के पास स्थित है। वहां भी गुरु के चार रूप हैं– श्रीगुरु, परमगुरु, परमेष्ठीगुरु, सद्गुरु। सिखवाणी में सद्गुरु पर अधिक बल आया क्योंकि वह चरमरूप है। क्योंकि सत् जो परमसत्ता है, वह उस जैसा ही हो गया है। तांत्रिक साधनाओं का प्रभाव भारत में आए मुसलमानों पर भी हुआ। उनमें भी वेदान्त से प्रभावित सूफियों ने चेतना की विभिन्न दशाओं को तन्त्र के आधार पर अपनी शब्दावली में ढाल लिया। लेकिन सिख सिद्धांत यहीं की पौध थे अतः उनकी शब्दावली वही रहनी थी। तब उन्हें मूल हिन्दु–दर्शन से अलग होने की चिंता भी नहीं थी। लेकिन पिछली कुछ शताब्दियों में और पंजाब में आज का हिंदु जो कहने को हिन्दु है, हिन्दुस्तान में पैदा होने मात्र से हिन्दु है, संस्कृति या राष्ट्रीय सम्पदा की दृष्टि के नाम पर जिसके पास पैसा और रोटी के सिवाय कुछ है नहीं, उसके साथ सिख–दृष्टि का समझौता हो कैसे? परम्परात्यागी सेक्युलर हिन्दु अपनी धर्मनिष्ठा को अपनी बीवियों के किचन के साथ लगे स्टोरों में बंद करके निश्चिंत हो गया है। या फिर टटपूंजिए अधकचरे ज्ञानगुरुओं को मंदिरों के लिए और हवन के लिए चन्दा देकर निश्चिंत है। उसके जीवन में धर्म–चिंता कहां? वह सुविधा–चिंता में ही रत है। स्वधर्म को समझने की चिंता किसी को नहीं। जब किसी

के पास प्रश्न ही नहीं, तो किसी के पास उत्तर भी क्यों हो।

सिखमत में एक नया मंत्र जिसकी सर्जना का मूल विशुद्ध वैष्णव और शाक्त परम्परा का समागम है वह है 'सत् श्री अकाल'। यह षडक्षरी मंत्र दोनों परम्पराओं के गहन अध्ययन से ही खुलता है। इसमें सिख लोग भी विचारें। ओं तत्सत् का "सत्" अंश, तांत्रिक श्रीतत्त्व का "श्रीअंश", वैष्णवों के "कालातीतं कालकरालं करूणार्द्रम्" का कालातीत अकाल तत्त्व, तीनों ही उपनिषद्, तन्त्र और विष्णु–चेतना के समन्वित रूप से राष्ट्रीय मंत्र के रूप में समन्वित हुए हैं। इस रहस्य को जानने वाला व्यक्ति ही परम्परा का उद्धारक हो सकता है। जो नवीनता या मौलकता के दम्भ में जकड़ा है उसे समझना चाहिए कि परम्पराओं का सही समन्वय ही नवीनता या मौलिकता का सर्जक होता है। अतः श्रीकृष्ण जैसे योगिराज भी दावा करने से डरते हैं कि वे मौलिक हैं। अर्जुन को कहते हैं कि यह योग, जो मैंने तुम्हें दिया है यह परम्परा–प्राप्त है जो काल के कारण दब गया था – "एवं परम्पराप्राप्तं प्रोक्तवानहमव्ययम्।" (भगवद्गीता, 4, 1–2)

सिख–परम्परा का अध्ययन करते हुए यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मुगलकाल में वैष्णव भक्ति से प्रभावित दो तरह के लोग थे– एक राम–राज्य की स्थापना के आदर्श को वैष्णव का चरम ध्येय मानते थे तो दूसरे कृष्ण की लीला–साधना को। गोस्वामी तुलसीदास ने रामराज्य का जो स्वप्न अपने मानस में खड़ा किया उसे आज की सरकारें क्या समझेंगी? यह स्वप्न महाराष्ट्र के संतों ने कुछ तो शिवा जी के रूप में साकार किया। किन्तु उत्तर प्रदेश के गुसाइयों की फौज लम्बे केश, लम्बी दाढ़ी मूंछ और हथियार रखने तो लगी किन्तु ठीक से दिशा नहीं पकड़ पायी। उनमें बहुत से लोग अपना नाम नरसिंह रखते आए हैं। जो लोग यह समझते हों कि सिखों में नाम के साथ सिंह शब्द शिष्यों को शेर बनाने के लिए लगा दिया गया है, वे शायद ठीक हों। पर यह नाम तो राजपूतों और क्षत्रियों में पहले से ही मौजूद था। किन्तु वह सिंह अपनी व्यक्तिगत बहादुरी का बोधन कराने के लिए होता था। सिख की सज्जा में तो विष्णु के अति उग्र अवतार नृसिंह, शाक्तों के भगवती के वाहन सिंह की कल्पना का समन्वय हुआ। शिव के वृषभ के समान सिंह को भी धर्म का प्रतीक माना गया है। वैसे भी देखें तो शेर जैसे साहस से ही धर्म का सही पालन हो सकता है। कायर किस्म के समझौतावाद से नहीं। एक हमारा बुजुर्ग सिख मित्र अपने अन्तिम दिनों में कभी कभी मन की बात कहा करता था कि दशम गुरु ने शिवजी से जटा, विष्णु से चक्र, हनुमान से ब्रह्मचर्य का प्रतीक कच्छा या जांघिया, दुर्गा से कृपाण लेकर सिख को सुसज्जित किया। मैं उनके कहने की इस पौराणिक शैली और भारतीय मेधा की पुराने से नये को आत्मसात् करने की शैली को देखकर मुग्ध होता था। लेशमात्र भी उन्हें ग्लानि नहीं होती थी। सत्य को मान लिया मुक्त हो गए। दम्भ जितना करते गए, फंसते गए। मिथ्या दृष्टियों का आविष्कार

होता गया। चण्डीसप्तशती में जिस प्रकार दुर्गा को सुसज्जित किया गया ठीक वैसी ही विभिन्न देवशक्तियों का बल सन्त–सिपाही में भरने का दशम गुरु का प्रयोजन लगता है। खींचातानी किए बगैर यदि "चण्डी दी वार" की व्याख्या की जाए तो चण्डी–सप्तशती की ही चेतना उस में सम्मुख होती है।

सबसे महत्त्वपूर्ण धारणा वैष्णववाद में पुरुषवाद की है। वैदिक साहित्य में जब यज्ञ को विष्णु (यज्ञो वै विष्णुः) कहा गया या वेदपुरुष की बात हुई थी तो ऋग्वेद का सहस्र–सिर सहस्रनयनों वाला सहस्र पैरों वाला पुरुष (सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्) तथा उपनिषदों में बहुचर्चित औपनिषद् पुरुष (तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि) कबीर आदि वैष्णव संतों में और कहीं पर सिख–साहित्य में सर्वत्र व्याप्त हो गया। "सहस तव नैन" आदि पदों द्वारा गुरु नानक ने तथा "हौं परम पुरुष का दासा" आदि पदों में नारायण पुरुष ही अकाल पुरुष है। काल से ही सब डरते हैं। वही 'भयानां भयम्' है। उसी को जो खा जाए वह अकाल पुरुष है। वेद में, उपनिषद् में, गीता में, सांख्य में, वेदान्त में, पुराण में, तंत्र में सर्वत्र उसी की महिमा गाई गई है – "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः" (कठ उ०, 1–3–11)।

वैदिक कर्मकाण्ड के इस यज्ञपुरुष, उपनिषदों के ब्रह्म–पुरुष की महिमा पर मुग्ध होकर नारायण पुरुष की महिमा को महाभारत के अंतर्गत "विष्णुसहस्रनाम" स्तोत्र द्वारा गाया गया है "हरि के हजार नाम करोड़ नाम कृष्ण के" वाली पंजाबी उक्ति में कितना सत्य है इसे ग्रंथसाहिब में आए विष्णु–नामों और विष्णुसहस्रनाम के तुलनात्मक अध्ययन से पता लगेगा। विष्णुसहस्रनाम के विष्णु, श्रीमद्भगवद्गीता के ब्रह्मज्ञानी स्थितप्रज्ञ को सिखदृष्टि से अलग करके देखने वाली दृष्टि हीन हो जाएगी, ऐसा हमारा गुरुमत रहा है।

वस्तुतः भारतवर्ष के इतिहास में आदिकाल से ही जो भी सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक उद्वेलन होता रहा उसकी परम्परा अखण्ड रहने से वहां बहुत कुछ उत्पादन होने से बिखराव भी बढ़ा। पर उसे समेटा भी गया। नास्तिक चार्वाक, जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव ये सभी दृष्टियां विकास की प्रक्रिया में पहले तो आपस में टकराती रहीं फिर एक दूसरे को भीतर ही भीतर आत्मसात् भी करती रहीं। अतः इन दृष्टियों का अपना अस्तित्व भी बना रहा और इनसे नई समन्वय–दृष्टियां भी जन्म लेती रहीं। वैष्णवमत इन सभी दृष्टियों का प्रसाद है। इसी से हमारे राष्ट्र की नवीनतम अहिंसक क्रांति के माध्यम से महात्मा गांधी ने रामराज्य की बात का बड़े जोरों से समर्थन किया। रामराज्य का आदर्श गोस्वामी ने जो निश्चित किया वह यही है कि रामराज्य में कोई "अबुध यानि मूर्ख या अशिक्षित एवं लच्छनहीन यानि अशुभ न हो सभी लोग आपस में प्रीति से स्वधर्म पालन करते हुए जीवन का आनन्द लें। यदि खालिस्तान की कल्पना भी इसी जैसी है तो उसे बनाने का सभी को सम्मिलित प्रयास करना चाहिए।

जहां तक वैष्णव संस्कार–दृष्टि का प्रश्न है वहां वह मानवमात्र के प्रति उदार है। किन्तु सभी मतवादों की जो औपचारिकताएं या कर्मकाण्डीय भाग जो होता है उसका पालन तो करना होता है। इन औपचारिकताओं में स्नान, ध्यान, कथा, कीर्तन, नियमपालन, लंगर चलाना एवं कर्म करना और बांटकर खाना आदि नैतिक पक्षों की परम्परा सर्वाधिक वेद, स्मृति और पुराण में उपलब्ध होती है। कृष्ण को कर्मवादी कहते हुए पुराण कहते हैं कि "जो लोग कर्म मार्ग को छोड़कर केवल कृष्ण कृष्ण ही करते हैं वे भगवान हरि के द्वेषी हैं और चोर हैं। क्योंकि हरि का अपना जन्म ही कर्म के लिए है।"

अपहाय निजं कर्म कृष्ण कृष्णेतिवादिनः
ते हरेर्द्वेषिणश्चौराः कर्मार्थं जन्म यद्धरेः।।

अतः वैष्णवों की नैतिकता में भी बौद्धों जैनों की अहिंसा एवं प्रेम तथा ब्राह्मणधर्म की यज्ञ–भावना एवं कर्मनिष्ठा की यथार्थ दृष्टियों का संनिवेश हुआ तो इनकी उपेक्षा वे कर ही नहीं सकते थे। उनके युग का यथार्थ उनके सामने था। जन्ममरण के संस्कार, आत्मा की नित्यता का सिद्धांत, सेवाव्रत, एवं सभी धारणाओं को वैष्णव आलोक में देखा जाना चाहिए। जब कुछ लोग अपनी परम्परा के अपूर्ण ज्ञान के कारण ऐसी बातें करते हैं कि ओंकार के आगे एक संख्या लगाकर इस्लामी एकेश्वरवाद की पुष्टि की गई है तो उन्हें वैष्णवगीता के इस श्लोक पर मनन करना चाहिए जिसमें कहा गया "कि 'ओं' यह एकाक्षर ब्रह्म है यानि ब्रह्म का एकाक्षरी रूप है। इसका जप करता हुआ जो प्राण त्यागता है वह परमगति को प्राप्त करता है" (गीता, 8–13)। जप तो जब भी होगा तो अत्यधिक ध्वनिविशेषों वाले मंत्रों को किसी एक मंत्र में और फिर एक मंत्र को एक ध्वनि में समेट कर तभी परम मौन में पहुंचा जा सकेगा। बाहर के ज्ञानों की ओर फैले हुए चित्त को अन्दर की तरफ लाने का जपमार्ग यही रहा। समस्त वेदों का सार गायत्रीमंत्र और गायत्रीमंत्र का सार ओंकार, ओंकार का सार बिन्दु, बिंदु का सार परम सत्। यही प्रक्रिया ओंकार के आगे एकाक्षर लगाने में है। अतः कहा जा सकता है कि ज्ञान, उपासना, कर्म–साधना, सामाजिकता, विश्वबंधुत्व की वैष्णव धारणाओं के कारण ही सिख–दृष्टि एक साम्प्रदायिक, प्रादेशिक दृष्टि न होकर संपूर्ण भारत राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है। सिख गुरुओं का संस्कृत के प्रति तथा संस्कृति के प्रति व्रज एवं पूर्वी अवधि, हिन्दी के प्रति उनका अत्यन्त सम्मान रहा। ये दोनों ही भाषाएं क्रमशः कृष्णचेतना और रामचेतना का प्रतिनिधित्व करती रही हैं।

सन्त और योद्धा

ऊपर से देखने पर सन्त और योद्धा ये दो शब्द अपने अर्थों की भिन्नता के कारण एकदम विपरीत बोध को पैदा करते हैं। किन्तु ब्राह्मण–संस्कृति में इसका अद्‌भुत समन्वय हुआ। समन्वय कहां जाकर होता है जहां कर्म का मानव जीवन में शुद्धरूप निखर कर सामने आता है या जिन लोगों ने यह बात बहुत पूर्व ही निश्चित कर ली हो कि यह भारतभूमि कर्मभूमि है भोगभूमि मात्र नहीं। "तस्मात्कर्म कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिमः" की उद्‌धोषणा करने वाले लोगों में बुद्ध और आचार्य शंकर के ज्ञानवाद के अतिप्रचार से पहले सिद्धान्तरूप से यह बात तय हो चुकी थी कि यदि मनुष्य जीवन के सौ वर्ष कर्म करते हुए ही बिताएगा तो उसके इस कर्मव्रत के कारण उसके कर्म उसको मुक्त करेंगे, बांधेंगे नहीं। यास्क मुनि व्रत को कर्म का ही नाम देते हुए कहते हैं कि श्रेष्ठ लोगों द्वारा जब किसी कर्म का वरण हो जाता है तो वह कर्म व्रत हो जाता है। धारणा हो जाता है। गीता के कर्मयोग में श्रीकृष्ण ने यद्यपि कर्म के पक्ष में बहुत ही कहा है तथापि दो श्लोकों में उनके कर्मव्रती होने का प्रमाण इसलिए मिलता है कि एक में तो अर्जुन को कर्मदर्शन की विधि का सूत्र पकड़ा दिया कि कर्म कैसे होना चाहिए। अर्थात् हे अर्जुन "तुम्हारा केवल कर्म में ही अधिकार है, फल में नहीं। पर इस फलत्याग से कर्ता होने का अहंकार भी नहीं हावी हो जाए। तथा यह भी न हो कि तुम यह सोचकर काम करना ही बन्द कर दो कि फल पर तो अपना अधि ाकार है ही नहीं।"

अधिकार शब्द का स्पष्ट संकेत है, कि जन्मते ही मनुष्य के हिस्से में कर्म आया है। ज्ञान से उस कर्म को पुष्ट करना है। उसे उसके चरमरूप नैष्काम्य या निष्काम कर्म में ले जाना है, उसे छोड़ना नहीं है। बुद्ध जब इस कर्म को बारीकियों में ले गये तो उसे उन्होंने ज्ञान में बदल दिया और उसे मानसिक गूढ़ताओं में लेजाते लेजाते उसे पीस कर समाधिप्रज्ञा में निलीन कर दिया एवम् इस प्रकार वे कर्मयोगी, ज्ञानयोगी या बुद्धियोगी हो गए। गीता में जो कहा गया था कि "ज्ञान की अग्नि से सब कर्म दग्ध हो गए", इस का अभिप्राय भी नए वेदान्तियों ने कर्म की समाप्ति ही किया। क्या ज्ञान की अग्नि से कर्म झुलस जाएंगे? या उनमें से जो अशुभ वासना का मल है वह झुलस जाएगा? बात तो इतनी है कि 'कर्मरति' मनुष्य की मूल चेतना है। उसे क्या पूर्णतः निकाला जा सकता है? उसे निकालने का मतलब मनुष्यता की परिसमाप्ति। फिर मनुष्य चाहे ब्रह्मज्ञानी हो जाए चाहे ब्रह्राक्षस। मूल चेतना के संस्कार की बात तो समझ आती है विनाश की नहीं। लेकिन "अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम" की घोषणा करने वालों को तो जाने कर्ममात्र से ही वैर था। चलो, चाकरी तो न करो, ठीक है, पर अजगर की वृत्ति यानी निठल्ले रहने कि आदत, तथा

पंछी की तरह दायित्वहीन होकर इधर उधर बहकते फिरना, दोनों ही लोक–चेतनाविरोधी प्रचार थे। महाभारत में प्रह्लाद के पूछने पर अवधूत ने कहा था कि मै तत्वतः या मूलतः सुख–असुख, लाभ, हानि, प्रीति–अप्रीति, मृत्यु–जीवन इन सबको पूरी तरह जानकर आजकल (पवित्र अजगरव्रत यानि) अजगर की तरह जीवन बिता रहा हूं। लेकिन यह बात कुछ और है। यह बात कर्म–लोप के पक्ष में नहीं। क्योंकि कर्म की गति को समझने के लिए अवधूत स्वामी को कर्म के माध्यम से ही घोर संघर्ष करना पड़ेगा। पर अधकचरे सन्तों ने उसके सत्य का अपकर्ष करके छोड़ दिया।

साधारण जन में जब नैष्कर्म्य नाम की योग–समाधि का प्रचार होता है तो लोगों में बहक बढ़ती है। सुख का कुछ–कुछ आनन्द तो सामने उभरने लगता है किन्तु परिश्रम से होने वाला दुख या कष्ट समझ में नहीं आता। उसके बिना जीवन आनन्द की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। ग्लानि बढ़ जाती है। इसीलिए दूसरी बार श्रीकृष्ण अपने व्यक्ति को साथ जोड़कर अर्जुन को कहते हैं "उत्सीदेयुरिमेलोकाः न कुर्यां कर्म चेद्अहम्" अर्थात् यदि मैं ही कर्म करना छोड़ दूं तो ये लोक सब उजड़ जाएंगे, उखड़ जाएंगे। इसीलिए प्राचीन मनीषी ज्ञान या भक्ति की प्रौढ़ दशा में भी कर्मलोप के पक्ष में नहीं थे। ज्ञान या भक्ति में कर्म–परिष्कार हो जाता था। वह व्यक्ति ही अहंनिष्ठा से निकल कर लोककर्म या यज्ञकर्म का कर्ता बन जाता था। वह समस्त लोकचेतना को बांधने वाला आकर्षक कर्म ही कृष्ण बन जाता था। अग्निपुराण में निकम्मे कृष्णभक्तों को गालियां तक दी गई हैं "अपहाय निज कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिनः। ते हरेर्द्वेषिणश्चौराः कर्मार्थं जन्म यद्हरेः।" अर्थात् जो लोग अपना काम छोड़ कर केवल कृष्ण–रट में फंसे हैं वे हरि के द्वेषी हैं, चोर हैं, क्योंकि कृष्ण का जन्म तो स्वयम् कर्म के लिए हुआ।

अतः लोकनीति और धर्म से कर्मसंस्कार की बात ही भारतीय अवतारवाद की मूल प्रेरणा बनी। सभी अवतार महाकर्मा है और महाकर्म की ही स्थापना में रत हैं। मत्स्य, कच्छप, वराह, वामन, नृसिंह, परशुराम, राम, कृष्ण, और बलराम सभी की परम्परा कर्म द्वारा लोकाराधन है, धर्मप्रचारवाद या मतपरिवर्तनवाद नहीं। सभी में कर्मोत्कर्ष के लिए आत्मदान की प्रबल संस्कृति है। ऐसा लगता है कि जैसे सब जगह कर्म ने ही शील, मर्यादा, धर्म और आचार को धारण कर लिया हो और वह लोकसज्जा में व्यस्त हो। इसी वैष्णवी धारणा ने ही सन्त और योद्धा को एक स्थान पर लाकर लोगों के सामने खड़ा कर दिया।

यह सुनिश्चित है कि वैदिक मनीषियों में संन्यास की या कर्मत्याग की आज जैसी धारणा तो बिलकुल ही नहीं थी। सारी वैदिक चेतना की धुरी संस्कृत की 'ऋ' धातु है जिसका अर्थ गतिधर्मिता है। ऋषि, ऋत, ऋतंभरा और ऋतु ही उसके मुख्य स्वर हैं। उन्होंने सम्पूर्ण सृष्टि के बाहर भीतर तप से पैदा होकर उठते हुए इस 'ऋत'

को देखा जो सत्य था। देव, मानव, दानव सभी में उसकी अभिव्यक्ति हो रही है। वही सम्पूर्ण सृष्टि को धारण करने से धर्म बना। धारण कर्मवाली 'धृ' धातु के मूल में भी 'ऋ', हर या हरि शब्द की रचना करने वाली हृ के मूल में भी 'ऋ', धातृ, विधातृ और स्रष्टृ के मूल में भी 'ऋ' यह स्पष्ट कर देती है कि गति– मूल या क्रियामूलक 'ऋ' ध्वनि ब्रह्म के बृंहण में भी व्याप्त है। यह 'ऋ' भारतीय कर्म–संस्कृति का आदिस्रोत है जिसे गोस्वामी तुलसीदास ने भी, भारतीय चेतना के इतिहास के पतझड़ के मौसम में भी "कर्मप्रधान विस्व रचि रखा" कहकर देवसंस्कृति को भी कर्मसंस्कृति से नियन्त्रित माना।

लेकिन यह विचित्र हुआ कि इतिहास बदला। इस ऋतकर्म को फलासक्ति और प्रयोजनवादी भावना के कोण से देखते हुए अधकचरे ज्ञानियों ने उसे अविद्या, माया, भ्रम, मिथ्या, और जाने क्या क्या कह मारा। "दत्त, दाम्यत, दयध्वम्" की संस्कृति में निर्वाण का बुझता हुआ दर्शन धारणा, ध्यान, समाधि के घेरों में उलझता नैष्कर्म्य–प्रचार की ओर फैलता गया। ज्ञान और उपासना जो कभी कर्म का संस्कार करते थे, उसको दीक्षित कर विश्वायतन की ओर अग्रसर करते थे, संस्कृति में जो कृति के आश्रय में रहते थे, वे स्वयम् को पृथक् रूप से प्रधान घोषित करने लगे। उन्होंने अपने यथार्थ कर्म से सम्बन्ध–विच्छेद की बहुत चेष्टा की है।

ऋषि–प्रज्ञा के सामने सत् और असत् दोनों थे। ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में सत् की झलकियां उन्हें मिलीं तो नासदीय सूक्त में असत् भी सामने नीरव मौन लेकर खड़ा था। उन्होंने सृष्टि–यज्ञ के लिए सत् को, जो सक्रिय था ज़ो 'अस्ति' का मूल था उसे चुना। 'अस्ति' तो कर्मशील है। वह 'भवति' या 'होता है' में परिणत हुए बिना नहीं मानेगा। और वह एक बार छूटा कि फिर होता ही जाएगा। इस सत् को धारण करने वाले लोग ही सन्त कहलाने के अधिकारी थे। उन्होंने सत्कर्म को ज्ञान–निर्धूतकल्मष अर्थात् समझदारी से कर्म को निर्मल या स्वच्छ बनाकर लोक में प्रतिष्ठित करके सृष्टि का संपूर्ण ऐश्वर्य, संपूर्ण धर्म, संपूर्ण यश, संपूर्ण श्री, संपूर्ण ज्ञान, संपूर्ण वैराग्यसे मण्डित कर उसे राम–कृष्ण के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। यही उनकी सत् के प्रति महनीय आस्था थी। सत् से सत् ही पैदा होगा कि दृढ़ धारणावाले लोग ही सन्त कहलाए।

कालिदास ने कुमारसंभवम् महाकाव्य का आरम्भ किसी देववन्दना या ईशवन्दना से न करके केवल 'अस्ति' पद से आरम्भ किया है। और 'अस्ति' में आस्था रखनेवाले इस महाकवि ने दो जगह तो 'सन्त' पद का खुल कर प्रयोग किया है। पहले तो मालविकाग्निमित्रम् नाटक में नए लोगों और पुराने लोगों में वैमनस्य या विवाद होने पर सन्त को लोगों की स्थिति का सही जायजा लेकर सही का पक्ष लेने का अनुरोध किया है। दूसरे, उन्होंने अपनी कृति रघुवंश के सही मूल्यांकन के लिए उसे सत् और असत् की पहचान रखने वाले सन्तों की ही न्याय–मति पर अपनी

आस्था प्रकट करते हुए निवेदन किया है कि "सोने के खरे और खोटे होने की पहचान अग्नि में ही हो सकती है।" सन्तों को अग्निस्वभाव कहना उनकी 'परख–शक्ति' और 'शोधनशक्ति' दोनों को संकेतित करता है। महाकवि बाण ने भी अपनी महाकृति कादम्बरी में मंगल–प्रणाम करते समय, असत् का आश्रय लेनेवाले दम्भी असज्जनों की अविचारित वाणी को बन्धन–शृंखला (लोहे की जंजीर) की कटु ध्वनि के समान पीड़ा देने वाली मानते हुए कहा कि "सन्त लोग तो साधु ध्वनियों का प्रयोग करते हुए मणिनूपुरों का मनोहारी अनुनाद सा पैदा करते हुए मन का आकर्षण कर लेते हैं"। सज्जन कौन? जो सत् के साथ मिला हुआ जन है। असत् की घनी काली छाया में से उभरते हुए प्रकाश का जो संगी साथी है। इन्हें ही साधु कहा जाता रहा। साधु का संन्यासी शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं। ये वे लोग हैं जो ज्ञानी थोड़े कम भी हों, पर सदाचारी और अपने कर्म के दायित्व से अवश्य जुड़े हों। ब्रह्म के सच्चिदानन्द रूप में से सत् के प्रति विशेष आग्रह रहने से इनका कार्यक्षेत्र विश्वहित, प्रीति, चरम विनम्रता, सहिष्णुता, अमानिता आदि सहज वैष्णव गुणों तक सीमित है।

किन्तु युद्ध? जिसका अर्थ है कि असत् या सृष्टि के नास्तित्व का समर्थन करने वाली शक्तियां, जो 'अस्ति' के साथ रहकर ही जीवित हैं, किन्तु असत् के पक्ष में जूझती हैं, उन शक्तियों के विरूद्ध प्रचण्ड युद्ध करना ही पड़ता है। युद्ध का मूल अर्थ है प्रचण्ड सांग्रामिकता, संप्रहारता। इस युद्ध के मूल में जो चेतना काम करती है वह है ग्राम के लिए, समाज के लिए, लोक की सृष्टि स्थिति एवम् विसर्जन के लिए संपूर्ण संघर्ष करनेवाली चेतना। इसमें लेशमात्र भी अपना अहंमूलक प्रयोजन न रहने से मरजाने या मार देने की क्रिया का कोई महत्त्व नहीं रहता। वह सब तो एक खेल बन जाता है। यदि भारतीय युद्धों का इतिहास गहराई से देखा जाए तो उसमें 90 प्रतिशत युद्ध जमीन, जायदाद संपत्ति धन दारा लूटने के संकल्प से नहीं अपितु मर्यादा, अमर्यादा के विवेक के लिए लड़े गए। शिव का प्रजापति के विरूद्ध, विष्णु का मधुकैटभ के विरूद्ध, नृसिंह का हिरण्यकशिपु के विरूद्ध, राम का रावण के विरूद्ध, परशुराम का सहस्रार्जुन के विरूद्ध, कृष्ण का कंस आदि के विरूद्ध, पांडवों का कौरवों के विरूद्ध, चाणक्य चन्द्रगुप्त से लेकर भारतीय स्वतन्त्रता–संग्रामियों के द्वारा विदेशी आक्रान्ताओं के विरूद्ध युद्ध, लोक के तिरस्कार, विध्वंस एवम् हिंसा तथा असंस्कृत जातियों की क्रूरता एवम् लोलुपता के विरूद्ध कई युद्ध लड़े गए। इन युद्धों में सत्पक्ष के लोगों को प्रायः अपने संघर्ष में कूट चालों को दूर ही रखने की प्रेरणा दी गई। राजनीति और युद्धनीति की दूरी को लोग बखूबी समझते थे। राजनीति को तो अपने छोटे–छोटे स्वार्थों के लिए योद्धा बहुत अनुकूल बैठता है। वह उसे वेतन एवम् अन्य सुविधाओं को प्रदान कर अपना बनाकर उसका इस्तेमाल भी करती है। किन्तु सन्तत्व उसे स्वकर्म के प्रति सचेत करके उसे लोकरक्षा में जोड़

देता है। भारतीय पुराण इस बात की गवाही देते हैं कि ऋषि मुनि और अन्य देवता लोग दानवकर्म से पीड़ित जन के उद्धार के लिए बराबर परम आत्मशक्ति के प्रतीक भगवान् विष्णु के योद्धा रूप का धरती पर आवाहन करते रहते हैं। और भगवान् को आर्तजनों की पुकार पर धरती पर उतरना ही पड़ता है। और फिर यह युद्ध भगवान् के किसी अपने स्वार्थ के लिए तो है नहीं। अतः वह युद्ध एक शुद्ध लीलामात्र बनकर रह जाता है। इसीलिए भगवान् की युद्धलीला में शत्रुओं का उत्पीड़न एवम् क्रूरधर्मिता, आदि द्वेषमूलक बातें नहीं रहतीं। अतः शुद्ध एकरसता में जीना, निष्प्रयोजनता एवम् लोकहित इन तीनों बातों में संत और योद्धा में रत्तीभर का भी अन्तर नहीं है।

भारतीय सन्तों और कवियों की वाणी में मानवीय चेतना एवम् अस्तित्व के लिए जूझने वाले तीन ही चरित्र हैं– सती, सन्त, सूरमा। तीनों ही इस जगत् में सत् तत्त्व का आध्यात्मिक तथा भौतिक त्रिकोण हैं। इन तीनों का कुल मिलाकर एक ही दर्शन रहा है। भारतीय परम्परा में बुद्ध–मत जब तक अशुभ तुल्य या असत्रूप निर्वाण को ही प्रमुखता देता रहा तो लोगों ने बुद्ध को ठीक नहीं समझा। किन्तु महायान मत में बुद्ध के लोकपक्ष पर जोर आते ही उन्होंने बुद्ध को भगवान्, शास्ता, तथागत, एवम् विष्णु का अवतार आदि उपाधियों से मण्डित कर दिया। क्योंकि उनका ज्ञान या महासुख गंगा आदि नदियों एवम् सागरों के जल, सूरज के प्रकाश एवम् फूलों की सुगन्ध के समान सम्पूर्ण विश्व की संपत्ति बन गया। वे असत् के दर्शन से सत् की ओर आ गए। वहां बुद्ध की सत्ता, धर्म की सत्ता एवम् संघ की सत्ता एकमेक हो गई। वे उपनिषद्मार्ग से अलग चलने का साहस लेकर भी उपनिषदों के असतो मा सद् गमय" की रेखा पर पहुंच ही गए। क्योंकि बुद्ध भी विग्रहवान् धर्म बन गए। अर्थात् धर्म ने ही बुद्ध के रूप में अवतार ले लिया।

वस्तुतः हिन्दुदर्शन आरम्भ से ही सकारात्मक था। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में ऋषियों ने यह देख लिया था कि सृष्टि के पीछे कहीं असत्, शून्य शव के रूप में पड़ा है। और वह अपनी एकाकिता एवम् एकांगिता से पीड़ित होकर सत् का हाथ पकड़ना चाहता है। शाक्तों का यह कहना कितना सटीक है कि अशुभ के प्रतीक चिताभस्म, विष, शून्यता, असंस्कृति आदि को ओढ़ने वाला अमंगल शव यदि आज शिव बन बैठा है तो हे भवानि (अस्तित्वशक्ति) यह तुम्हारे हाथ थामने का ही परिणाम है।

वैदिकों ने अपने ढ़ंग से ही कहा था कि वह जो (तत्) के रूप में असत् था, जो अचीन्हा तम में लिपटा सुन्न पड़ा था, वह तप की महिमा से "ओम् तत् सत्" हो गया। और यह सत् विश्व भी बना और विश्वातीत भी। इसीलिए भास्कर अर्थात् प्रकाश से दिप् दिप् करते हुए तेजों के जितने बिम्ब–रूप वैदिक साहित्य में है, वे अन्यत्र शायद ही कहीं हों। क्योंकि अधिकांश धर्मों के मनीषी जलप्रलय से बहुत आगे नहीं जाते। लेकिन वेद में सविता का वरणीय तेज, जिसे गायत्री में भर्ग कहा गया है,

अघमर्षण सूक्तों में जिसे अभीद्ध यानि सर्वभाव से दहकता या धधकता तप या ऊर्जा कहा है उसी के यहां ऋत और सत्य का आविर्भाव हुआ। उनके सौम्य बल को देखते हुए सन्त, सती और सूरा ने उनकी अपने जीवन में प्रतिष्ठा कर ली। उसी को धारण कर जीवन जिया और त्यागा। ये ऋषि लोग आजकल के संन्यासी जैसे नहीं होते थे। संन्यास जैसी कोई बात वेदों में आई है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। कहीं कोई खण्डस्वर को लेकर उसे घसीटना ठीक नहीं था, पर ऐसा हुआ। वहां पर कर्म या ज्ञान जैसे दो खण्ड नहीं थे। जीवन सम्पूर्ण था। न बुद्ध थे, न शंकर। यदि थे तो एक ही शिव की पंचमुखी या विश्वतोमुखी दृष्टि थी। वह सबके अन्दर की तरफ भी थी और बाहर की तरफ भी थी– "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:"

"जिस समय श्रीकृष्ण अर्जुन को "युध्यस्व विगतज्वर:" का उपदेश कर रहे थे उस समय अर्जुन को अहन्ता, ममता का ज्वर चढ़ा हुआथा। फिर एक अस्वस्थ आदमी युद्ध कैसे करता। इस अहंता–ममता के ज्वर का उपचार ब्रह्मज्ञान नहीं, उस वीरभाव का उदय होना था जिस के उदय की अर्जुन में शत–प्रतिशत संभावना थी। उसे युक्ति–वाक्यों और शास्त्रवाक्यों से अत्यन्त दृढ़ कर दिया कि इस संसार में दो ही ऐसे पुरूष हैं जो सूर्य–मण्डल को तोड़ कर परमतत्त्व में पहुंच सकते हैं– एक तो योग में सिद्ध परिव्राट् और दूसरे युद्ध करते–करते मारा हुआ योद्धा क्षत्रिय। वस्तुत: वीररस का पान करने वाले लोग बीच में आकर दूषित करने वाले राजनीति या कूटनीति के कचरे को सहन नहीं कर सकते। वह ही तो रसभंग का कारण एवम् अनौचित्य है। इस अनौचित्य से संत और योद्धा दोनों ही डरते हैं। राजनीति का प्रवेश होते ही योद्धा और संत का मन समझ जाता है कि अनाचार या असदाचार के विरूद्ध यदि चालाकी या धूर्तता की सहायता लेनी पड़ी, आतंक और भय की रचना करनी पड़ी, निरपराध एवम् निर्दोष लोगों की हत्या करनी या करवानी पड़ी तो वहां शूरता कहां रहेगी। लोककल्याण के लिए अपनी वासनाओं से अलिप्त रहने वाला वीरव्रत जो योद्धा का परम साधन है वह कहां जायेगा? उसमें न हिंसा है, न काम है, न लोभ है, न घृणा है, न द्वेष, न राग। वह तो योद्धा का शुद्ध उत्साह है जिसमें अनुचित के प्रति क्रोध के कारण एक महालहरी का उदय, एक महावृत्ति का उदय, जो चित्त की समस्त क्षुद्रवृत्तियों को विलीन करके स्वयं को युद्ध के परमब्रह्म शिव या धर्म कहो, उसमें विलीन कर शान्त हो जाती है। इस वृत्ति के उदय के बाद योद्धा जीवन्मुक्त भी हो सकता है। युद्ध में देह नष्ट हो जाए तो विदेहमुक्त भी। बाकी लोकहित के लिए या सत्य के लिए उसका कर्म कैसा है, यही परखना शुद्ध वीररस की कसौटी है। यदि किसी जातिगत या व्यक्तिगत अन्धता के कारण अथवा किसी यश: आदि की लिप्सा के कारण वह युद्ध में प्रवृत्त हो रहा है तो उसमें और आपस में लड़ते हुए कुत्तों, बिल्लयों और भेड़ियों, दरिन्दों–परिन्दों में कोई अन्तर ही नहीं है।

तंत्रसाधना में रसपान के सम्बन्ध में तीन बातें कही गई हैं। एक तो पशु–पान, जिसमें मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए पशुता को ही रस मान कर चलता है। इस स्थिति में क्रूरता का उदय तो होता है शूरता का नहीं। दूसरा है वीर–पान, इस दशा में वह भय, या काम–क्रोध, लोभ की वृत्तियों से ऊपर उठकर धर्मचेतना को समर्पित होकर अपने गम्भीर वीरकर्म के माध्यम से वीररस का पान साधक योगी की तरह ही करता है। तीसरा है दिव्य–पान, जिसमें योद्धा अपने परिपूर्ण स्वभाव को प्राप्त होकर किसी बाह्य प्रेरणावश संप्रेरित न होकर स्वयम् धर्मरूप हो जाता है। यह दशा "रामो विग्रहवान् धर्मः" की है। वह स्वयम् धर्मरूप हो जाता है।

पर यह धर्मतत्त्व किसी मज़हब, मत आदि संप्रदायों के रूप में व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित तथा लोगों की चेतना पर आरोपित धर्म नहीं है। यह धर्मतत्त्व विश्वेश एवम् मूल प्रकृति द्वारा जन जन के प्राण में संचारित शुद्ध सत्व है जिसका संत और योद्धा द्वारा साक्षात्कार होता है। कभी–कभी ऐसा भी प्रतीत होने लगता है कि संभवतः संत तो ज्ञानमार्गी है और योद्धा कर्ममार्गी। यह भेद वस्तुतः ऊपरी है। क्योंकि सत् मूल्यों के लिए संघर्ष तो दोनों ही करते हैं। विश्वामित्र के विरूद्ध वसिष्ठ का संघर्ष, पिता के सामने नचिकेता का संघर्ष, इन्द्र के विरूद्ध दध्यङ्अथर्वा ऋषि का शान्त विद्रोह, अत्याचारियों के विरूद्ध जैन महावीर का मौन रह जाना, धर्मान्ध लोगों के विरूद्ध कबीर एवम् सूफियों का सत्याग्रह, दयानन्द एवम् महात्मागांधी का लोगों को न्याय दिलाने के लिए आत्मत्याग, यह सब इतिहास केवल इस सत्य की पुष्टि के लिए काफी होगा कि सन्त कोई निष्क्रिय चेतना नहीं। वह तो लोक एवम् समाज को आमूलचूल हिला देती है। लेकिन सन्त और योद्धा दोनों में क्रिया–भेद होने पर भी दोनों का स्थायी–भाव एक ही है। सत्य या सत् के लिए आत्मदान या आत्मसमर्पण के लिए एक उत्कट, परन्तु सौम्य उत्साह। इसी कारण संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने एक ही वीररस के चार रूप माने हैं युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, शान्तवीर।

आज के जीवन के सन्दर्भ में संत और योद्धा इतिहास की वस्तु बन चुके हैं। राजनीति के प्रदूषण ने और यन्त्रीकरण ने सन्त और योद्धा की उसके लिए उपजाऊ भूमि को स्वार्थ की मार से अनुर्वरा कर दिया है। इसीलिए आज के नये भारत में पैदा हुए नये दिमाग को संत और योद्धाओं की परम्परा से परिपूर्ण इतिहास उत्प्रेरित नहीं करता। क्योंकि डिप्लोमेसी या कूटनीति का काम यथाकथमपि अपनी लक्ष्यसिद्धि है। साधन–शुद्धि का विचार करना नहीं।

तिरिया और सन्त

शब्द की दृष्टि से तिरिया शब्द स्त्री शब्द का ही अपभ्रंश है। किन्तु अर्थ की दृष्टि से यह शब्द नितान्त अपने ही ढंग की व्यंजनाएं लिए बैठा है। स्त्री शब्द की गम्भीरता का सम्पूर्ण लोप होकर उल्टे उसके नीचे छिपा एक खास किस्म के लुच्चेपन का अर्थ कभी उभरने लगता है। या फिर तिरिया शब्द उपेक्षणीय सामान्य स्त्री का अर्थ भी देने लगता है। यह तद्भव शब्द अपने तत्सम स्त्री शब्द से कोसों मील हट गया हुआ है। स्त्री शब्द, जिसका मूल अर्थ "स्त्यायेते शुक्रशोणिते यस्याम्" अर्थात् जिस तत्त्व में शुक्र (पुंकीट) और शोणित अर्थात् पोषक स्त्रीद्रव्य मिलकर विस्तार को प्राप्त होते हैं। इसमें रचनाधर्मिता और गतिशीलता दोनों ही थे। उसमें अर्थपरिवर्तन की दृष्टि से रचनाधर्मिता का अलग हो जाना, तथा गतिशीलता के भी विधायक तत्त्वों का टूटकर अलग जा पड़ना यह संयोग ही था या लोकमानस की ऐसी सूझ जिसने शब्दशक्ति प्रयोजनवती व्यंजनामूला लक्षणा के बल पर स्त्री शब्द के मुख्य अर्थ को तिरस्कृत करके वासनानुकूल आकर्षण और अगंभीर होने से सामान्यभाव को धारण कर लिया। अतः तिरिया शब्द की तद्भव–रचना में रोमांटिक आकर्षकता के साथ लचरपन का मिश्रण हो जाने से तिरिया शब्द मध्यकाल में उठ खड़ा हुआ। लोकमानस का जैसा स्वभाव है कि वह कई बार ठोस एवं सुसंस्कृत तत्त्वों को ऊपर से नीचे खींचकर सड़क–छाप बना देती है। उसी कारण से तिरिया शब्द स्त्री शब्द का सड़क–छाप रूप है जो मध्यकालीन स्त्री–मानसिकता का प्रतिबिम्ब है।

शास्त्र और लोक यद्यपि एक ही तत्त्व के दो रूप हैं तो भी दोनों में जो एक विशेष प्रकार की खींच है उसे देखते बनता है। शास्त्र ऊर्ध्वगामिता और स्तरीकरण के चक्करों में वस्तुओं के लौकिक रूप की कांट छांट करता रहता है जब कि लोकमानस उसे अपनी सुविधाओं की तरफ खींचता रहता है। यह तनाव दो तत्त्वों का नहीं बल्कि एक ही बुद्धितत्त्व के अन्दर उगी हुई दो मानसिकताओं का तनाव है जिसे थोड़े से भी सचेत या संवेदनशील व्यक्ति या समाज को झेलना ही पड़ता है।

इस प्रकार स्त्री शब्द से एक भिन्न प्रकार की मानसिकता का गन्ध आता है और तिरिया से दूसरी किस्म का। एक शब्द सामाजिक और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा लिए हुए है तो दूसरा चालूपन, हर तरह के हथकंडों का प्रयोग, छल, काम के आधार पर दूसरों का शोषण, जड़ता, मूढ़ता, स्वार्थपरायणता, धूर्तता के आधार पर अपने पैर जमाए हुए है। मध्यकालीन संतों के सामने ये दोनों रूप अपनी भिन्नताओं को लिए खड़े हैं। दूसरों के किसी भी प्रकार के दोहन या शोषण का खण्डन करने वाले लोगों की नैतिकता (चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म) का यह तकाज़ा था, कि वे औरत के इस रूप

का खण्डन भी करते जिसके बल पर औरत अपनी प्राकृतिक कामाकर्षिणी सौन्दर्यशक्ति का उपयोग घर में या बाहर करके, घर के या बाहर के पुरुषों का जोंक की तरह भीतर ही भीतर शोषण कर देती थी। संस्कृत क्योंकि आरम्भ से ही जीवन की उदात्तताओं के साथ जुड़ी रही अतः उसके उदात्त साहित्य में औरत का यह रूप कहीं अधिक उभरा ही नहीं। क्योंकि वहां तो सर्वत्र काम के व्यवस्थित भोग तथा स्त्री और पुरुष की अपनी अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न जुड़ा हुआ था। वहां दोनों के प्रतिष्ठित रूप पर ही बल रहा। संस्कृत की दार्शनिकता ने स्त्री में जो कुछ सुसंस्कृत और अभिजात तत्त्व देखे थे वे दिव्यता आदि थे। सभी स्त्रियां आद्याशक्ति का ही नाना रूप हैं, तथा सभी पुरुष आदिपुरुष का उदात्त रूप हैं। संस्कृत के फुटकर काव्यों में, नीतिग्रन्थों में, धर्मग्रन्थों में, जहां स्त्रियश्चरित्रम्" की बात की गई वहां वह साहित्य लोक के बहुत नजदीक आ रहा था। पंचतंत्र में खासकर ऐसी औरतों की कामकथाएं वर्णित हैं जिसमें औरत को एक अविश्वसनीय और महाधूर्त के रूप में अंकित किया गया है। पंचतन्त्र के रथकार की औरत के मुंह पर ओढ़ी हुई पतिनिष्ठा और सतीत्व की नकाब को रथकार बेचारा तो कभी भी नहीं उतार सका किन्तु विष्णुशर्मा की पीढ़ी के लोगों ने अपने वर्ग के लोगों की नकाब उतारने के साथ साथ उसकी नकाब भी उतार डाली।

मर्यादित समाज की महिला या नारी, कामविहारों की कोमल कामिनी, भामिनी या रमणी, सड़कों पर चलने वाली तिरिया, ये तीन रूप हमारे सम्मुख आ खड़े होते हैं। पहले अंक की महिला अपनी पद–प्रतिष्ठा गरिमा के साथ साथ सूझ बूझ और समस्त नैतिक गुणों को लिए चली है। उससे पुरुष, पुत्र, पति, भाई, पिता किसी भी रूप में अपने को गौरवान्वित समझता है। उसके प्रति प्रेम और सम्मान दोनों हैं। कामिनी या भामिनी का चक्कर पुरुष की व्यभिचारवृत्ति और स्त्री की केवल रूप–सौन्दर्य पर इतराते रहने की वृत्ति ने खड़ा किया है। ये दोनों रूप संस्कृत–साहित्य में अभूतपूर्व स्थान रखते हैं। किन्तु तिरिया का चरित्र तो लोकचरित था। वह तो घर घर में व्याप्त था। वह शास्त्र या मर्यादा के अंकुश को अधिक नहीं सह पाती थी। उसकी समस्याएं भिन्न थीं। अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति, आत्मसुरक्षा, पुरुष पर आधिपत्य, ये सब उसकी समस्याएं थीं। इन्हीं का समाधान करने के लिए भौतिकस्तर पर तिरिया उतरी। गिरते हुए समाज के स्तर पर इस्लाम का स्त्री के प्रति दृष्टिकोण, बौद्धों नाथों की रहस्यात्मक कामसिद्धियों के आध्यात्मिक चमत्कारों के चक्रव्यूह, समाज में सर्वत्र व्याप्त हिंसा और व्यभिचार ने मध्यकाल की तिरिया को जन्म दिया। मध्यकालीन सन्तों को बाहर से तो पतनशील सामाजिकता के खोखले आडम्बर मार रहे थे, अन्दर से मार कर रही थी तिरिया। अतः सन्तों ने अपनी सवेदना के हाथों में वाणी का अस्त्र पकड़ा दिया। और पाखंडियों के विरूद्ध जब प्रयोग किया तो उन्हें लगा कि तिरिया के चरित्र भी उन्हीं पाखंडों में से एक है। अतः

केवल लिंगभेद के कारण ही कोई क्षम्य या सहानुभूति का पात्र नहीं हो जाता। अतः दम्भी पुरुषों के समाज में फैले पाखण्डों को एवं औरत के पाखंडों को तोड़ने से पूर्व उनके प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करना तथा लोकमानस को सचेत करना बहुत ही आवश्यक था। यही कारण था कि मध्यकालीन साहित्य में जहां भी औरत की चर्चा आई कि संत उठे। इस समय स्त्री–पुरुष के सम्बन्ध प्रकृति–विवशता के आधार पर ही खड़े थे। बौद्धिक संस्कार या सहज प्रेम के सम्बन्ध की बात की चर्चा कोई भी भारतीय दृष्टि या दर्शन नहीं करता।

घोर हठ, माया का छल, मनुष्य का बुद्धिबल, मनोबल, देहबल एवं धर्मबल का अपहरण करने में बिल्ली की सी चतुराई रखने वाली तिंरिया को महाठगिनी माया मानने वाले अत्यन्त सरल कबीर ने तिरिया के दो रूपों के साथ रहते हुए भी उनके प्रति दृष्टि नहीं बदली। मां और पत्नी दोनों के बीच में चिरकाल तक रहने वाले गृहस्थी कबीर को लगता है कि मां की अनुदारताओं एवं हठ ने तथा लोई के रूपाकर्षण ने औरत के प्रति दृष्टि बदलने में मदद नहीं दी। पुरुष को उत्तेजित करके कठिन से कठिन परिस्थिति में प्रेरित कर देने वाली इस तिरिया के चरित्र को ब्रह्मा, विष्णु, महेश के घर से लेकर सभी जगह व्याप्त देखकर सभी को अपने नीतिबल एवं बुद्धिबल को बचाकर रखने की सचेतता का संकेत देते हुए तभी तो कहा कि "ऐसी तेरी माया बिन दांत जगत सब खाया।"

लेकिन अधिकांश सन्तों ने परनारी के रूप में ही तिरिया को अंकि त किया है। सती स्त्री को तो अपने योगियों की ही कोटि में स्थान दिया है। किन्तु पराई औरत के साथ सम्बन्ध का जहां तक प्रश्न था वहां रसिक वृत्ति के कारण यह जो छद्म कामपूर्ति है, जिस काम की पूर्ति में उत्तेजना अधिक है और भोग–तृप्ति शून्य है उसे बहुत ही खतरनाक इसलिए कहा है कि वह भीतर ही भीतर अग्नि की तरह जर्जर कर देता है। उस भोग में पुरुष की स्वाधीनता नहीं अपितु पर–स्त्री की वासना–पूर्ति का केवल माध्यम बनकर आत्मशक्ति का क्षय करता है। अतः इस आत्मक्षय से बचाने और बचने के लिए मध्यकालीन सन्तों ने अनेक पौराणिक उपाख्यानों का आश्रय लिया है जहां तिरियां को "अग्नि की झाल" कहने के पीछे अग्नि की ज्वाला के समान ही उसकी दाहधर्मिता पर ही अधिक बल है।

तंत्र में शुद्ध काम को रवि यानि सूर्य कहा गया था। जिसमें उष्णता पर कम और प्रकाश पर अधिक बल है। पर संतों ने अशुद्ध काम को अग्नि कहा। अग्नि में दाह, धुआं और उष्णता पर अधिक बल है प्रकाश गौण है। किन्तु चन्द्रमा में प्रकाश और शीतलता धर्मों को देखकर काम को भोग में भी शीतल सुखद एवं सुव्यवस्था का एवं मर्यादा का पोषक बनाने का यत्न भारतीय मानस का रहा। यह प्रयोग स्वस्थ गृहस्थ के संदर्भ में होता आ रहा था। किन्तु बदलते हुए सामाजिक सन्दर्भ में तिरिया का पर–नारी वाला रूप व्यक्ति और समाज के जीवन में महज़ अव्यवस्था एवं

उच्छृंखलता तथा व्यक्ति के कामोपभोग में द्वन्द्व एवं हताशा का सर्जक बन रहा था। आत्मचेतना या आत्मबोध के लिए लोगों को चेताने वाले संतों को आत्मचेतना के मार्ग में सर्वाधिक अन्तराय या विघ्न बनने वाले इस प्रच्छन्न काम को खोदकर बाहर निकालकर बाहर खदेड़ना था। तभी मानवमात्र में संकल्प विकल्प का विकृत रव या शोर मचाए रखने वाले काम को मौन में ले जाकर नित्य–नाद का श्रवण और नित्य बिन्दु का दर्शन किया जा सकता था।

नैतिक–अनैतिक का द्वन्द्व सर्जन करने वाला काम कितना भयानक हो सकता है इसका जिन लोगों को पशुवृत्ति के कारण या संवेदनरहितता के कारण बोध नहीं है, जो लोग आत्मजागरण की बात से दूर से भी वास्ता नहीं रखते वे इस बात को नहीं समझ पायेंगे। उन्हें मानव–पशु की संज्ञा शास्त्र और लोक दोनों ही देते हैं। चेतना के ऊपर उठने की प्रक्रिया में द्वन्द्व का बहुत ही महत्त्वपूर्ण पर छोटे से समय के लिए प्रयोग है। जो लोग गृहस्थ में या अन्य किसी आश्रम में भोगवृत्ति करते करते या व्यक्तित्व–हीनता के कारण जड़ ही रह जाते हैं, उनकी सुप्ति का या मोहमयी प्रमाद–मदिरा पीने से पैदा हुई उन्मत्तता को तोड़ने के लिए द्वन्द्व की अर्थवत्ता है। इसी अर्थवत्ता के कारण मन में द्वन्द्व का पैदा होना विवेक पैदा होने की प्रथम दशा है जिसे योग में विक्षेप कहा गया है। योग कहता है कि मन की पांच स्थितियां हैं– क्षिप्त (सदा अस्थिर), मूढ़ (सदा जड़), विक्षिप्त (कभी स्थिर, कभी अस्थिर), एकाग्र (एकरसता या चैतन्य धारा में चल पड़ना), समाधि (चैतन्य में स्थिर)। प्रथम दो दशाओं में से बाहर उठकर विक्षिप्त दशा में आना ही पड़ता है। वही योग या समाधि की शुरूआत है। अतः चेतना के पथ पर आरोहण करने के लिए द्वन्द्व की स्थिति में से होकर गुजरना तो पड़ेगा। किन्तु स्थायी द्वन्द्व हमें पुनः जड़ता या मूढ़ दशाओं में ले जाएगा। अतः जमे हुए या जड़ काम में कई बार जो क्षोभ घरेलू या सीधी–सादी स्त्रियां नहीं उत्पन्न कर पाती वह काम तिरिया कर देती है। तिरिया में वैष्णवों की परकीया का भाव काफी कुछ पर अधूरा सा है। वैष्णवों की परकीया पराई होते हुए भी अपनी अखण्ड एकनिष्ठता के कारण जहां राधाभाव को प्राप्त होकर माधवमयी होकर रस में जीती है वहां तिरिया केवल मोह में ही रत रहने के कारण सामान्या रति तक ही पहुंच कर ही रह जाती है। अतः वह कामशक्ति को पुष्टि या तुष्टि नहीं प्रदान करती। केवल क्षय का हेतु बनकर रह जाती है। न तो उसमें बालिका का भोलापन होता है न ही उसमें साध्वी की सी सत्यनिष्ठ व्यावहारिकता। इसी कारण वह चालू व्यावहारिकता का प्रमाण–पत्र पाकर ही संतुष्ट रह जाती है। इन्द्रिय–मोह से ऊपर उठना उसके बस का नहीं।

उपरोक्त विश्लेषण से यह बात समझ में आ सकती है कि चालू कामुकता का प्रतीक यह तिरिया ही तुलसीदास के मानस में या संतों के काव्य में अपनी कोरी ऐन्द्रिकप्रियता के कारण "शूर्पनखा" या "पैनी छुरी" बन आई है। क्योंकि वह अपने

स्त्रीरूप से किसी को भी तो मां, बहिन, पुत्री या प्रेमिका बन कर भी उत्प्रेरित नहीं करती जिस कारण लोक–दृष्टि से उसका मूल्य गौण रह जाता है। अपने निजी तौर पर भी उसका मूल्य अनैतिक उपभोग से उत्पन्न जर्जर मानसिकता की आयु के साथ शून्य हो जाता है। अतः अस्तित्वहीन होकर जीना या मरना दोनों ही दुखांतता है। अस्तित्व की खोज में जो सहायक हो वही ख़सम है गुरु है। किन्तु तिरिया की चर्चा तक घर या समाज में स्त्री पुरुषों में गाम्भीर्य को नष्ट कर देती है। जबकि चेतना पाने के लिए काम के मामले में किसी स्तर पर गम्भीर होना तो अनिवार्य है ही।

आज तिरिया के उपासक लोग भले ही समाजशास्त्र की आड़ में उसके महत्त्व की वकालत करें या बड़ी बात होने के चक्कर में सामाजिक परिस्थिति या परिवेश के घटियापन को तिरियापंथ के जन्म के लिए उत्तरदायी ठहराएं। किन्तु इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि यह एक मानसिकता है जो सब जगह है। जिसका उपयोग एवं उपभोग राजनीति में सर्वाधिक होता है। इसका विरोध वे लोग भले ही न करें जो लोग अन्धे, बहरे एवं लुंज–पुंज कानून की व्याख्या करके कुछ न कुछ कमाने में ही अपनी शिक्षा की सार्थकता समझते हों। पर निरीह निस्पृह सन्तों को तो इस मानसिकता का हर स्तर पर ही विषैला प्रभाव नज़र आता है। अतः उनसे यह आशा करना कि वे लोकचेतना एवं आम–चेतना के विरोधी इस चालूपन की किसी हालत में वकालत करते, नितान्त भ्रम होगा। यह समझना आवश्यक है कि संतों का ध्येय या लक्ष्य पद क्या था। उस पद तक पहुंचने के मार्ग में क्या तिरिया उनका सहयोग कर सकती थी। यदि सहयोग करती तो आधारहीन होकर समाज में उसका जीना कठिन हो जाता। अतः सन्त–मनोवृत्ति से इस मनोवृत्ति ने अनादिकाल से अनन्तकाल तक शाश्वत विरोध का मार्ग चुना। यह विरोध सत्यनिष्ठा और व्यावहारिक या कामचलाऊ स्वार्थसिद्धि में रहा है। इसमें केवल कामुकता ही रही हो यह बात नहीं। बल्कि कामुकता को स्वार्थसिद्धि का माध्यम बनाने या न बनाने का विषय ही कबीरपंथ और तिरिया पंथ के बीच का मौलिक मतभेद है।

जिस युग में संत लोग "तिरिया" मनोवृत्ति से जूझ रहे थे उस युग में भी माध्यमिक मनोवृत्ति के या दलाल किस्म के लोग कोरी बात कहना या सुनना पसन्द नहीं करते थे। आलंकारिकता या हेराफेरी की भाषा से दोनों काम निकालना चाहते थे। "लोकहित भी हो जाए और अपना लुच्चापन भी तुष्ट हो जाए। "हमारी बात से आगे आने वाले लोग रीझ जाएं तो बहुत अच्छा, पर न रीझें तो राधाकृष्ण का स्मरण ही हो गया समझो।" पर ऐसा तो होता नहीं। दोहरी मनोवृत्ति में शुरू में तो लगता है कि वह सन्तुलनमयी है पर धीरे धीरे क्या कुछ ही दिनों में इस व्यापारी मानसिकता को जंग खा जाता है। घोर स्वार्थपरता के कारण आज के लोगों की तरह तब भी लोकहित एक मुखौटा बन गया होगा और लुच्चापन उस मुखौटे की बदौलत गांव की

पंचायत या नगरों के न्यायालयों, धर्म के स्थानों, या समाजगोष्ठियों में प्रतिष्ठा की तलाश में रहा। खरी बात या कोरी बात सुनने वाले लोग तब भी कम ही रहे होंगे। भर्तृहरि का यह कहना "कि पढ़े लिखे या ज्ञानी लोग ईर्ष्या के मारे हुए हैं, और पैसे तथा सत्ता से जुड़े लोग अहंकार से अंधे हैं, आम जन अज्ञान में डूबा हुआ है, तो खरी बात कौन सुने? वह तो बेकार जाती है।'

भाषा में भी यह तिरिया मनोवृत्ति गज़ब का रोल अदा करती है। वाणी की शुद्धता जिसे आज के साहित्यकार साफगोई कहकर ज्यादा प्रसन्न होते हैं, इस बात का प्रमाण है कि बात या वाक् को होना तो साफ ही चाहिए परन्तु दुनियादारी का मसला यह है कि बात छिपाकर और छिपकर होनी चाहिए। क्योंकि शर्मसारी का घूंघट निकालने के ठेकेदार लोगों की नंगे सच को देखकर भी रूह कांप उठती है। शर्म से सर ऊपर उठता ही नहीं। बेचारे बेहयाई से इतने डर जाते हैं कि किसी मेहमान के या किसी अन्य के घर में आते ही सरल सत्य को भी कछनी पहनने दौड़ा देते हैं। भाषा के बेबाक या दो टूक प्रवृत्ति को बेचारी शाब्दी माया की तिरिया सहन नहीं कर सकती अतः नंगे यथार्थ को सामाजिक या वैयक्तिक सौन्दर्यबोध के नाम पर प्रच्छन्न करके व्यभिचार या मिथ्याचार को प्रोत्साहित करती है। इसलिए महत्त्व ज्यों ज्यों प्रच्छन्नता का बढ़ता जाता है त्यों त्यों बाजार में लुच्चेपन के सिक्के में उछाल आ जाती है। फिर कलाएं चाहे ललित हैं या उपयोगी सब उसी को प्रमाण मानने लगते हैं। इसलिए उपनिषद् का कोई ऋषि यह कहे कि "हे पूषन् सूर्य ! इस सत्य को सोने की चकाचौंध ने घेर लिया है अतः सत्य और धर्म सामने लाने के लिए उसे अपावृत करो, दूर करो, क्योंकि दृष्टि का व्यभिचार तभी शान्त होगा, तो ठीक ही है। इस प्रकार लड़ाई दो मानसिकताओं की रह जाती है। नाज़– अन्दाज और नखरों को वहन करने वाली व्यभिचारिणी मानसिकता और अपने में टिकी स्वस्थ मानसिकता के बीच। विवेकी सन्तों, कवियों, दार्शनिकों या वैज्ञानिकों ने स्वस्थ मानसिकता का पक्ष लिया है व्यवहारी, चालू या सम्मोहन का भ्रम खड़ा करने वाले तिरियापंथ का नहीं। जहां तिरिया–पंथ होगा वहां हृदय की घुटन भी होगी, सैक्स और हिंसा के नाम पर कमज़ोर लोगों को मर्द और सूरमे बनाने के लिए बड़े बड़े लटकेबाजों, दलालों, धूर्तों और भण्डों का होना भी अपरिहार्य होगा। ऐसी स्थिति में एक संत की संवेदनशील चेतना इस तिरिया के साथ समझोता करती भी तो किस आधार पर।

वाग्–दृष्टि

भारती

आज इस शीर्षक को मैंने इसलिए चुना कि संस्कृत में और आमलोगों में प्रयुक्त भारत और भारती शब्द जितने अपने अन्तर्दर्शन को खोलते हैं उसके शतांश को भी न तो आम पण्डित लोग और न ही आम आदमी महत्त्व देकर समझता है न व्यवहार करता है। हम पाठशाला में पढ़ते थे तो कभी कभी किसी प्रश्नपत्र में निबन्ध–रचना के लिए एक विषय दे दिया जाता था–''भारते भातु भारती।'' यानि भारत में भारती प्रकाशित हो। फिर बचपन में शंकराचार्य की कहानी सुनते समय एक भारती नाम की मण्डनमिश्र की पत्नी से परिचय हुआ जो बाद में अपनी अद्भुत तत्त्वज्ञता के कारण आचार्य शंकर की पथप्रदर्शिका बन कर फिर शिष्य बन गई। उन्हीं के एक संन्यासी जो अपना संप्रदायानुसारी नाम 'भारती' रखने वाले थे उन से मेरा परिचय भी हुआ। फिर कभी दुर्गापूजा में भी ये वाक्य सुनने को मिलते –

''महाविद्या महावाणी भारती वाक् सरस्वती
आर्या ब्राह्मी कामधेनुर्वेदगर्भा सुरेश्वरी।''
त्रयीविद्या कामधेनुः सा स्त्री भाषा स्वराक्षरा।''

इन पद्यों में भारती शब्द के जितने भी पर्याय शब्द 'प्राधानिक रहस्यम्' स्तुतिपाठ में आए हैं वे सारे एक ऐसी चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसके माध्यम से हमारे सारे राष्ट्र की, समाज की, धर्म–राजनीति की, कृषि, कला–विज्ञान की सभी विद्याएं अनुप्राणित रही हैं। नए युग के महाकवि निराला ने ''भारती जय विजय करे। स्वर्णशस्य कमल धरे'' का स्वर दुहराया। इससे ऐसा लगता है कि जिस भारती का साक्षात्कार प्राचीनों ने विद्यातत्त्व या वाक्तत्त्व के रूप में किया था उसी को अर्वाचीनों ने सुनहली अनाज की वालियों से लहलहाती और खिले हुए कमलों से मुस्कुराती अन्नपूर्णा ही नहीं निर्मल सौन्दर्य और प्रेम की विराट् मूर्ति के रूप में भारत मां की देशप्रतिमा को, और नारी–मूर्ति के रूप में इस इस राष्ट्र की उन समस्त युवतियों को जिनमें ज्ञान, प्रेम, बलिदान और अन्याय के विरूद्ध स्थायी संघर्ष की भावना एवम् नई चेतना को जन्म देने की क्षमता थी, भारती ही समझा। तभी तो सच्चे शाक्तों ने समस्त विद्याओं को समस्त जगत् की स्त्रियों को, और सम्पूर्ण भूमि को, एक ही रूप में देखा – विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः

समस्ताः सकलाः जगत्सु।

यह बात भारतीय इतिहास के आरंभ से ही देखने योग्य है कि एक विशेष प्रकार के सत्य अनन्त ज्ञान को ऋषियों ने वाक्तत्त्व या वाणीतत्त्व में उतरते देखा। फिर वह वाणी यहां के मनुष्यमात्र में फैल गई। उस वाणी के गर्भ को धारण कर स्त्रियां और पुरूष भूलोक देवलोक तक फैल गए। इन्हीं लोगों में से पहले लोग जो अपने को आर्ष कहते थे उन्होंने घूमते हुए सत् चित् और आनन्द–स्वरूप ब्रह्म को ही सब जगह देखा। तो परवर्ती आर्यों को उस वेद–ब्रह्म को गर्भ में धारण किए वेद–गर्भा वाक् या सरस्वती दिखाई देने लगी। इस सरस्वती वाक् का मुख्य लक्ष्य मानवों की भौतिक आवश्यकताओं को समझकर उनके कणकण में इस चेतना और संगीत का संचार करना था। मनस्तत्त्व के साथ साथ शब्दतत्त्व के चरमसौन्दर्य के प्रति प्रबुद्ध करना था। इस प्रबुद्धता एवम् जागरूक चेतना का नाम ही प्रकाशरूपा 'भा' है। यह ''भा'' मनुष्यों के भीतर ज्ञान–प्रकाशरूपा है तो बाहर चन्द्रसूर्य–अग्नि की प्रकाशरूपा है। स्त्रियों और पुरूषों में सौन्दर्यरूपा है और कुल मिला कर पूर्णस्वरूपा है।

इसलिए जब किसी व्यक्ति में चेहरे पर तेजहीनता और वाणी में लड़खडाहट आने लगे या जीभ ठण्डी होने लगे तो समझा जाता है कि अमुक व्यक्ति इस लोक से अब जाने वाला है। इसलिए जीवन को जीने योग्य बनाने के लिए इस प्रकाशरूपा ''भा'' की उपासना को जीवन का अकाट्य अंग माना गया। वैदिक ऋषियों की गायत्री–उपासना में वैदिकों, पौराणिकों और तांत्रिकों को इस "भा" के भौतिक अतिभौतिक रूप स्पष्ट हो चुके थे। तभी उस "भा" के विराट् रूप की कल्पना श्रीमद्भगवद्गीताकार व्यास के मस्तिष्क में कौंधी तो उन्होंने उस महात्मा तेजोमय पुरूष की 'भा' का वर्णन कुछ इस प्रकार किया कि ''यदि द्युलोक में एक साथ हजारों सूर्यों का प्रकाश एक साथ उठ खड़ा हो तो कहीं उस महात्मा की उस "भा" की कोई तुलना शायद हो जाए।''

इस महती 'भा' के विराट् रूप को तांत्रिकों ने देह, मन, प्राण और वाणी के स्तर पर अनुभव किया तो इस भा का नाम अग्निकुण्डलिनी, सूर्यकुण्डलिनी एवम् चन्द्रकुण्डलिनी के साक्षात्कार के साथ जुड़ गया। इसलिए समस्त वैदिक संस्कार अग्नि–संस्कार से आरम्भ करके प्रकाश की उपासना में से होते हुए अन्त्येष्टि की अग्नि में ही विलीन हो जाते हैं। वैदिकों को तो इस बात की निश्चित कल्पना थी जो ऋषि के शब्दों में ऋग्वेद के पुरूष–सूक्त में प्रकट हुई–''मैनें उस महान् पुरूष को, जो आदित्यवर्ण है तथा अंधेरों से कहीं ऊपर है, जान लिया है। उसी से पूर्ण परिचय प्राप्त करके मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है। और कोई रास्ता नहीं।'' अन्तराल की स्वच्छता, बुद्धि की विस्पष्टता, चेतना का साक्षात्कार, जीवन में किसी महाकर्म का उदय, ये सभी बातें यदि किसी भी व्यक्तिचेतना या समाजचेतना का अंग हों तो वहां किसी भी स्तर पर ज़िन्दगी की अंधेरी कोठरियों में सीलन, गलन या

भय आदि का नैराश्य नहीं रहेगा। और दूसरी बात यह कि प्रकाश के बाह्य स्थूल रूप को नित्य रूप से चेतना के सम्मुख लेजाते ही प्रेम का उद्रेक होने लगता है तो हम ''भा —रताः'' यानि प्रकाश में रत या आसक्त हो जाते हैं। इसी ने हमारे यहां के मंत्रद्रष्टा ऋषियों, महाकवियों, विज्ञानियों, कलाविदों को जन्म दिया। प्रकाश के जितने विविध बिम्ब हमारी कला और साहित्य में उपलब्ध होते हैं उनका अन्यत्र शतांश भी शायद ही मिले। कहना न होगा कि हमारे यहां के किन्हीं प्रकाशप्राप्त महाचेता पुरुषों की जीवन–कल्पना को साकार करने वाली जिस चेतना का इस राष्ट्र के भूखण्ड पर उदय हुआ उसी को सब ने भारती कहकर पुकारा। अब हम ''भारती श्रुतिमहती महीयताम्'' की बात को संभवतः समझ पायेंगे। और भारत शब्द का सही अर्थ भी जान पाएंगे।

जो लोग यह समझते हैं कि भारत शब्द की व्युत्पत्ति 'भरत–अण्' से हुई है और भरत की व्युत्पत्ति 'भरं तनोति' से हुई है वे इस तथ्य का साक्षात्कार कर सकेंगे कि भर शब्द का अर्थ बोझा है, बहुलता है और कुछ भरण–पोषण से सम्बन्ध भी जोड़ा जा सकता है और भरत को भाड़े का आदमी भी कहा जा सकता है। अभिनेता तथा कुछ ब्राह्मणवंशी एवम् क्षत्रियवंशी मुनियों के नाम के साथ भी भरत शब्द को जोड़ा जाता है। संस्कृत के नाटकों के अन्त में 'भरतवाक्यम्' का प्रयोग व्यक्ति और राष्ट्र के कल्याण की कामना के लिए किया जाता है तथा उससे नाट्याचार्य भरत मुनि के प्रति आदर भी व्यक्त हो जाता है। किन्तु भरत शब्द की इन धारणाओं को लेकर कोई बहुत बड़ा अत्यधिक नैतिक, धार्मिक या आर्थिक दृष्टि से उद्बुद्ध राष्ट्र नहीं खड़ा किया जा सक़ता जो एक सीमा पर जाकर देश और काल की सीमा का अतिक्रम करने वाली मानवी चेतना की बात करे। इस नई मानवी चेतना का जन्म ऋषियों मुनियों और तत्ववेत्ता आचार्यों के मस्तिष्क और हृदय में एक साथ हुआ। इस चेतना का नाम संस्कृत हुआ जो अपनी प्रकृति को पार करते हुए जनसामान्य की भाषा न होते हुए भी यह समस्त जन–भाषाओं के यंत्रजाल में केन्द्रबिन्दु बन गई। इसमें जो वर्णसंस्कार, लिपिसंस्कार, पद–संस्कार, वाक्य–संस्कार किंवा विवक्षासंस्कार हुआ उसी ने इसे ''दैवीवाक्'' का नाम दिलवाया। जैसे कोई महान् मूर्तिकला–विद् पत्थरों के ढ़ेर में से किसी सुदृढ एवम् योग्य पत्थर को चुनकर अपने औजारों के संस्पर्श से उसमें देवता या दिव्यता उतार लेता है उसी प्रकार यहां के जन की प्राकृत चेतना में से मनीषी लोगों ने शब्द–मूर्तियों में अपने संस्कार और प्राण की प्रतिष्ठा करके मानवीय वाक्तत्व को ही विश्वचेतना में रूपान्तरित कर दिया। वह वाक्चेतना आर्यों के मानस–प्रदेश में से उदय होकर भी हिमालय के शिरोभाग से फूटी गंगा के समान पूर्व, पश्चिम, दक्षिण के समुद्रों तक फ़ैल गई। इस भारत भूखण्ड की संपूर्ण चेतना में व्याप्त हो जाने के कारण इसका नाम भारती पड़ा। संपूर्ण देश में एक ऐसी राष्ट्रीयता का जन्म हुआ जिसकी उपासना में सभी प्रदेश परस्पर मिल कर रत हो गए। भूमि, भाषा, शरीर और जाति के बन्धन उसके

सम्मोहन को कम नहीं कर पाए। इस भारत–मंदिर में प्रतिष्ठित भारती–मूर्ति को नमन करने के बहाने देखने के लिए देश–देशान्तर से सहस्रों लोग आते रहे और आते चले जा रहे हैं।

भारत की प्रादेशिकता में स्थित होते हुए भी इस भारती के प्रकाश ने प्रादेशिकता को तोड़ा और विश्वचेतना को आत्मसात् कर लिया तभी तो उसके उपासकों एवम् साधकों ने उसे ''विश्वगर्भा स्वर्णगर्भा वरदा वागधीश्वरी'' कहा। और कहा कि उसकी विश्वात्मकता के कारण उसकी जो साधारण सी भी उपासना करता है उसके जिह्वाग्र के रंगमंच पर भारती अपना शाश्वत नृत्य करती है । भारती का यह नृत्य नए–नए छन्दों में, शब्दों के बन्धों में, संगीत के स्वरजगत् में, तानों, मूर्छनाओं, आलापों के नाना विवर्तों में बहने लगा। वाक्तत्व में यह जो प्रकाश या ''भा'' दमक उठी थी उसी के मधुर आलोक में द्रष्टाओं को यहां की मिट्टी और उस मिट्टी की परतें पारदर्शी हो कर खुलती दिखाई दीं। वह मिट्टी और उस मिट्टी में उगे लोगों की मानसिकता भारतमाता बन गई। लेकिन बंकिम चन्द्र चटर्जी को जिस भारत मां का साक्षात्कार हुआ था वह भारत–माता फसलों से लहलहाती शस्यशमला, मलयजशीतला, कोटि कोटि कण्ठ कलकल निनाद कराले ''अबला केन मां एत बले'' बहुबलधारिणीम्, नमामि तारिणीम्'' वाली भारती ही थी। इसी के साक्षात्कार ने बंकिम को उसी दिन राष्ट्र का मन्त्रद्रष्टा ऋषि बना दिया था। इसी की मूर्तियों के हाथों में सहस्रों मूर्तिकारों ने तीन हाथों में वीणा, पुस्तक और स्फटिकाक्षमालिका प्रदान कर एक हाथ को अपने लिए वरद अभय मुद्रा में रख दिया।

भारती का यह स्वरूप रसवती सरस्वती के नाम से भी प्रख्यात हुआ। वह यहां के कवियों की वाणी में उसी तरह बहने लगी जैसे ब्रह्मावर्त में कुरूक्षेत्र के पास में महानदी सरस्वती बहती थी। वह महानदी जैसे अन्तःसलिला होकर सारी नदियों में व्याप्त हो गई उसी प्रकार यह भारती जिसे 'वाणीप्रवाहः भारती निर्घोषः' कहा जा रहा था वह भी अन्तःस्थिता होकर राष्ट्र की सम्पूर्ण भाषाओं को भीतर से अनुप्राणित करती जा रही है। लेकिन जब इस भारती का उत्पीड़न शुम्भ–निशुम्भ सरीखे महादैत्यों से होता है तो इसी की आठों भुजाओं में आठों दिशाओं में घंटा, शूल, हल, शंख, मुसल चक्र, धनुष, बाण प्रकट होते हैं । मदान्ध घोर काले मेघ के सिर पर शासन करने वाले शीतांशु चन्द्रमा के समान वे प्रकट होती हैं और तीनों लोकों की शुभ शक्तियों का आधार बन जाती हैं । महाकाली और दुर्गा के रूप में अशुभ शक्तियों का संहार करती हैं तथा महालक्ष्मी के रूप में दिव्य ऐश्वर्य और विभूति को धारण कर लेती है ।

पुराणों में जो वर्णन है, कि सात समुद्रों वाली इस धरती के समस्त द्वीपों और वर्षों में भारतवर्ष अत्यन्त पुण्य स्थान है – "अहोभुवः सप्तसमुद्रवत्याः द्वीपेषुवर्षेष्वधिपुण्यमेतत्" श्रीमद्भागवत (5–6–13) या विष्णुपुराण में जो कहा गया है कि देवतालोग भारतभूमि पर रहने वाले लोगों की तारीफ के गीत गाते हैं कि

स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि के साधनभूत इस भारत के लोग देवत्व से कहीं आगे बढ़ रहे हैं (2–3–24), तो यह बात आत्मप्रशंसा मात्र बिल्कुल भी नहीं । संस्कृत वाक् जिसका एक नाम सुरभारती भी है यह उसका यथार्थ है । उसमें उपवर्णित सभी विद्याओं का मुख भोग–मोक्ष की ओर ही मुड़ा हुआ है । इसी सुरभारती का मन्दिर होने से ही भारतराष्ट्र की प्रतिष्ठा हुई । उसकी पवित्रता का उद्घोष हुआ "वर्ष तद् भारतं ज्ञेयं भारती यत्र संततिः" कह कर पौराणिकों ने दोहरा संकेत किया है कि भारतवर्ष वही है जहां भारती की उपासना करने वाले लोग हैं ।

अब यह समझ लेना जरूरी है कि आज के बड़े बड़े इतिहासकार जो भारतवर्ष की राष्ट्रीयता को एक बाहर से आयातित विचार मानते हैं वे कितनी जड़ता में खुभे हुए हैं । हां, यह अलग बात है कि हमारी राष्ट्रीयता का आधार केवलमात्र भूमि के टुकड़े को खो देने या छीनने तक सीमित नहीं या नस्लवाद तक सीमित नहीं। वह एक जीवन्त चेतना है जिसे समझने के लिए मानस तप करना पड़ेगा । वह केवल इतिहास के कोरे तथ्यों की खोज में ही रत रहने वाले पश्चिमी या पूर्वी इतिहासकारों के वश की बात नहीं।

इस वाणी की देवता सरस्वती को जिसे हमने मात्र खाने, पीने, जागने, सोने की भाषा ही नहीं समझा उस इस संस्कृत सरस्वती को कोई केवल भाषा कह दे तो उसे ग्राम्य कहा गया । महर्षियों ने इसे दैवी वाक् इसलिए कहा क्योंकि यह भारती वाक् उन महर्षियों के अनन्त कोटि जागरूक महापुण्यों का फल था जिसमें एक चेतना अवतरित हुई थी । इसलिए यहां के काव्य–शास्त्रियों ने भी नाट्य में एक विशेष प्रकार की अभिनेता के बोलने की संस्कृतप्राय शैली को भी भारती कहा– "भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रय": (साहित्यदर्पण) । अन्य बोलियां या लोकभाषाएं इस भारती के अंगों उपांगों के रूप में ही व्यवस्थित रहीं । भारत के कवियों का वाग्व्यापार जो उनकी चेतना का ही निर्मल बिम्ब था वह भारती ही में उतरा । और भारती ही में उतरने के कारण व्यास के महान् काव्य महाभारत का नाम भी भारत है। महाकवि व्यास की स्तुति करते हुए एक कवि ने कहा" कि कानों के अंजलिपुट से बेसब्री से पीने योग्य भारत नामक अमृत जिसने तैयार किया उस अनासक्त राग–रहित अकृष्ण यानि सत्वशील निर्मल द्वैपायन कृष्ण को नमस्कार करता हूँ (वेणी संहार, 1–4)।" परन्तु साथ ही दूसरे कवि ने स्पष्ट कर दिया कि व्यास के जिस भारत–नामक महाकाव्य को भारती एक आभूषण के रूप में धारण करती है वह भारत–काव्य व्यास की वाणियों की निचुड़न है और सम्पूर्ण विश्व की प्रज्ञा का सार है (आर्या सप्तशती 31)।

वस्तुतः भारतीय चिन्तन और चेतना के देशकाल–सीमित इतिहास को ले लें, तो चाहे देशकालातीत दृष्टि को, एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि आर्यों के माध्यम से इस भूखण्ड पर जिस पारदर्शी नई चेतना का उदय हुआ था उसकी नादब्रह्म के रूप में, जिसमें भाव और भाषा का लेशमात्र भी अन्तर नहीं रहता, जहां अनुभूति, चिन्तन या मानस और अभिव्यक्ति एकाकाराकारित रहते हैं, जहां शब्द

और श्रुति के प्रति नितांत जागरूक संवेदना रहती है, उसकी उपासना हुई । इसी चेतना को ऋषिप्राणों के अन्तर के आखिरी छोर से सांसों के आखिरी बाहरी छोर तक परा, पश्यन्ती मध्यमा वैखरी वाङ्मातृका के रूप में देखकर ही एक अखण्ड राष्ट्रीयता का उदय हुआ । उसी भारती को अखण्ड रूप में देखकर भारत के नए मनीषियों ने क्रांतिकारियों ने उसे जनजन तक पहुंचाने के लिए भारतमाता नाम दे दिया । उसका 'मदरलैण्ड' जैसे प्रादेशिक 'कन्सैप्ट' से कुछ भी सम्बन्ध नहीं । लेकिन तो भी इस युग के आरम्भ से ही हमें एक ओर आत्मघात करके दूसरों की मिथ्या बात को भी खोखले तर्कों से प्रशंसित करने की हिदायत दी जाती रही और उधर अत्यधिक विजय के प्रति उत्साह के कारण पूंजीवादी संस्थाओं के खिचड़ी–दर्शन के कारण वर्तानिया, अमेरीका, फ्रांस, जर्मन जापान के अंधे और उन्मत्त पूंजीवाद की कुछ प्रतिशत छाया पड़ जाने के कारण भारती चेतना के मूल सूर्य–बिम्ब को मात्र प्रादेशिक चेतना का कुछ अंशों में ग्रहण लगने लगा। मातृभूमि या हिन्दुभूमि तक राष्ट्र–चेतना को कैसे सीमित किया जा सकेगा । आगमिकों और तांत्रिकों ने उसे प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति और समाज की संस्कृत चेतना का प्रतिफलन कहा है । वह जिस भी देश या भूखण्ड के साथ जुड़ जाती है वही भारत राष्ट्र यानि प्रकाश के उपासकों का कुल बन जाता है । अतः मां सरस्वती की प्रतिमा के रूप में भारती के ही उस रूप को प्रतिष्ठित किया गया जिसमें काव्यचेतना, संगीतचेतना के साथ मिलकर सत् और असत् को, दूध से पानी को अलग अलग कर देने वाले हंसों परमहंसों के मन प्राण पर आरूढ़ हो गई । उसमें चन्द्रमा और कमलों के विकास का भी सामंजस्य हो गया । नीचे पद्मासन और ऊपर शरद् ऋतु के चन्द्रमा की चान्दनी के साथ वह भासित होने लगी । कवियों ने इस दृश्य को यथार्थ रूप में देखा कि समस्त दिशाओं में उसी काव्यचेतनारूपा भारती के निर्मल शुभ्र सौंदर्य से सारे भारत की दिशाओं में बहता हुआ, दूध पर पलने वाला जीवन का क्षीर–समुद्र उस का दास हो गया है। और उस चेतना की हल्की स्मिति से शरद् का चन्द्रमा भी तिरस्कृत होने लगा। अरविन्द रूप आसन पर बैठने वाली उस सुन्दरी को सभी लोग नमस्कार करने लगे । ब्राह्मणों ने विशेष कर भृगु और दुर्वासा जैसे लोगों ने भारती के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव रहने से लक्ष्मी के शाप को यानि सदा–सदा के लिए अभावों में ही जीवनयापन करने की प्रतिज्ञा का वरण कर लिया । लेकिन वे जब तक जिए तो नवरस की कांति से उज्ज्वल कृतियों को धारण करने वाली कवियों की भारती चेतना को ही मात्र नमन किया–"नवरसरूचिरां निर्मितिमादधति कवेर्भारती जयति"।

साहित्यिक, वैज्ञानिक, भौतिक अतिभौतिक आध्यात्मिक समृद्धियों के अक्षय कोष के रूप में इसी महाचेतना को षोडशी त्रिपुरसुन्दरी बाला के रूप में 'श्री' कह कर अभिनन्दित किया गया और गणपति यानि सामूहिक रक्षा की राष्ट्र–चेतना को उसकी देखभाल के लिए द्वारपाल नियुक्त कर दिया । उसी की स्मृति में आज भी लोग अनजाने में घरों में दुकानों में दिवाली की रात को एक साथ असंख्य दीपों के प्रकाश में केवल दो शब्द प्रति दीवार पर लिख देते हैं एक श्रीः और दूसरे गणपति ।

अम्बिका : मातृका

अम्बिका शब्द का मूल अर्थ मातृका या माता ही उपलब्ध होता है। किन्तु इस शब्द का संस्कृत में आगमन सीधे ही लोक से हुआ होगा। अम्मा, उमा, अम् या मम् आदि ध्वनियां जो स्तनपायी बच्चों में अक्सर व्याप्त रही हैं, उन्हीं का संस्कृत में अम्बा रूप बना होगा। छोटे बच्चे माँ को संबोधन में प्रायः इसी प्रकार पुकारते हैं। जिन बच्चों के अभी दांत नहीं उगे उन्हें तो कण्ठोष्ठ्य ध्वनियों से ही काम चलाना पड़ता है। ध्वनियों की सरलता की दृष्टि से मानव वाक् पर उतरने वाली अम्, अम्मा या ओम् आदि ध्वनियां निश्चय ही शब्द की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति लगती हैं। "अ" का उच्चारण कण्ठ से और "म्" का उच्चारण ओंठ और नासिका से होता है। फलतः कहा जा सकता है कि मानव वाक् के प्रस्फुटन में कण्ठ, ओंठ और नासिका ये ही सर्वप्रथम सक्रिय अंग रहे हैं जो वाक् की अभिव्यक्ति के आदि उन्मेष और अन्तिम निमेष की क्रिया के द्योतक हैं। वैदिक आर्यों ने इस वाक् को संस्कृतायता करके अ और म् के बीच में हल्का सा जिह्वा का स्पन्दन डालते हुए "उ" ध्वनि को नामालूम सा मिश्रित करके या संस्कार करके ओम् ध्वनि को सृष्टि की मूल ध्वनि माना। यह ओंकार ही विश्व की मूल मातृका है। यही विश्व की समस्त ध्वनियों की जन्मभूमि है। अतः उपनिषदों ने कहा "ओम् इति एतत् अक्षरम् इदम् सर्वम्। तस्य उपव्याख्यानम्"। अर्थात् यह सारा विश्व ओम् ही है। यह सब उसी का विस्तार है।

तन्त्र में जब अम्बिका शब्द का प्रयोग हुआ तो बड़ी सूझ के साथ उसमें मातृभाव की बीजावस्था और अंकुर या कुमार अवस्था को संयोजित करके रख लिया गया। क्योंकि एक शिशु मां के ही खोए बालभाव का नवल उन्मेष है, जिसमें अभिव्यक्ति की स्थूलता की बजाए नई नई सम्भावनाओं का सम्प्रजनन है। यह कुमारभाव वस्तुतः प्राकृतिक शक्तियों की "न ययौ न तस्थौ" वाली स्थिति है जिसमें गति और स्थिति विलग होने से पहिले गले मिली रहती हैं। युवाभाव की अग्रसत्ता का मूलस्थान यही है। इसी से अम्बिका भाव की पूजा का प्रारम्भ कुमारीपूजा एवम् कुमारपूजा के रूप में हुआ। सर्वत्र इस अवस्था को ही समस्त शक्तियों का स्रोत माना गया। महामृत्युंजय के प्रसिद्ध मंत्र "त्र्यम्बकं यजामहे" में तीन नेत्रवाले अम्बक कुमार के आगे ही महामृत्यु से मुक्त कराने की प्रार्थना है। त्र्यम्बक पदों में तीन अम्बिकाओं के स्वामी या पति का अर्थ लेने की अपेक्षा तीन शक्तियों से युक्त उस सत्ता को समझना चाहिए जो जीवन एवम् शक्ति का पूर्ण उदय या पूर्ण विकास चाहती हैं। त्र्यम्बक सत्ता का वह रूप है जिसमें सृष्टि के त्रिविध विकास की सम्पूर्ण क्षमताएं खड़ी हैं। वह न तो शून्य या मौन चेतना है। न ही वह उपभोग के कारण क्षय हो चुकी शक्ति का रूप है। वह सुगन्ध और पुष्टि से भरपूर है। सुगन्ध वह तत्त्व है, या

शक्ति की वह अभिव्यक्ति है जो अपने अतिरेक के कारण, न समा पाने के कारण अपने से अतिरिक्त दूसरे लोगों को भी आनन्द देती है। पुष्टि दूसरी शक्ति है जो वीर्य या विक्रम को मूर्तिमान् करती है। किन्तु वैष्णव आचार्यों ने पुष्टि का अर्थ अनुग्रह किया है अर्थात् "पोषणं तदनुग्रहः"। अनुग्रह या कृपा प्राप्त करने के लिए शक्ति का कुमाररूप ही श्रेष्ठतम है। कुमार बालक में जितनी सहज दया या करूणा रहती है उतनी प्रौढ़ या समझदार व्यक्ति में नहीं। बुद्ध में करुणा का उदय कुमारावस्था में तब हुआ जब उनके चचेरे भाई देवदत्त ने एक निरीह हंस को बाणविद्ध किया। भगवान् से जिन भक्तों ने अपने लिए करूणा या कृपाकटाक्ष मांगा उन्होंने कृष्ण या देवी की सोलह वर्ष की आयु से पूर्व की अवस्था का ही स्मरण या अनुध्यान किया। संभवतः ईसाइयत में भी लोग ईसा की माता को कुमारी इसीलिए मानते हैं कि वे करूणामूर्ति हैं। कुमारअवस्था करूणा, सख्य, आत्म को लुटा देने की प्रवृत्ति की चरम सीमाओं की अभिव्यक्ति है जिसमें शुभकर्म के उत्साह के साथ आत्मदान की बेझिझक प्रवृत्ति रहती है। अतः भगवान् की अव्याज करूणामूर्ति का साक्षात्कार करना हो तो उनकी सुगन्ध और पुष्टि से युक्त कुमारभाव की ही प्रकृति में आराधना करनी चाहिए। क्योंकि भोलाभाव, करूणा एवम् सख्यभाव की त्रिवेणी ही यह अवस्था है। इस तत्त्व से अपरिचित रहकर लोग जब कुमारीपूजन करते हैं तो वे एक मृत रूढि का ही पालन कर रहे होते हैं।

तन्त्र में परमसत्ता के साथ इसी प्रकार का सम्बन्ध बनाने के लिए लोगों ने व्यावहारिक जीवन के धरातल पर इस बात को गहराई से पकड़ा। और किसी प्रकार की विकृति से बचाने के लिए छोटे बच्चों या कुमारों को अम्बिका या अम्बक के नाम से भक्तों ने कहा। भारत भर में बहुत लोग छोटी आयु की लड़कियों को मां अम्मा, या अम्बिका के नाम से पुकारते है। क्योंकि कुमारी के प्रति यह मातृभाव ही उपासक की बुद्धि या मन को निर्मल रखने में सहायक होता है।

आगमों में मातृका शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यद्यपि अर्थ की दृष्टि से अम्बिका और मातृका शब्दों को समानार्थक ही माना जाता है, तो भी दोनों शब्द शक्तितत्त्व की दो विभिन्न अवस्थाओं को मुखरित करने लगते हैं। अम्बिका में पालनधर्मिता एवम् मुग्धभाव की क्रीड़ा का पुट ही अधिक लगता है। गुडियों से अपना भाव बनाते रहना उन्हें संवारते रहना अम्बिकाभाव या कुमारीभाव में ही अधिक है। मातृका शब्द मूलभाव या प्रजननभाव को ही अधिक व्यक्त करता है। मातृ शब्द का प्रयोग भारतीय दर्शनों में बहुत हुआ है। प्रमा, प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता शब्दों का मूल एक ही है जिसका अर्थ है मापना यानि ज्ञान कराना। किसी भी अनिश्चित वस्तु को निश्चित करके उसे सीमित रूप में जानने योग्य बना देना, मापना या मापने की क्रिया का परिणाम होता है। अतः अपरिसीम को परिसीम, अव्यवहार्य को व्यवहार्य, अदृश्य को दर्शनयोग्य, अयोग्य को भोगयोग्य बनाना ही

माता का काम है। प्रमा यानि ज्ञान, प्रमाण यानि ज्ञान के साधन, प्रमेय यानि जानने योग्य तत्त्व एवम् प्रमाता यानि ज्ञाता ये सभी माता शब्द की ही सन्तानें हैं। ये सभी ज्ञात्रीशक्ति या ज्ञान शक्ति के भिन्न भिन्न परिणाम हैं।

आगमशास्त्र की निश्चित धारणा है कि समस्त सृष्टि के बाहर और भीतर एक अनन्तता है जिसका न कोई नाम है न रूप है। श्मशान की सी वीरानगी सन्नाटा या अभेद्य मौन है जो मानवजीवन या सृष्टिजीवन की दृष्टि से अशिव है, अकुल है, नास्ति जैसा ही लगता है। वह शव की तरह की एक सी अचेत अवस्था या चिरसुषुप्ति की दशा में रहता है। वह दिगम्बर है। धूर्त इसीलिए है क्योंकि कहीं से भी पकड़ में नहीं आता। हरिण है इसलिए क्योंकि सब कुछ हरण कर लेता है। अपने जैसा ही नंगा बना देता है। पाण्डुलोचन इसलिए है क्योंकि उदासीन है। नैष्काम्य या निष्क्रियता की दशा में कुछ भी करने कराने का उसका मन नहीं।

इसी अनन्ततत्त्व के मौन को तोड़ देती है इसी की एक शक्ति, जिसका नाम इच्छा है। जिसे ऋग्वेद में संकल्पात्मिका रूप में काम कहा गया था। इस काम को आगमशास्त्र में रवि या सूर्य कहा है। क्योंकि यह काम या इच्छाशक्ति उस अनन्त चिरसुप्त शव के हृदय में एक स्पन्द सी उदित हुई। तब उस एक प्रकाशबिन्दु से सहस्र अनन्त कोटि प्रकाशधाराएं चू उठीं। उस अनन्त शव का वक्ष ही उस मातृका का प्रसूतिगृह बना। ज्ञानशक्ति ने उसी में से उठकर उसी सृष्टि की अनन्त कोटि शैलियों को आविष्कृत कर उसी को औपचारिक चिकित्सा प्रदान कर धात्री का काम किया। क्रियाशक्ति ने उसको और उसकी सन्तति को अग्रसर करते रहने की अनन्त सेवा का व्रत धारण किया। सृष्टिक्रिया पूर्ण हुई। उस मातृका ने जब उस अनुपयोगी, निठल्ले शिवतत्त्व को उपयोगी बनाया तो उसमें भी सौंदर्य का निखार हो आया। वह शव से शुभ हुआ। उस मातृका ने उसका भी संस्कार किया। एक ओर पति दूसरी ओर पुत्रसृष्टि विराजित होने से वह स्वर्णगर्भा मां चारों ओर मांगल्य की वर्षा करने लगी। उसकी सृष्टि की पूर्णता को शिव उदासीन भाव से नहीं मुग्धभाव या भोलेपन से निहार रहे हैं। और चेहरे पर पाण्डुलोचनता या उदासी की जगह संयमी ब्रह्मचारी का ओजपुंज एवम् मुस्कान है। एक मस्ती है। किन्तु सन्तति या जीव–सृष्टि के मुख से जब माता का आनन्दरूपता का स्तन जरा सा छूटता है तो सन्ततिलोक में चीख–पुकार के साथ परस्पर संघर्ष बढ़ जाता है। नीचे पड़ा शिशु ऊपरवाले से, छोटा बड़े से, बड़ा छोटे से कोई आनन्दपान का अधिकार पाने के लिए, कोई पाए हुए को न छोड़ने के लिए झगड़ रहा है। कोई कोई जिसमें शिवभाव अधिक जागृत हो उठा है, उस प्रतिद्वन्द्विता में से निकलकर मां के लीलाभाव को देखकर बाकी परस्पर उलझे हुए बन्धुओं को धर्मतत्त्व का तत्त्व कह रहा है। मां ने उसे ऋषि, बुद्ध, कवि, मनीषी का नाम देकर, प्रतिद्वन्द्विता में पड़े शेष बन्धुओं को सचेतभाव से जीवन जीना सिखाने के काम में नियुक्त कर दिया। किन्तु जब उसकी

बात को कोई नहीं सुनता तो वह मां से कह देता है कि "मैंने दोनों बाहें ऊपर उठाकर भाई बन्धुओं को बहुत कहा कि धर्म, अर्थ, काम का अनुपात या सन्तुलन से सेवन करो तो तुम्हें अवश्य ही आनन्द या मोक्ष भी मिल जाएगा। पर ईर्ष्या, द्वेष, कलह और द्वन्द्व की उपासना में रत लोगों को यह सब सुनने की फुर्सत नहीं।''

मां सुनकर गम्भीर हो उठती है। सब कुछ जांचती है। भाइयों, बहिनों, पतियों, पत्नियों, सासों, बहुओं, नौकरों, अधिकारियों, राजाओं, प्रजाओं के कलह को कुछ स्तब्ध दृष्टि से देखती है। और वह कामरवि, इच्छा या मातृकारूप सूर्य पुनः आरक्तवर्ण हो उठता है। चारों ओर लहू की बौछार। भण्डासुरों, महिषासुरों, शुम्भों–निशुम्भों एवम् रक्तबीजों के लहू से सने मुण्डों से मातृका का वक्ष भर उठता है। उस सन्नाटे की स्थिति में मातृका रक्तसना खड्ग और कपाल अपने में विलीन कर कालरात्रि एवं महारात्रि के रूप में चली जाती है। सृष्टिकमल मुद्रित हो चुका है। शिव फिर से शव बन गए हैं।

ओम् तत्सत् ।

यास्कीय निर्वचनविद्या–दर्शन

"वाणी को प्राप्त करना ही मनुष्य की सर्वोपरि उपलब्धि रही है'' यह बात जब वास्तव में समझ आती है तो मनुष्य के जीवन के रूपान्तरण की प्रक्रिया के द्वार खुल जाते हैं। सामान्यतः हम यही सोचते हैं कि वाक् या वाणी हमें उसी तरह प्राप्त होती आई है जिस तरह और इन्द्रियां हमें स्वभाव से ही प्राप्त होती हैं अथवा जैसे पशु एवम् पक्षी–जगत् को अभिव्यक्ति–शक्ति के रूप में ध्वनि या नाद–शक्ति प्राप्त हुई हैं। जैसे कि पक्षियों का चहचहाना या कूजन तथा गउओं का रंभाना घोड़ों का हिनहिनाना, कुत्तों का भौंकना आदि की तरह ही मनुष्य को वाक् की प्राप्ति हुई है। यह धारणा सही नहीं है। यह धारणा तभी बनती है जब हम मनुष्य की अनन्त शक्तियों को न पहचान कर उसे केवल आहार, निद्रा–भय, मैथुन'' की वृत्तियों का पुंज या उसे अर्थजगत् अथवा विषय जगत् का छोटा सा खंड या सामाजिक पशुमात्र मानकर सन्तुष्ट हो लेते हैं।

अभिव्यक्ति की शक्ति या वाक् की प्राप्ति एक ही बात नहीं है। अभिव्यक्ति–शक्ति तो पशु और मनुष्य को समान रूप से ही प्राप्त है। सामान्यतः तो मानुषी वाक् का प्रयोग भी व्यवहार में पशुस्तर पर ही होता है ''तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति''। किन्तु विचार के स्तर पर स्थिति बदल जाती है। वाक् द्वारा जिस दिन हमें चिन्तन की चेतना या अवलोकन करने की शक्ति प्राप्त होती है उसी दिन हमारा ऋषि या द्रष्टा की भूमिका में प्रवेश हो जाता है। तब यह जो कहा जाता है कि वाणी के पास आंखें नहीं और आंखों के पास वाणी नहीं (अर्थात् गिरा अनयन नयन बिनु वाणी) अतः अद्भुत रूप या सौन्दर्य का सुख अनकहा या अनिर्वच ही रह गया'' यह बात सही सिद्ध नहीं होती। क्योंकि वाक् रूप तृतीया दृष्टि के प्राप्त होने पर सभी कुछ निर्वचनीय या आलोकस्फुट हो जाता है। उसे कवि कहें या चिन्तक उस दिन वह सम्पूर्ण अर्थजगत् का पति हो जाता है। उसके लिए कुछ भी अनिर्वचनीय नहीं रहता अवाच्य नहीं रहता। खुली आंखों से इस अर्थजगत् या ईश्वरीय सृष्टि को देखता हुआ वह अपने अर्थपति होने का अधिकार प्राप्त करता है। इसी को यास्क मुनि ने ऋषि का आर्थपत्य कहा है[2]। इस आर्थपत्य या अर्थपतित्व के कारण यह सृष्टि जो अनन्तवासना या असंख्य आवरण ओढ़े है वह अपने वस्त्र उतारने लगती है। तभी ऋग्वेद के मन्त्र "जायेव पत्य उशती सुवासा''[3] का अर्थ खुलता है कि पति को चाहने वाली औरत जैसे उस पति के सम्मुख पूर्णतः स्वयम् का अनावरण कर देती है उसी प्रकार अर्थसृष्टि का प्रत्येक रूप प्रत्येक भंगिमा उस कवि या द्रष्टा के आगे उघड़ती चली जाती है। तब द्रष्टा जब दृष्टि से प्राप्त को रचना में ले आता है तो अपनी रचनाधर्मिता के कारण स्रष्टा बन जाता है और उसकी रचनाएं अपनी

नवीनता के कारण हर बार आदि सृष्टि या प्रथमा सृष्टि की तरह सद्यःस्फुटित कलिका की तरह नवीन होती हैं। हर बार 'प्रथमजा ऋतानाम्' अर्थात् ऋत सत्य का प्रथम जन्म होता है। वेद–वाक् के रूप में ऋषियों को इस ऋत की ही प्राप्ति हो गई थी।

वास्तव में ''अर्थ'' का अभिप्राय जब हम कोई अनादि भूत–तत्त्व या विषयजगत् लेते हैं तो गड़बड़ हो जाती है। यदि अर्थ हमारी विवक्षा का नाम है तो बहुत सी समस्याओं का समाधान हो जाता है। वैसे ''अर्थ'' शब्द की व्युत्पत्ति (ऋ + थन्) अर्थात् उसी मूल धातु से है जिससे ऋषि, ऋत, ऋतु, ऋण आदि महत्त्वपूर्ण पद प्रकट हुए हैं। सभी पदों के अर्थों में ''ऋ'' से आई हुई 'गति' सामान्य है। एक से गतिसामान्य का नाम ही अर्थसामान्य है। यास्क ने जो कहा है कि उसका यही अभिप्राय है कि पदों की इस समान गति को पहचान कर ही पदों का निर्वचन करना चाहिए। वक्ता का अभिप्राय या भावना को जाने बिना पदों का निर्वचन नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक पद वक्ता के अभिप्राय या विवक्षा को साथ लेकर ही चलता है। पद भी व्याकरण की दृष्टि से गतिशील है और अर्थ भी। "पद्" धातु का अर्थ भी गति है तो "ऋ +थन्" से बने अर्थ पद की गति में भी अर्थ एक छन्द, ताल, लय, यति के अन्तर निर्बद्ध होता है, क्रमबद्ध होता है। अर्थ या विवक्षा चेतना की आकस्मिक एवम् भावपूर्ण स्थिति है। भाव का अर्थ 'होना' न लेकर यदि 'होने की योग्यता' लिया जाए तो ही ठीक है। यह योग्यता ही छः भावविकारों या अवस्थाओं की क्रियाशील या स्पन्दवाली साध्यावस्था है जिससे हमारी विवक्षा पहली उत्पन्न होने की (जायते) अवस्था से लेकर अस्ति (है), विपरिणमते (बदलता है), वर्द्धते (बढ़ता है), अपक्षीयते (क्षीण होता है), विनश्यति (नष्ट होता है) की यात्रा को पार करती हुई भावरूपता को प्राप्त करती है[4]। ''भाव या अर्थ अथवा प्रयोजन या अभिप्राय हमारी मनःस्थिति का वह भाग है जिसमें मानसिक क्रिया या स्पन्द अथवा चेष्टा वर्ण या पदरूप में प्रकट हो जाती है और आख्यात (क्रिया) पदों की रचना हो जाती है। उस रचना का पूरा प्रकरण होता है। उस प्रकरण को जाने बिना पदों का निर्वचन नहीं करना चाहिए। यास्क जब यह कहते हैं कि ''नैकपदानि निर्ब्रूयात्[5]'' तो उसका यही अभिप्राय है कि बिना प्रकरण एवं पद की विवक्षा के मूल उदय को समझे पदों का निर्वचन नहीं करना चाहिए। अन्यथा आपके निर्वचन थोथे व निष्प्रयोजन हो जाएंगे। इस प्रकार निरूक्तशास्त्र का अध्ययन सीधे तौर से पदों का अध्ययन न होकर पदों के प्रकरण एवम् सन्दर्भों की तलाश है। व्याकरण केवल पदों के प्रकृति–प्रत्यय के विभाजन का निर्वाचक होने से व्युत्पत्तिशास्त्र रह जाता है जब कि निरूक्त पदों के पीछे छिपी पड़ी मानसिकता का अध्ययन होने से निर्वचनशास्त्र कहलाता है। निरूक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य जब यह कहते हैं कि निरूक्त का अर्थ ''निष्कृष्य विगृह्य वचनम्'' है तो वे व्याकरण की प्रक्रिया को ही निरूक्त पर आरोपित करते लगते हैं। क्योंकि पद का

विग्रह करके तोड़ने मात्र से तो बस व्याकरण की रस्म पूरी जो जाएगी।

वस्तुतः निरूक्तशास्त्र का उदय तब हुआ जब ऋषि–चेतना के आवेग में लोग जो कहना था कह चुके थे। अब प्रश्न उसी कहे हुए के विभिन्न आयामों को फिर से देख लेने का था। इस स्थिति में ऐतिहासिक प्रक्रिया को न डालकर उस सहज मानवप्रक्रिया को डालना चाहिए जिसमें मनुष्य स्वयं ही अपनी सहजानुभूति को अन्तःप्रेरणा से बोल चुकने के बाद उसी को दैवी मानकर आश्चर्यान्वित होकर उसी की गहराई की थाह लेने की ओर चल पड़ता है। तब वह अपने ही अध्ययन की प्रक्रिया होने से स्वाध्याय या आत्मदृष्टि कहलाने लगती है। हम जो कुछ बोलते हैं उसे बोलते समय संपूर्ण रूप से कहां जान रहे होते हैं ? वाक्प्रयोग तो एक क्रिया है जो वाक् कर्मेन्द्रिय से अभिव्यक्त हो उठती है। जन्म लेते ही शिशु को जो सर्वप्रथम अभिव्यक्ति–शक्ति प्राप्त होती है वह वाक् द्वारा रूदन के माध्यम से होती है। यह वाक् की रूद्र अवस्था है जो साभिप्राय होते हुए भी अर्थ या प्रयोजन की दृष्टि से निष्प्रकारक सी, निर्विकल्पक सी होती है। वह सरस्वती वाक् की मूल अवस्था या आदिस्रोत का उद्‌गम है। किन्तु दूसरी अवस्था में स्वतः ही प्राप्त हुए ध्वनिनादों से वर्णध्वनियों अथवा पदों की सृष्टि होने लगती है। इस पदसृष्टि के मूल में विवक्षा तो वाक्यरूप होकर मूलाधार में रहती ही है। आगमरहस्य जानने वाले तान्त्रिकों ने पद में वक्ता की इच्छा और क्रिया के समन्वय को ज्ञानरूप में परिणत होते देखा है। इस ज्ञान के पड़ाव पर आते ही उस सारस्वत धारा में ज्ञान आ मिलता है जो लौकिक भी होता है अलौकिक भी। इस सज्ञानावस्था में हमें अपने ही कहे हुए को जब जानने की इच्छा होती है तो वाक्– तत्त्व में यामलभाव पैदा होता है जिसके कारण शब्दार्थ युगल कभी परस्पर खुलते हुए तो कभी जुड़ते हुए दिखाई देने लगते है। परवर्ती काव्यसृष्टि इसी अवस्था में हुई है और होती है। यहाँ पदरचना अर्थ पर अधिक निर्भर दिखाई पड़ती है। मम्मट जैसे आचार्य कविता का प्रयोजन निश्चित करने लगते हैं और कवि की पदरचना को सम्मान या यशःप्राप्ति के लिए अथवा अर्थप्राप्ति या धनप्राप्ति के लिए निश्चित करते दृष्टिगत होते हैं जो कि पूरे का पूरा कृत्रिम व्यापार है। उनके खेमे के कवियों में पद से पदार्थोपस्थिति की बजाए अर्थज्ञान से पदोपस्थिति का आडम्बर दिखाई देता है। परवर्ती संस्कृतकाव्यशास्त्र अर्थज्ञान की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचनाओं में डूबता चला गया है। केवल पंडित विश्वनाथ की काव्यपरिभाषा रस और वाक्य की ओर पलट कर देखने का प्रयास करती दिखाई पड़ती है या फिर पण्डितराज जगन्नाथ शब्द की गरिमा को फिर से काव्य में लाने का प्रयास करते दिखाई पड़ते हैं।

हमारे निर्वचनकार यास्क जब पदों की परीक्षा के लिए अर्थ की नित्यता को सामने रखने की बात कहते हैं। तो प्रश्न उठ सकता है कि कौन से अर्थ की नित्यता? अर्थ तो परिवर्तनशील है। वह उत्कर्ष और अपकर्ष के झूले में झूलता रहता है। यदि

चन्द्र, सूर्य, आकाश आदि वस्तुजगत् अर्थरूप में वही का वही है ऐसा मान लिया जाए तो उस प्रसिद्ध पदपदार्थ के सम्बन्ध को जानने के लिए निर्वचन करने की क्या आवश्यकता है ? निर्वचन तो उन्हीं पदों का होता है जो स्वयम् तो आज भी विद्यमान हैं किन्तु उनके आयाम अस्पष्ट हैं अथवा दुरूह हो गए हैं। और हम उन प्राप्त पदों को अर्थ की दृष्टि से ही अपने अपने अभीप्सित अर्थों के सांचे में ढालना चाहते हैं यही कारण है कि यास्क जिन वैदिक पदों का निर्वचन करते हैं उनमें वह आत्मरति के आधार पर कोई अपना निश्चित अर्थ देने की बजाए उसे समझाना चाहते हैं। पद चाहे ''दुहिता'' हो या 'विधवा' या 'देवर', वे उस पद को कोई सीधे अर्थ देने की बजाए उसे समझाना चाहते हैं। इसी प्रकार सायण आदि पुराने भाष्यकार भी निश्चितार्थ देने की अपेक्षा वेदवाक् की संभावित अनेकार्थता को आकाश में प्रतिक्षण आन्दोलित हो रही झिलमिलाती असंख्य नक्षत्रज्योतियों के सन्दर्भ में देखना चाहते हैं।[7] उसमें अधिभूत, अधियज्ञ अधिदैवत और आध्यात्मिक की सैकड़ों दृष्टिभंगिमाएं हैं। ये भंगिमाएं चिन्मय मन्त्रों और पदों की चिन्मरीचियां हैं। इन चिन्मरीचियों को देखा जा सकता है । अनुभूत किया जा सकता है किन्तु अर्थबद्ध या प्रयोजनबद्ध करना उन पदों के साथ अनाचार है। हां, सृष्टि के तत्त्वों का, पदार्थों का, यदि कोई अपना अर्थ या प्रयोजन अपने आप में है तो उसे अपने अनुभव में लाना, अपनी अनुभवशक्ति को उस विश्व–शक्ति को समर्पित कर आना है जहां संभावनाओं का अनन्त क्षेत्र है। वेद के प्राचीन व्याख्याकार वेदार्थज्ञान के लिए कुंचिका–पुस्तकें (help books) नहीं लिखते थे कि यहं मंत्र का संक्षिप्तार्थ है और यह सरलार्थ एवम् व्याख्या है। वे तो संभावनाओं के प्रति जागरूक थे अतः उनकी वेदार्थव्याख्या का प्रयोजन केवल जिज्ञासु को दृष्टिसंस्कार प्रदान करना या ज्ञानपथ की यात्रा के लिए दीक्षित करना मात्र है। अर्थ तो उसकी अपनी उपलब्धि होनी चाहिए।

किन्हीं ऐतिहासिक कारणों की वजह से जब स्वामी दयानन्द सरस्वती या वेद के पाश्चात्य व्याख्याकार जब वेदार्थ को संभावनाओं के जगत् से अलग करके एकेश्वरवादी, विकासवादी एवम् वैज्ञानिक यांत्रिकता में ठीक करके देखना चाहते हैं तो भारतीय मनीषा के आंगन में आकर खड़ा वेद का 'ईश्वर' कुछ ईसाई, कुछ मुसलमान या कुछ पश्चिम की चरागाहों में घूमता गड़रिया सा लगने लगता है। भले ही अब वह अपरिचित तो नहीं लगता। अतः जब जब वेदार्थ को किसी अतिचार के साथ जोड़ा गया वहीं उसकी समन्वय या मेल–भावना तिरोहित हो गई। उसका अर्थ तो संभावनाओं की दृष्टि में से उमड़ता है और जिज्ञासु के हृदय में बरसकर वहीं निश्चितार्थ ग्रहण करता है। यही वैदिक मंत्रों की चिन्मयता है जिसे प्राचीन वेदार्थव्याख्याकारों ने ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों के बल पर ग्रहण किया है। इसी कारण से ऐतिहासिकों याज्ञिकों और नैरूक्तों के द्वारा बहुदेववाद की स्वीकृति को भी

बल मिलता है। इसी वैदिक संभावनावाद के संदर्भ के कारण ही जैनों की अनेकान्तवाद और स्याद्वाद जैसी दृष्टियां भी भारतीयता का अभिन्न अंश ही नहीं अपितु पूरक बन कर रही हैं। क्योंकि स्याद्वाद या अनेकान्तता कोई संशयवाद नहीं है कि जिसमें परस्पर विरोधी नानाधर्मों के मिश्रण के कारण पदार्थों का कोई भी विशिष्ट रूप हमारे सामने न उभरता हो। अपितु वह दृष्टि तो वस्तुपदार्थों एवम् प्रत्ययों की अनन्तधर्मिता देखने की और समझने की पृष्ठभूमिमात्र है। क्योंकि एकान्तता का निश्चितार्थ तो अनन्तता को अनुभव कर लेने के बाद आपकी दृष्टि का प्रतिफलन हो सकता है। बंधा– बंधाया, या किसी का आरोपित किया हुआ मत नहीं हो सकता।

निर्वचन करने की प्रणाली की प्रतिष्ठापना भारत में वैदिक काल के लगभग आस पास हो गई थी। क्योंकि वेदाभ्यास करते करते या जप करते करते साधक या जिज्ञासु में जो एक प्रकार का पदपदार्थ या मन्त्रार्थबोध में जड़ता या बासीपन प्रतीत होने लगता है उसके उपचार के लिए पद की मूलधातु या मूलसदृशधातु अथवा पदों में लगने वाले प्रत्यय आदि के आधार पर ही निर्वचन करके देख लेना चाहिए था, ताकि कहीं पद का कोई नया रूप ही शायद खिल जाए। क्योंकि पद की वृत्तियां विशयवती या बहुसंभावनात्मक होती हैं। इसी कारण पद को या वाक्–वृत्ति को वैयाकरणों और नैरूक्तों ने सब तरह के फल देने वाली कामधेनु कहा है। लेकिन उसका दोहन करने के लिए स्वाध्याय, संयम और संभावना से संचालित दृष्टि का विकास करना होगा। अन्यथा कुशलता के साथ वाणी का प्रयोग न हो सकने से अपशब्दों के प्रयोग करने का दोषी आपको ही बनना होगा। भारतीय निरूक्तशास्त्र इसी दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है।

मूल वैदिक वाङ्मय के संरचनाकाल में 'अर्थ' शब्द से कोई भिन्नसत्तावाला पदार्थ इसलिए नहीं था क्योंकि वह शब्द का ही स्फुरण मात्र या गतिभंगिमा थी। अतः उसकी यह स्फुरत्ता क्रियाशील थी। क्रिया का क्रम सामान्यतः विकास एवम् ह्रासरूप ही होता है क्योंकि वह कालरूपा होने के कारण भूत, भविष्यत्, वर्तमान की शृंखला है। उसी के कारण पदों के नए नए बदलते रूप उठते बैठते रहते हैं। इसी भावप्रधानता या नानारूप घटनाशीलता का वाक्यों में, क्रियापदों में प्रस्फुटन है। इसी को यास्क ने आख्यात कहा है क्योंकि इस भावप्रधानता के बल पर ही आप पदसृष्टि का सम्यक् रूप से आख्यान कर सकते हैं अन्यथा नहीं। जब यह भावप्रधानता अपने क्रियात्व की अपेक्षा से पीछे हटकर विश्रान्ति के लिए अधिष्ठानरूपा बन जाती है या गतिक्रिया का आधार या आश्रय बन कर प्रयोग या वाक्यप्रयोग में आविर्भूत होना चाहती है तो वह सत्त्व बन जाती है और नामिक पदों की सृष्टि हो जाती है। ऐसा लगता है जैसे नादरूपा लम्बमान क्रिया का ही सिमट कर संकुचित होकर स्वल्पविश्रान्ति के लिए बिन्दुरूप हो जाना पदों का सत्त्वरूप में चले जाना है। यह पदों की सत्त्वापन्न या जीवभावापन्न दशा है। किन्तु

नामपदों की सत्त्व–प्रधान सत्ता को स्वीकार करके भी नैरुक्त जन आख्यातज पदों को ही समस्त पदजगत् की मूल पहचान स्वीकार करते हैं। क्योंकि वाक् कर्मेन्द्रिय के साथ ही समस्त व्यावहारिक पदों की नित्यता का सम्बन्ध है। वाक् का मूल स्वभाव ही क्रियापरक होने से समस्त पदों के मूलधातु के रूप में क्रियापद, चाहे एकाक्षरी हैं या दोअक्षरी हैं उसी को पदमूल मानकर पदों का निर्वचन करने की प्रेरणा यास्क ने दी है। क्योंकि मूल के साथ जुड़कर संभावित अर्थों की कल्पना करते समय, निर्वचन करते समय, हम पथभ्रष्ट भी हो जाएं तो भी बहुत गल्त नहीं हो पाएंगे। अतः क्रियापदों को ही पदसंघटन का मूल मानकर उन क्रियापदों के विकासात्मक रूपों की भारोपीय प्रवृत्तियों को भी टटोल सकते हैं और इन पदों की गवेषणा का अनुष्ठान करते हुए हम लुप्त हो गए अर्थों की प्राप्ति के साथ साथ और भी बहुत कुछ प्राप्त कर सकते हैं।

लेकिन एक बात महत्त्वपूर्ण है कि प्राचीन भारतीय मेधा ने शब्द और अर्थ की इस लम्बी सहयात्रा में शब्द को ही तत्त्व के रूप में पहचाना अर्थ को नहीं। अर्थ को तो उन्होंने जैसे शब्द की परछाईं के रूप में ही देखा है। भर्तृहरि का ''शब्दतत्त्वं यदक्षरम्[8]'' अथवा शब्दब्रह्मवाद अथवा तांत्रिकों की वाक्तत्त्वमीमांसा इस बात को सिद्ध करते हैं कि शब्द की केवल परछाईं यदि बाह्यजगत् में पद की वृत्ति का विषय बन जाए तो वह शिवरूप पदार्थ है, नहीं तो वह शवरूप तमस् या छाया ही है। शब्द का ही नित्यता के साथ सम्बन्ध है भले ही वह सापेक्षनित्यता हो या निरपेक्षनित्यता। सागर में उठती हुई लहरियों को हम प्रतिक्षण उदय होते देखते हैं । उनके उदयअस्त के साथ ही ध्वनि का उदय–अस्त भी श्रवणेन्द्रिय के साथ अनुभव करते हैं। नेत्रों से पैदा होने वाले हमारे चाक्षुष एवम् श्रोत्रज संप्रत्ययों की वर्तमान की दृष्टि से अनित्यता है और अनादिकालीन प्रवाह की दृष्टि से नित्यता है। आचार्य औदुम्बरायण की केवल शब्द से जुड़ी इन्द्रियनित्यता से या यास्क की शब्दसम्बन्धी केवलनित्यता से शब्द की गति को पकड़ना सम्भव नहीं। इसीलिए यास्क जानबूझ कर दोनों मतों की साथ साथ प्रस्थापना कर देते हैं। औदुम्बरायण की शब्द–सम्बन्धी सापेक्ष–नित्यता को समझे बिना आप निरपेक्ष तथा अणुता और व्याप्तिमत्ता के योग से शब्द के साथ संलग्न नित्यता को कैसे पकड़ पाएंगे ? क्योंकि शब्द के उदय की प्रकृति चेतना के अन्तराल से चैतस् संस्कारों के द्वारा उत्तेजित वह वाक्प्रवृत्ति है जिसके मूल में चेतना, चित्त और इन्द्रिय–व्यापार का पूर्ण समीकरण है। इस दृष्टि से शब्दव्यापार की भावसत्ता तीनों स्तरों पर है। चित्त में संस्काररूप में उन पदों की प्रतिष्ठा तो रहती ही है। प्रत्येक जाति के लोगों का एक सामूहिक या समष्टि संस्काराशय भी रहता ही है। उस संस्काराशय में निहित हमारा वाक्संस्कार वागिन्द्रिय की क्रिया से स्फुटित होकर अभिव्यक्ति में परिनिष्ठित हो जाता है। संस्काराशय की बहिर्मुखी लहरियां हमारे भीतर से उठकर हमारी वाग्वासनारूप अन्तर्मुखी शक्तियों को मोतियों के समान कण्ठ, तालु,

मूर्धा, दन्त, ओष्ठ आदि तट–केन्द्रों पर वर्णध्वनियों और पदों के रूप में बिखेरती रहती है और पदसृष्टि चलती रहती है।

वस्तुतः यास्क जिस वैदिक सन्दर्भ में पदचिन्तन करने जा रहे थे उसमें पहले से ही बहुत गहरे पदविज्ञान या दर्शन की प्रतिष्ठा हो चुकी थी । यास्क द्वारा उद्धृत आचार्यों की नामावली से इसका प्रमाण मिलता है। कौत्स, गार्ग्य, शाकटायन, शाकपूणि आदि आचार्य उनसे पूर्व मन्त्रपदों की मूल–भावना को सुरक्षित रखने की परम्परा की स्थापना कर चुके हुए थे। कौत्स संभवतः यह प्रतिपादन करना चाह रहे थे कि यह जो वैदिक मन्त्र हैं ये अपौरूषेय होने से सामान्य मनुष्यों की भाषा के प्रयोग के समान सार्थक नहीं हैं[10] अर्थात् एक साधारण मनुष्य जैसे सोच समझकर पदों और अर्थों के बीच सम्बन्ध को अपनी इच्छानुसार तोड़ मरोड़ कर पदों का प्रयोग करता है वैसा ही कुछ वैदिक मन्त्रों के साथ भी हुआ है, यह बात नहीं। वैदिकमंत्र जिस भूमिका से उभरकर ऋषिमानस में उमड़ आए थे वह मानवीय प्रयोजनों की शृंखला में जकड़ी क्षुद्रता की भाषा नहीं थी। अतः उस अपौरूषेय मन्त्रवाक् को पौरूषेय या अर्वाक्कालीन सामान्य मानवों की भाषाप्रयोग के नियमों के आधार पर अर्थ खोजना व्यर्थ होगा। अतः मन्त्रों को अनर्थक ही माना जाए और अनित्य स्वभाववाली पुरूषविद्याओं के लिए प्रयुक्त नियमों के आधार पर मनमाने अर्थों की कल्पना करने से बचा जाए। लेकिन संभवतः कौत्स को ऋषि भी माना गया और वैदिक मन्त्रों को सार्थक या अर्थ के साथ जुड़े हुए मानने वाले गार्ग्य मुनि के मत के सन्दर्भ में उसे मन्त्रों को अनर्थक कहने वाली कुत्सित वृत्ति के साथ भी जोड़ लिया गया। संभवतः मंत्रों को अर्थरहित कहने वाली परवर्ती आर्ष–परम्परा की दृष्टि में जैसे हवा, पानी, भूमि, अग्नि, आकाश, की रचना की मानवीय दृष्टि से कोई अर्थवत्ता ढूंढना बहुत उपयुक्त नहीं होगा ऐसे ही मानवसंस्कृति के मूल–काव्य में हुए वाक्प्रयोग को अर्थवत्ताओं के साथ जोड़ना उसका अवमूल्यन करना ही है। क्योंकि वेदवाक् देवकाव्य की भाषा है जिस में सूर्य, चन्द्र, वात, अग्नि, वरूण औषधियां सभी देवता हैं। सम्पूर्ण सृष्टि ही देवमयी है। अतः इस देवदृष्टि को पाए बिना ही मानवीय सन्दर्भों के अर्थों को उस पर आरोपित नहीं किया जा सकता।

किन्तु यास्क संभवतः इस देवदृष्टि को मानवीय चेतना के साथ जोड़ने के पक्ष में रहे। वे मंत्रों को मानवीय सन्दर्भ में देखने के साथ साथ उनके अपौरूषेय नित्यत्व को भी सुरक्षित रखना चाहते थे। वे एक सूत्र देते हैं कि सामान्य पुरूषों की विद्याएं तो अनित्य हैं[11] अतः उनके आधार पर कोई निश्चित रूप से चलने वाली कर्मप्रणाली का आविष्कार नहीं किया जा सकता। यज्ञीय कर्म या यज्ञभावना से सृष्टि में चल रहे नित्यकर्मों की सम्पत्ति का अतुलित कोष तो अपौरूषेय वाक् में निहित है– ''गुहा त्रीणिनिहिताः नेंगयन्ति[12]'' अर्थात् उसके तीन भाग तो मनुष्यों के लिए वैसे ही गुहानिहित या छिपे पड़े हैं। मनुष्यों के हिस्से तो सामान्यतः एक चौथाई

भाग ही आया है। इस ''गुहानिहित त्रिपाद्विभूति'' में ही अपौरूषेयत्व का अधिवास है। पौरूषेयत्व तो जीवभाव है। वह चाहे लघु जीव में हो या महाजीव में । ईश्वर में '' महान्'' उपाधि के कारण ही महाभाव कल्पित रहने से संभवतः मीमांसकों ने वेद में ईश्वर की कल्पना करने से स्वयम् को नियन्त्रित किया है । क्योंकि वेद–वाक् किसी भी प्रकार से न तो जीव–पुरूष की कृति रही न ही ईश्वरपुरूष की कृति है। उसका तो अपना पूर्ण स्वातन्त्र्य है। समस्त देवपुरूषों की सृष्टि तो उससे जन्म लेती है। उस देव–सृष्टि को गतिमय या जीवन्त देखने के लिए ही दानवी दैत्यसृष्टि का भी समानान्तर उदय देखा जाता है । एक ओर महाबली इन्द्र है तो दूसरी ओर वृत्र, एक ओर सूर्य तो दूसरी ओर तमस्। इन द्वन्द्वों का सर्जनात्मक संवाद ही वेदवाक् का प्रथम तन्त्र है। पुरूष स्वयं में एक देवता है । लेकिन देवता पुरूष ही होता हो यह बात नहीं है। देवता स्त्री भी हो सकती है और अचेतन प्राकृतिक पदार्थ भी हो सकते हैं। जुए के पांसे,औषधियां और पत्थर में भी देवत्व का अवतरण हो सकता है। देवत्व तो द्युतिशीलता या कान्ति–धर्मता है, जो कहीं भी आ सकती है । लेकिन वह जहां भी आ जाती है वहीं कालिदास का लालित्य और आनन्दवर्धन का लावण्य सभी एक साथ उतर आते हैं। क्योंकि ये सभी उस देवतत्त्व की महिमा हैं। उन देवताओं का माहाभाग्य है।

इस प्रकार देवत्व ऋषि–प्राणों या ऋषिचेतना की अतीन्द्रिय होते हुए भी ऐसी ऐन्द्रिक अनुभूति है जिसे सौन्दर्यचेतना के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता । और यह सौन्दर्यानुभूति समस्त विश्व को देवभाव में देखने की स्थिति है जिसे ''त्यक्तभाव से भोगा भी जा सकता है''। और वह भोग आपके रसदर्शन का मूलसूत्र भी बन सकता है। इस प्रकार आपकी समस्त देवचेतना ही वैदिक वाङ्मय से आविर्भूत हुई है। और उसी से कर्मचेतना या कर्मकाण्डीय अधियज्ञदृष्टि का पल्लवन हुआ। इस कर्मचेतना और सौन्दर्यचेतना का साक्षात्कार जब कभी किसी को अपने आत्म के सन्दर्भ में हो उठता है तो एक सम्पूर्ण दृष्टि का उदय होता है। छान्दोग्य उपनिषद् के मत में यह आत्मा ही एक ऐसा पुल है जिस पर आकर सारी विविधताएं सारी दृष्टियां सारे कर्म समंजस हो जाते हैं। अतः वह आत्मा ही इन समस्त लोकों को एक करने के लिए, जोड़ने के लिए धारण करने के लिए एक सेतु है– ''स विधृतिसेतुरेषां लोकानामसंभेदाय''[13]।

यास्क अपने दैवतकाण्ड में देववाद का निर्वचन करने से पूर्व समस्त वैदिक ऋचाओं को तीन भागों में वर्गीकृत करते हैं। और तीनों वर्गों को आख्यातों या मन्त्रवाक्यों में प्रयुक्त क्रियापदों के आधार पर विभाजित करते हैं। उन मन्त्रों में जहां क्रियापद प्रथमपुरूष से सम्बद्ध है वहां देवताओं के कर्मों का महत्वपूर्ण गायन वर्णनात्मक शैलीपरक होने से ऋचाएं परोक्षकृता हैं। क्योंकि उनमें देवता की अपेक्षा देवता के कर्मों के प्रभाव का ही अधिक निरूपण है। ये सब कर्म लोकहित, दान,

उपकार, एवम् भद्रता को लेकर आविर्भूत हुए हैं। अतः ये सब कर्मपरक मन्त्र वैदिक कर्मदृष्टि के सूचक हैं।

दूसरे प्रकार की ऋचाएं प्रत्यक्षकृता हैं जिनमें मध्यमपुरूष अथवा युष्मत् पदों के प्रत्यक्ष प्रयोग से देवताओं को सीधे सम्बोधन से पहचाना गया है। इनमें देवदृष्टि का उन्मेष तथा देवताओं के साथ मंत्रद्रष्टाओं का अनौपचारिक भाव है। ऋषि लोग इन्द्र आदि देवताओं को ''त्वम्'' पद से भी पुकार लेते हैं। किन्तु तीसरी आध्यात्मिक ऋचाओं में उत्तमपुरुष के क्रियापदों के प्रयोग से ऋषि समस्त देवकर्मों और देवताओं को अपने स्वात्म में देख लेते हैं और अपने साथ एकीकृत कर लेते हैं।

इस प्रकार आख्यात पदों या क्रियापदों के आधार पर यास्क द्वारा किया गया मन्त्र–विभाग इस बात का सूचक है कि यास्क वैदिक पदों और मन्त्रों के निर्वचन में आख्यात को ही मूल मान कर अपने निर्वचन देना चाहते हैं। भले ही किसी पद में क्रिया के मूल धातु की आंशिक झलक हीं क्यों न प्राप्त हो। क्योंकि वैदिक पदों और मन्त्रों के नित्यस्वरूप होने पर भी उनको मानवीय सन्दर्भों में लाए बगैर, अर्थ दिए बगैर, मानवबुद्धि निश्चित नहीं होती। मन्त्र–पदों के सत्य तक पहुंचने के लिए उनके साथ एक मानवीय अपनापन तो जोड़ना होगा। यदि निरपेक्ष ऊपर ही रह गया और सापेक्ष नीचे ही तो मानवीय चेतना का सारा प्रयास ही निरर्थक हो जाएगा। मन्त्रपद अपने मूल में अनर्थक या अपनी प्रयोजनबुद्धि से निरपेक्ष होते हुए भी मनुष्यों की दृष्टि में निरर्थक ही न हो जाएं, जैसे कि प्रायः ईश्वर की निर्लेपता के साथ होता है। अतः मन्त्रपदों को अनर्थक होते हुए भी सार्थक कर लेना ही मानवीय यथार्थ है। इसी यथार्थ के सन्दर्भ में प्रेरित करते हुए यास्क कहते हैं कि ऐसा न करो कि पदों का निर्वचन ही न करो । निर्वचन भी करो और अपनी पदों के साथ घनिष्ठ मैत्री के आधार पर उनमें अर्थ भी खोजिए। नहीं मिलता तो उसको अर्थ दीजिए । बेशक उन पदों की व्याकरण–सम्मत विभक्तियों को किसी अर्थ के पक्ष में संनमित कर या मोड़कर ले जाइए। कुछ भी कीजिए। अर्थ दीजिए। क्योंकि व्यर्थता मानव–बुद्धि सहन नहीं करती। किन्तु एक बात अवश्य याद रहे कि अर्थ देते समय प्रकरण के साथ अनाचार या अत्याचार दोनों ही नहीं होने चाहिए। क्योंकि आखिर अर्थ ढूंढने और अर्थ देने की भी कोई नियति तो अवश्य है। निर्मर्याद अर्थ देने की प्रवृत्ति कहीं हमें अर्थोन्माद के संकट में न डाल दें। इसलिए व्याकरण आदि पदविद्याओं और मीमांसा आदि वाक्यविद्याओं के रहते हुए भी निर्वचनशास्त्र या निरूक्तशास्त्र का अध्ययन करना ही चाहिए। सभवतः निरूक्ति के माध्यम से ही हम श्रुति के चित्–श्रोत्र में समवाय सम्बन्ध से स्थित उन सार्वनामिक ''तत् पदों या त्वम्पदों'' का साक्षात्कार कर पाएं, जिनकी परिणति ''अहं ब्रह्मास्मि'' की अनुभूति में हो जाती है। जहां प्रथम और मध्यमपुरूष की क्रिया उत्तमपुरूष की क्रिया बन जाती है। किन्तु इन पदों की उपासनाओं में आप यदि अपने मलिनवासनाजन्य और

आर्ष वासनाजन्य अर्थों के अन्तर को देखकर सार्थकता की ओर अग्रसर होते जाएंगे तो मन्त्रपदों का निर्वचन वाक्तत्त्व की उपासना के अतिरिक्त क्या रह जाएगा ? तब अर्थज्ञान से भी सकल भद्रों की प्राप्ति का मार्ग खुल जाएगा

योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते।
ज्ञानमेति नाकविधूतपाप्मा [14] *।।*

वास्तव में वैदिक मंत्रों के अर्थज्ञान तक पहुंचने से पूर्व यास्क अध्येता या पाठक को एक प्रकरण या दृष्टि देना चाहते हैं कि पद, मन्त्र और देवता के पास जाकर उनकी परीक्षा किस प्रकार करनी चाहिए। इसके लिए उन्होंने उपपरीक्षा पद का प्रयोग किया है। वैदिक संस्कृत के मन्त्रों और पदों की उपपरीक्षा करें तो स्पष्ट होता है कि इनके आविर्भाव की एक वह दशा है जिसमें स्वर–संस्कार एवम् अर्थ वैदिक मन्त्रपदों में अखण्ड रूप में पड़े थे। वाक् शब्दात्मक होते हुए भी वहां चाक्षुष संप्रत्ययों या बोधों के साथ अभिन्न भाव से रहती है। तभी उसे पश्यन्ती कहा गया है। तथा उस पश्यन्ती वाक् के स्रोत को श्रोता या वक्ता न कहकर द्रष्टा या ऋषि कहा है। वह उत्तम पुरूष है उसकी क्रिया भी उत्तम है। इस अवस्था में वह चाहे एकवचनान्त है या द्वि अथवा बहु, उसके स्वरूप और क्रिया में उत्तमता है, अखण्डता है। मध्यम–पुरूष की क्रियाओं में ''अहम्'' पद ''त्वम्'' को मित्र के चक्षु से देख तो रहा है किन्तु कुछ अन्तर के साथ । इस अवस्था में ही वस्तुतः मंत्रों और मंत्रपदों को उनके उदात्त और अनुदात्त आदि स्वरों को अलग से चिह्नित करने की प्रवृत्ति का उद्गम हुआ। अन्यथा स्वर तो मंत्रवाक् का अखण्डनीय रूप है। उसे अलग से चिह्नित करके दिखाने की प्रवृत्ति ही पदमन्त्र का बाहर की ओर उन्मीलन था। प्रथम पुरूष की अवस्था में आकर तो हम पदों के पदत्व और स्वरांकन की अपेक्षा स्थूल अर्थदृष्टि में प्रवेश कर जाते हैं। यहीं अर्थान्वेषण की भूमिका है। यास्क इसी भूमिका पर खड़े होकर हमें निर्वचन के उस क्षेत्र में ले जाना चाहते हैं जहां पदों की पदचाप अब इतिहास की पगडण्डियों पर पदचिन्ह बन चुकी है। आप इन पदचिन्हों के आधार पर पदों की पहचान का काम कीजिए। संभव है निर्वचन की चाबी लग ही जाए। और कोई पद आप को ऐसे अर्थ भी दे जाए जिसकी आप को देर से खोज थी। और वे पद, जो अपरिचय के कारण निरर्थक होकर पड़े हैं उनमें कोई सही अर्थ जुड़ ही जाए।

टिप्पणियां

1. 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्' (अर्थात् एक वह है जो वाणी का दर्शन न कर सका) ऋ० सं० 10–71–4
2. ''यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रः

'' निरूक्त 7–10 (दैवत काण्डम्)

3. ''जायेव पत्य उशती सुवासा'' ऋ० सं० 10–71–4

4. ''षड्भावविकाराः भवन्तीति वार्ष्यायणिः– जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते विनश्यतीति। निरूक्त, अध्याय 1, पृ० 8।

5. ''नैकपदानि निर्ब्रूयात्'' निरूक्त अध्याय 2, पाद एक का अन्तिम भाग।

6. (क) ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'' साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद।

   (ख) ''रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'' रसगंगाधर 1।

7. सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः । पातञ्जल महाभाष्य 1–2–3

8. ''अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
   विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।'' वाक्यपदीय 1–1

9. '' इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः'' निरूक्त 1–1

10. ''अनर्थका हि मन्त्राः'' निरूक्त 1–5

11. ''पुरूषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'' निरूक्त 1–1

12. ''त्रीणि गुहानिहिताः नेंगयन्ति'' ऋ० सं० 1–164–45

13. अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय'' छान्दोग्य उ० 8–3–4

14. ''योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते'' निरूक्त 1–6 खण्ड 18 में उद्धृत।

• शाक्त एवम् शैवमत में वाक्तत्व

भाषा, वाक् अथवा शब्द सम्बन्धी विज्ञान को लेकर पूर्व पश्चिम के चिन्तकों ने भरपूर चर्चा की है। क्योंकि सारा चिन्तन ही भाषा या वाक्–व्यापार के माध्यम से हुआ है अतः वाक्–चिन्तन की धारा का नैरन्तर्य भी यदि किसी शाश्वतिक माध्यम से अबोधरूप में हुआ है तो वह भाषा के कारण संभव हुआ है। अतः मानव के मूल के स्रोतों की छानबीन करने वाले मनीषियों ने अब तक भाषा की डोरी को थाम कर ही अपने अथवा विश्वात्मक, सत्य को समझने का औचित्यपूर्ण साहस किया है। भाषा का समग्ररूप क्योंकि शब्द अथवा पद हैं,अतः उसी को अपनी प्रयोगविधि का आधार बनाकर भारत में शब्दगत अध्ययन की दो धाराएं सूझ पड़ती हैं। एक धारा वह जो बराबर इस मान्यता के साथ लगकर बहती है कि वस्तुसत्ता के जगत् का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह जगत् भाषा या शब्द से निरपेक्ष होते हुए भी वाक् या शब्द के माध्यम से व्याख्यायित होता रहता है। नामात्मक जगत् मानवीय चेतना अथवा मानस की वह प्रतिच्छाया है जो वस्तुगत तथ्यों को मानवीय सन्दर्भ में परिभाषित करती रहती है। वह वस्तुसत्ता की प्रतिनिधि न होकर हमारी प्रतीतियों, बोधों और संवेदनाओं का ही प्रतिनिधित्व करती है। रूपात्मक जगत् की वास्तविकता से यदि वह भाषा ठीक मेल खाती है तो वह यथार्थानुभव का सर्जन करती है। उसकी वर्णनात्मकता यथार्थपरक है। अन्यथा वह विपर्यय, विकल्प,एवम् भ्रम को रच लेती है। भाषा एक ऐसी संकेतों की शृंखला है जिसकी रचना हम अपने बोधों की सुविधा के लिए करते आए हैं।

चिन्तक समुदाय का दूसरा दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है। उनके विचार में शब्द की अपनी मौलिक वस्तुसत्ता है। उसकी सत्ता के कारण ही मानवता का सारा व्यवहार–जगत् गतिशील है। बिना पद के पदार्थ के अस्तित्व का मूल्यांकन असंभव है। अतः पदार्थ का एक सत्तारूप है दूसरा कल्पना–रूप है। शब्द का सम्बन्ध वस्तु के सत्तारूप के साथ ही है और वस्तुरूपता का सम्बन्ध मानव की कल्पना से है। इस प्रकार वाक् सत्ताद्वयता का अभिधेयता के साथ सम्बन्ध बनाती रहती है।

पद का पदार्थ से पारमार्थिक सम्बन्ध है जो नियतिकृत है। पद और पदार्थ के सम्बन्ध की यथार्थता में संशय तो केवल व्यावहारिकता के जगत् के वैषम्य से उदय होता है। अन्यथा हमारे दार्शनिकों के मत में पदार्थ का अभिधेय होना एक आवश्यक नियम नहीं होता। यह ठीक है कि भाषा का एक अपना जगत् है जिसे "लिंग्विस्टिक यूनिवर्स" कह सकते हैं। किन्तु इस जगत् की उदय और स्थिति सत्ता

के जगत् में ही हैं। और जब यह मान लिया जाए कि शब्द आकाश का गुण है 'आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः '' तो फिर यह शब्द ध्वन्यात्मक रूप में आकाश या बाह्याकाश में से उठता है तथा वर्णात्मक रूप में देहस्थ चिदाकाश में से उठता हुआ वागिन्द्रिय की सहायता से नाना मूर्तियों को धारण कर हमारे वस्तुजगत् में, व्यवहार–जगत् के एवम् भाव, कल्पना और विचार–जगत् के समस्त व्यवहारों को आत्मसात् कर लेता है। इसी सन्दर्भ मे दण्डी एवम् भर्तृहरि संकेत करते हैं "यदि यह शब्दनामक ज्योति मानव के पास न हो तो सारे भुवनों का व्यवहार ही खण्डित हो जाए।" और फिर जिस प्रकार अन्य पदार्थ की अनादिकालिक सत्ता है वैसे ही शब्द भी अनादिकालिक है। अभिव्यक्ति के लिए मानव के माध्यम से उदय होने के कारण पौरूषेय होने पर भी वह तत्त्व की दृष्टि से अपौरूषेय है। बहुत से महाकवियों की वाणी पौरूषेय की भांति रहने पर भी परिणाम में अपौरूषेय ही होती है। अतः इस पौरूषेय शब्दनिबन्धन को या शब्द–मूर्ति को जगत् को धारण करने वाले विष्णु का ही अंश माना जा सकता है'' शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशाः महात्मनः''। लेकिन शाक्त लोगों ने शब्द की उभयात्मिका शक्ति को पहचान कर भगवती को भी उभयात्मिका तो माना ही है। वह शब्दरूपा भी है और अर्थरूपा भी।

''शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषांनिधान–
मुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्।।'' (चण्डी सप्तशती, 4–10)

ललितासहस्रनाम में उसे भाषारूपा बृहत्सेना'' के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ कहा गया है। किन्तु 133 वें पद्य में तो वाक् के सभी रूपों के साथ भगवती का तादात्म्य–सम्बन्ध स्थापित किया गया है–

परा प्रत्यक्चितिरूपा पश्यन्ती परदेवता
मध्यमा वैखरीरूपा भक्तमानसहंसिका।।

यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि भारतीय धारा ने आरम्भ से ही जीवन जगत् या सृष्टि की दिव्यता को स्वीकार किया है। तथा इन दो रूपों को मूलतः परस्पर विरोधी मानने की अपेक्षा एक दूसरे की प्रतिकृतियां या समानान्तर गतियां अथवा स्थितियां माना है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति कवि है तो उसकी भीतरी धारा योगी की है। और यदि कोई योगी है तो निश्चय ही उसके भीतर कोई न कोई उदात्त काव्यानुभूति की धारा निगूढरूप से नीचे रहती है। इसीलिए वैदिक ऋषि, पौराणिक व्यास, वेदान्ती शंकर एवम् रामानुज आदि आचार्य–दार्शनिक एक साथ कवि और योगी, योगी और कविराज, वैद्य और वाचस्पति सब साथ रहे हैं। वस्तुतः इसकोण से ही जीवन के प्रत्यक्षीकरण का यह फल था कि लोग विषमता में समता और ऐक्य में भिन्नता को समन्वित करते रहे हैं। गंगा एक प्रयाग में बहती है, पर सिर्फ प्रयाग में ही नहीं बहती है, अन्यत्र भी उसका अस्तित्व हैं। इसी प्रकार प्रयाग भी यहां है, पर सिर्फ

यहीं नहीं। उसकी धारा अन्यत्र भी है। शाक्तजन मानते हैं कि वस्तुओं या पदार्थों की सत्ता ऐहिक भी है और पारलौकिक भी है। दोनों को परस्पर विरूद्ध देखने वाले जड़ हैं। दोनों के अस्तित्व को समानान्तर देखनेवाला ही विज्ञ दार्शनिक है। उसी को ''संभूतिं च असंभूतिम्'' या ''विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह'' की बात समझ में आती है। अतः तत्त्व की विश्वोत्तीर्णता या विश्वमयता की बात को बहुत आश्चर्यकारी वबंडर नहीं मानना चाहिए।

हमारे भाषादर्शन के मूल में भी इसी दृष्टि का प्रतिफलन हुआ। "त्रिपादस्यामृतं दिवि" अथवा "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" वाली कथा भाषादर्शन के अध्ययन से स्पष्ट हो उठती है। लेकिन उस परम की "त्रिपाद् विभूति" का प्रतिफलन तब यहीं कहीं होता है जब ऋग्वेदीय पुरूष के समानान्तर अथर्ववेदीय श्रीसूक्त की स्थापना की जाती है।

तांत्रिक वाङ्मय में वाक्–सम्बन्धी जो अवधारणा मिलती है उसका रहस्य इस बात में निहित है कि वाक्तत्त्व की त्रिपथगा के तीन पथ बाहर की ओर स्थूल से सूक्ष्मतर होते हुए अपने अपने स्तर पर क्रिया करते हुए परमशक्ति के चिदाकाश मे मौन और समाहित हो जाते हैं। इस पराशक्ति में ही स्वाभाविकी ज्ञान और बलक्रिया की तैयारी या व्याकरणोन्मुखता ही स्फोट बन सकता है जिसके मर्म को लेकर कौलशाक्तों का कहना है कि प्रत्यवमर्श इसका आत्मा है तथा स्वरसता एवम् स्वातन्त्र्य परा–वाक् की अमित अभिव्यक्ति। अतः पूर्यता या भरापन प्रस्फुटित या अकुंरित होने से पूर्व का वह क्षण है जब वाक् समस्त वाच्यवाचकात्मक विकास को अपने में ही देखती हैं। पश्यन्ती के रूप में शक्ति की व्याख्या सौभाग्य–भास्कर के इस उद्धरण से हो जाती है।

पश्यति सर्वं स्वात्मनि करणानां सरणिमिव सा
तेनेयं पश्यन्तीत्युत्तीर्योत्युदीर्यते माता।

पश्यन्ती के इस द्रष्टाभाव को देखकर कुछ लोग कहते है कि शब्द इस भूमिका में आकृतिमान् या लिखित या चित्रित या प्रकट हो उठता है और रूपात्मक लिपि के उदय का प्रथम बीज यहीं है। यहां पर पदार्थों का प्रत्यक्ष इन्द्रियों की सहायता के बिना हो जाता है। किन्तु यहां पद–पदार्थ की स्थिति अर्धनारीश्वर की स्थिति है। एक ही चिह्न में द्वैत या द्वैधता का परस्पर में गहरा आश्लेष है। वहां क्षिप्तवा का बहिर्मुख स्फुरण नहीं है। यह एक प्रकार से शैव के अन्तःस्पन्द की दशा है। इस दशा का उन्मीलन होता है अध्ययन के स्तर पर। क्योंकि अध्ययन न तो पश्यन्ती की तरह इन्द्रियातीतता के घेरे में है न वैखरी के समान पूर्णरूप से बहिर्भाव में प्रकट है अतः सौभाग्यभास्कर में कहा गया है

पश्यन्ती न केवलमतीन्द्रियं नापि वैखरीव बहिः–
स्फुटारनिखिलावयववाग्रूपा मध्यमा तयोरस्मात्।।

संभवत : यहां वाक् स्पष्टरूप से मानस या बौद्धिक प्रत्ययों और पदों को समानान्तर रूपों में विश्लिष्ट करके एक साथ उनका प्रक्षेपण वैखरी के क्षेत्र में कर सकती है। महाभाष्यकार इस प्रक्षेपण का वर्णन इन शब्दों में करते हैं

"सोऽयं वाक्समाम्नायः वर्णसमाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः।"

किन्तु यह वाक्साम्नाम् जिस रूप में मनुष्य की व्यवहार–चेतना में या सामान्य जीवन में प्रतिमण्डित हो रहा है ठीक इसीरूप में वह अपने सूक्ष्मरूप में आत्मा में पूर्व से ही विद्यमान होना चाहिए। इसी कारण से मंत्राक्षरन्यास या अन्य विभिन्न प्रकार के अन्तर्मातृका या बहिर्मातृका आदि न्यासों में बाहर के चक्रों से लेकर भीतरी बिन्दुचक्र तक वर्णमाला के अक्षर या वर्णों की व्याप्ति अथवा उनका ध्यान करने का विधान इस बात का संकेत है कि शाक्तों के अनुसार एक ही वाक्तत्व देहचक्र के बाहरी कोशों से लेकर भीतरी कोशों तक फैला हुआ है। भीतरी चक्रों में वह वाक् वर्णबीजरूपा होती है और बाहरी चक्रों में वह अन्वित होकर मंत्रवाक्यों में या सामान्य भाषा में परिचित हो जाती है। इसे शब्द का परिचित या विषयीरूप, जो भी कहें, भारतीय मानस ने बहुत पहले देख लिया था। अतः समस्त वेद, आगम और तंत्र के मूल में निहित इस वाग्देवी की प्रतिष्ठा परब्रह्म के लगभग साथ ही है। उस सूक्ष्म रूप को नित्य कहा गया और वैखरी रूप को अनित्य व्यवहार से जुड़ा हुआ कहा है। नित्य रूप में वह वेदब्रह्म है जिसके बारे में पुराकल्प में कहा गया– यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचं साक्षात्कृतधर्माणो मंत्रदृशः पश्यन्ति तामसाक्षात्कृतधर्मेम्यः परेभ्यः प्रतिवेदयिष्यमाणा बिल्मं समामनन्ति। स्वप्नेवृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्ते।"

तंत्रशास्त्र में इस सूक्ष्मवाक् का सम्बन्ध परावाक् से है। शाक्तों में मूर्धन्य मनीषी गोपीनाथ कविराज परावाक् के सम्बन्ध में प्रचलित दो मतों का विश्लेषण तुलनात्मक दृष्टि से करते हैं" शब्द–ब्रह्मवादी के मत में सूक्ष्मवाक् पुरूषसमवायिनी है एवम् पुरूष की अमृताकला है। सिद्धान्तशैवमत में सूक्ष्मवाक् के बिन्दु को कार्यरूप एवम् शब्दवृत्ति कहते हैं। शैवदृष्टि में सूक्ष्मवाक् पुरूषसमवेता शक्ति नहीं हैं। वह आत्मा के साथ अविभक्त रूप में रहने वाली है। परावाक् कारण और नित्य भी नहीं, अपितु कार्य और अनित्य है। यह शब्द–ब्रह्मस्थ रवि है जिसका भेदन विवेकज्ञान से है, जिस से मुक्ति का उदय होता है। शब्दब्रह्मवाद के अनुसार सूक्ष्मवाक् पश्यन्ती से अभिन्न है, किन्तु शाक्तमत में यह आत्मा या परमशिव की पराशक्ति है। जब आत्मा में निजस्फुरण देखने की इच्छा उदित होती है तब विमर्शांश शान्ता का प्रकाशांश अम्बिका से सामरस्य होता हैं। यह परावाक् है या परामातृका, जिसमें षट्त्रिशंत्तत्त्वमय विश्व बीजस्थित वृक्षसदृश अव्यक्तरूपेण विद्यमान रहता है। सृष्टिकाल में अभिव्यक्त होता है। (तांत्रिकवाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृष्ठ 43)

वस्तुतः वैदिककाल में ही ऋषियों के सम्मुख जब जीवन की चुनौतियां आईं तो उन्हें तत्त्व–ज्ञान में ही उन चुनौतियों का समाधान मिला। यह तत्त्वज्ञान ही वेदरूप में उनके आगे आविर्भूत हुआ यह तत्त्वज्ञान उन्हें बाह्य की प्रकृति में भी सूझने लगा तथा अपनी अन्तरात्मा में भी। लेकिन इस तत्त्वज्ञान के केन्द्र की खोज करने पर वह आत्मतत्त्व में मिला। अतः शक्ति–उपासना के कर्मकाण्ड में सर्वप्रथम 'आत्मतत्त्वं शोधयामि' की बात हो चली। दूसरे तत्त्व के रूप में उन्हें विद्यातत्त्व मिला और तीसरे व्यापक तत्त्व के रूप में उसे शिवतत्त्व मिला। शेष सभी तत्त्व उन्हें इन्हीं तीन की समंजसता में उपलब्ध हो गए।

वस्तुतःश्रुति में जब यह संकल्पना प्रकट हो गई कि यह जो इदन्ता से बोधित आत्मा है इसका स्वरूप इस क्रम से है "स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्" (वृ०उ० 1–3–12)" इस क्रम में आत्मा का स्वरूप पहले वाङ्मय हुआ जिसका अर्थ यह हुआ कि पहले प्रवृत्तिरूपा वाक् का उदय हुआ जो शब्दअर्थ और ज्ञान के विकल्पों के इतरेतराध्यास से मुक्त केवल प्रारंभ था। आत्मा की यह वाङ्मयता मनोमयता में परिणत हुई जहां आन्तर अर्थ का स्वरूप उपस्थित हुआ। फिर प्राणमय स्वरूप का उदय हुआ जो रचनाक्रम में समस्त स्थूल व्यवहार का हेतु बना। तन्त्र–आगम ने इन तीनों रूपों को मन्त्र, देवता और मन्त्रार्थ के रूप में विकसित कर संपूर्ण सृष्टि में रचनात्मकता की प्रक्रिया का यथोचित विवरण कर दिया है। पौराणिकों ने तो आत्मा के प्रथम वाङ्मय रूप को ही शब्द–ब्रह्म के रूप में लेकर उसके तीन रूपों को स्वीकार कर उपयोगी वाक् की व्याख्या कर दी। श्रीकृष्ण ने उद्धव को सब साधन–पद्धति को समझाते हुए स्पष्ट कहा –

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्य समुद्रवत् ।।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते।। श्रीमद्भागवत पु०11,21,36–37

प्रकारान्तर से वहीं पर वाक् के आध्यात्मिक और आधिभौतिक स्तरों के बीच के सूत्रों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यह जीवात्मा जो शुद्ध आकाश की तरह विवर–प्रसूति है उसमें प्राणवायुकृत घोष के साथ जीव गुहा में चला जाता है। फिर मनोमय सूक्ष्मरूप को प्राप्त कर मात्रा स्वर एवम् वर्ण के रूप में स्थापित होकर प्रकट होता है

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेण घोषेण गुहां प्रविष्टः
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः।। तदेव 11–12–17

किन्तु आत्मा को सर्वप्रथम वाङ्मय कहने के पीछे या वाक् को ही आद्या कहने के पीछे अथवा शब्दों के मंत्रक्रम में से 'ऐं' बीज को आदि में रखने या पंचदशीमंत्र के आदि में वाग्भवकूट को रखने के पीछे वैदिकों और शाक्तों का लक्ष्य क्या है? मुझे

ऐसा लगता है कि वह आत्म–चैतन्य में उदय होने वाला प्रथम स्पन्द है अथवा क्रियाशक्ति है वही आदि नाद के रूप में प्रथम स्फुरण है। यद्यपि सामान्यतः हम शैवशाक्तक्रम में इच्छा ज्ञान क्रिया में क्रिया को क्रम में सबके बाद में रखते हैं। उस पर चिन्तन की दृष्टि से यह बात प्रमाणरूप हो सकती है। परन्तु मीमांसकों का क्रिया को प्राधान्य देना क्रिया के ऐसे आदिरूप की ओर संकेत है कि वह क्रिया प्रथम स्पन्दरूपा है जिसने निष्क्रियता या निस्पन्दता का पहली बार भंजन किया है जिसने अनादि मौन को प्रथम बार मुखर किया है। यह क्रिया प्रथम स्पन्द के रूप में जैसे सृष्टि के आदि मूल में सक्रिय है वैसे ही यह शिशु के जन्म में प्रथमोदय के साथ ही सक्रिय है। इच्छा और ज्ञान उसकी पुच्छभूता शक्तियां हैं जो सक्रिय काली के नृत्य में संकल्प और योजना का निर्माण करती चलती हैं। "दधामि ते द्युमतीं वाचमासन्" "यद्वाग्ववद्न्त्यविचेतनानि'', "धीरा मनसा वाचमक्रत", तथा चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'' आदि मंत्र वाक् शब्द का प्रयोग मानवीय भाषा और बोली के लिए अथवा केवल वैदिक भाषा के लिए करते हैं। मुझे लगता है कि वेद में वाक् शब्द का प्रयोग सर्वत्र किसी विशेष अनुभूति वाले पक्ष को लेकर हुआ है। सन्दर्भ है यज्ञ का, जिसके चारों ओर वाक् घूमती है। परिणामतः सोम की प्राप्ति लक्ष्य है। वाक् के द्वारा सोम का चूना एक अतिविशिष्ट कर्म है जिसे तांत्रिकों ने देह के भीतर ही अनुभव करके फिर उसे वाक्–कुण्डलिनी के द्वारा सहस्रार में जाकर अपने देश से सोम को ही मुक्त कराना है। क्योंकि सोम ही आनन्द,वीर्य,बल और सुन्दरता का प्रदाता है। अतः शाक्त भावना के अनुसार इस प्रक्रिया को इस प्रकार कहा गयाः–

ब्रह्मरन्ध्रगते चन्द्रमण्डलेऽमृतवर्षिणीम्
भवानीं भूमिशुद्ध्यर्थं भावयेदमृतेश्वरीम्।।
ततस्तन्मौलिनिष्यन्दसुधाकल्लोलवृष्टिभिः,
चिन्तयेन्मनसात्मानं भूमिशुद्धिरियं भवेत्।।
(दे० दुर्गासप्तशती, निर्णयसागर प्रैस 1963, पृ० 14)

प्रायः ब्राह्मण–ग्रन्थों और उपनिषदों में भी वाक् शब्द ही सर्वत्र महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों में प्रयुक्त होता है। "यद् वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मोनाधर्मो" (छां०उ० 7–2–1) जैसे वाक्यों से लगता है कि उपनिषदों में वाक् को ही विश्व को एक सूत्र या तांत में बांधनेवाली मानकर एक ओर वाग्दर्शन खड़ा किया जा रहा था जिस में विश्व के एकनीड होने की भी बात कही जा रही थी और राष्ट्रों के रूप में भी उस का स्मरण हो रहा था। एक ओर वह देवलोक से जुड़ी थी तो दूसरी ओर उसका प्रयोग भूलोक के जीवों में भी हो रहा था। ऋषि उसका स्तवन इस रूप में कर रहे थे

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु।। (ऋग्वेद 8–100–11)

उपर्युक्त इन दो संकेतों से पता चल जाता है कि आर्ष प्रतिभा ने वाक् की विश्वरूपता और कुलरूपता की बात को स्वीकार कर लिया था और उसको एक ऐसे सन्दर्भ में जा खड़ा किया था कि जिस में वह जनयित्री, राष्ट्री, वसूनां संगमनी, ही नहीं थी बल्कि और भी बहुत कुछ थी। इसी कारण आगे चल कर तंत्र में उसकी "कुलकामधेनु" के रूप में प्रतिष्ठा हुई। आर्ष प्रतिभा के तत्त्वान्वेषी मीमांसकों ने वाक्यरूपा वाक् के ही लौकिक अलौकिक पक्षों की गवेषणा करके उसकी अपौरूषेयता में प्रतिष्ठा की। और वाक्सम्बन्धी अध्ययन को वाक्विद्या के रूप में पल्लवित किया। किन्तु इसी बीच षडंग वेद के विकास में लगे हुए लोगों में शिक्षा अथवा शीक्षा तथा व्याकरण रूप वेदांगों के अध्ययन में लगे लोगों ने पद-विज्ञान को इतना अग्रसर किया कि वाक् के प्रतिनिधि के रूप में पद या शब्द की ही प्रधान पद पर प्रतिष्ठा होने लगी। वैदिक मन, जो वाक् की एक समूची सामाजिकता को यज्ञ के सन्दर्भ में समझ रहा था वह अध्ययन योग के आलोक में शब्द-विज्ञान की ओर आ रहा था और बात वैय्याकरणों में बड़ी सुरूचि से देखी जा रहीथी कि एक शब्द यदि स्वर या वर्ण की दृष्टि से ठीक नहीं हुआ तो वह शब्द वाग्वज्र बन जाता है। अतः उस शब्द की व्याकरण में खूब मीमांसा हुई। किन्तु वह शब्द अब लौकिक स्तर पर पूरी तरह उतर आया था। पाणिनि आदि महान् आचार्यों ने वैदिकी वाक् की स्वच्छन्दता को नियमित करने के चक्कर में कतर व्योंत शुरू की तो फलतः वाक् का स्वतःस्फूर्त होने वाला प्रवाह रूका। वैदिक छन्द पर भी इस का प्रभाव पड़ा और एक अखण्ड पदस्फोट या वाक्यस्फोटों की कल्पना समकालीन अन्य योग,न्याय, बौद्ध आदि दर्शनों की मिलीजुली चिन्तनगत सूक्ष्मता के आधार पर होने लगी। महाभारत के अनुशासन-पर्व में आये ''अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतोयतः'' में प्रक्रिया पूर्ण हो गई। निश्चय ही अब शब्द का अध्ययन वैयाकरणों के पद-प्रयोगों और रूपसिद्धियों से उठकर सूक्ष्म योग की कुछ बौद्धिक कुछ अतिबौद्धिक शून्यवादी एवम् क्षणिक-विज्ञानवादी दृष्टियों के बीच पलने लगा था। शब्द की नित्यता अनित्यता को लेकर चले हुए विवाद और गहरे हो रहे थे। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की स्थापना पर बहस नैय्यायिकों-वैयाकरणों के बीच चलती रही। पर शब्द या पद को भाषा की अस्मिता का मूल आधार मान कर यह बात भी तय कर दी गई कि पद ही अन्तिम भाषाई इकाई है। वर्णों के संयोग-वियोग वाली वृत्ति से अछूता वह शब्द या पदतत्त्व एक है अखण्ड है- पदे वर्णा न भिद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च''। (वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड, 73)

तंत्र ने इस बात को गम्भीरता से लिया और मीमांसकों वैय्याकरणों एवम् नैय्यायिकों की वाक्सम्बन्धी मींमांसा से अलग रूप में वैदिक,दार्शनिक, योगसम्बन्धी अवधारणाओं को शक्तिविज्ञान एवम् मंत्रविज्ञान के बल पर मथकर वाक्सम्बन्धी अपना दर्शन दिया। शक्ति के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि

शक्ति ही मूल है और उसके मूल पक्ष दो हैं–

सगुणा निर्गुणा चेति द्विविधेत्याहुर्मनीषिणः
सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः।।

किन्तु श्रीलक्ष्मण देशिकेन्द्र कहते हैं कि शिव का ही निर्गुण और सगुण रूप लेना चाहिए। प्रकृति के बिना रहनेवाला निर्गुण या शिव है जिसमें सृष्टि की कोई संभावना नहीं हो सकती। प्रकृति को साथ लेनेवाला सगुण शिव ही सकल शिव है। यह सकल शिव ही सत् चित् और आनन्दस्वरूप है। वही चित्–धर्मी है और अचित् धर्मी भी है। अचित् धर्म को सुनकर हड़बड़ाना नहीं चाहिए। क्योंकि अचित् या जड वस्तुत्वात् कोई नितान्त पृथक् सत्ता नहीं। हमारे चिन्तन में जड को ''दृश्यत्वात् जड़त्वम्'' कह कर स्वीकारा गया है। क्योंकि जब भी कोई वस्तु सत्ता या तथ्य द्रष्टा के दृष्टिकर्मता को प्राप्त करेगा या द्रष्टा के लिए दृश्य होगा तभी केवल उस भोगकाल में उसकी अचित्धर्मिता है अन्यथा वह चिद्रूप ही है।

यही कारण है कि शाक्तों के शिव या शैवों की शक्ति, सांख्यों के पुरूष और प्रकृति, योग के पुरूष–विशेष ईश्वर एवम् वेदान्तियों के मायोपाधिविशिष्ट पर तुरीय दशा में ग्रस्त होनेवाले ईश्वर से नितरां भिन्न हैं। वह स्वयं ही महाकर्तृत्व धर्मों से जुड़कर विश्ववित्, विश्वकृत् आत्मयोनि, ज्ञ, काल का भी काल, गुणी और सर्वविदित है (श्वेताश्वतर उ०6–16)। वह सगुणात्मकता में स्वयं ही रचनाधर्मी है तथा निर्गुणता में मोक्षप्रद मौनी। लेकिन शिव–शक्ति के सम्बन्ध को पहचाननेवाला शिव की संमुखरूपता में उसे शक्ति–प्रभावित या ऊर्जा–मुख शिव कहेगा तथा शक्ति को चैतन्यमुखी ऊर्जा। जब शक्ति अपनी चित् ऊष्मा से द्रवित होकर मूलरूप से अविभागापन्न होकर वैशिषिक के निष्प्रकारक स्पन्द के रूप में आविर्भूत होती हैं तो पर नाद की स्थिति बनती है। यह पर नाद ही सृष्ट्युन्मुखता या प्रथम क्षण है जिसमें हंसरूप शिव की ब्रह्म–गर्भिणी हंसी औत्सुक्य से क्वण–नाद करती है। यह बहुत ही सूक्ष्म लम्बाकृति नाद ही प्रवहमानता के साथ घनीभूत होकर बिन्दुरूप बनता है। गतिशील नादतत्त्व या नाथतत्त्व की अप्रतिहत अनन्त एक नाद वाणी–रूप तडाग या नाद का महासर या महा–बिन्दु बनकर एक महामहिम बिन्दु बन जाता है। उसी को शाक्त लोग परबिन्दु ही नहीं शब्दब्रह्म कहते हैं। यह शब्द शक्तिचैतन्यधारा का वह संचय–सर है जहां से सुनियत ढंग से अपर बिन्दु ,अपर बीज और अपर नाद की त्रिवेणी वह निकलती है। इस त्रिवेणी में बिन्दु समस्त प्राणियों में इच्छाशक्ति के रूप में, बीज ज्ञान–शक्ति के रूप में तथा नाद क्रिया–शक्ति के रूप में विकसित हो जाता है। मानव–देह में इन तीनों तत्त्वों की समन्विति को ही हमारी सृष्टि का सार मानना चाहिए। पाणिनि–शिक्षा में ही कहा गया है कि बिन्दुरूप आत्मा ही जब इच्छा या विवक्षा के कारण हमारी ज्ञानशक्ति में स्थित अर्थों में या प्रत्यक्ष को समेट कर

कायाग्नि का आहनन करता है तो वह ज्ञान मारूत या प्राण की प्रेरणा या क्रिया से ''ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्'' के रूप में कुछ विशिष्ट स्थानों या प्रयत्नों से नियंत्रित होकर वाक्तत्त्व बन जाता है। यह वाक् उस नाद की ही बिन्दु और बीज से नियंत्रित होकर उदय हो रही दशाएं हैं। देखा जाए तो मूलतः निर्मल शुद्ध बिन्दु ही प्रजनन या 'प्रोडक्टिविटी' के कारणभूत माया–बीज से गर्भित होकर, क्रियात्मक होकर कर्मन्द्रिय वाक् के माध्यम से प्रकट हो जाता है। यह व्यवहार–जगत् का सारा शब्द या आहत नाद का हमारा व्यवहार अपर–शब्दमूलक है जिसकी पृष्ठभूमि में शब्दब्रह्म का सागर है। पर शब्दब्रह्म संपूर्ण सृष्टि के मूलाधार में स्थित महाकुण्डलिनी है और उसके ऊपर का शब्द जीव–कुण्डलिनी है। यह कुण्डलिनी प्रत्येक जीव की क्रियाशक्ति का मूलस्रोत है जो जीवन की ओजस्विता और व्यक्तित्व–संघटन को प्रदर्शित करता है। सामान्यतः हमारी चेतना या मानसिकता के छोटे से आकाश में हमारी क्रिया–वाक् के छोटे छोटे अंश ही वर्ण, पद या मंत्र बन कर आगे पीछे मंडराते रहते हैं। अतः प्रत्येक वर्ण या पद अथवा वाक्य हमारी मानसिक या वाचिक क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारा चित्तजगत् विषय–जगत् के साथ सन्निकर्ष से भी सक्रिय हो उठता है। किन्तु वह सक्रियता निर्विचार होगी। चित्त का सक्रिय होकर विचार में जाने का मार्ग केवल शब्द है। भावावेगों या भावना आदि को किन्हीं और तरीकों से भी संप्रेषित किया जा सकता है। किन्तु विचार तो मात्र भाषा या शब्दव्यवहार के ही अधीन है। 'कं ब्रह्म' इस श्रुति रूप का विचार करने में विचारजगत् का व्यवहार करने की क्षमता भी केवल वाक् के ही अधीन है। अतः ज्ञान–प्राप्ति की प्रक्रिया में शाक्तलोग भी सर्वप्रथम स्थान वाक् को ही देते हैं। क्योंकि वाक् आत्मा के उन तीनों रूपों में ही प्रथमा है जिन्हें आत्मा के वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय तन्तु कहा गया है। क्योंकि शब्द से ही मन की बात उभर कर साफ होगी तथा प्राणमय के रूप में सक्रियता के आधार पर ही यास्क यदि ''सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'' कह कर क्रिया को ही समस्त विश्व के वाग्व्यवहार का हेतु मानें तो चौंकना न चाहिए।

शाक्त आचार्य शब्द–ब्रह्म की चर्चा करते हुए वाक्तत्त्व का विश्लेषण अपने ढंग से करते हैं। उनके मत में सृष्ट्युन्मुख परमशिव का प्रथम, अखण्ड, अव्यक्त, नादबिन्दुमय उल्लास ही अपने व्यापक रूप में शब्द–ब्रह्म है। कुछ आचार्य शब्दार्थमय आन्तर स्फोट को ही शब्दब्रह्म कहते हैं "निरंश एवाभिन्नो बोधस्वभावः शब्दार्थमय आन्तरःस्फोटः।" दूसरे आचार्य पूर्व पूर्व वर्णों के उच्चारण से अभिव्यक्त तथा स्मृति वा संस्कार में स्थित पदों की सहायता से अन्तिम वर्ण के उच्चरित होते ही जागृत हो जाने वाले वाक्यस्फोट रूप तथा अखण्ड एकार्थ के प्रकाशक शब्द को शब्द–ब्रह्म कहते हैं (एक एव नित्यो वाक्याभिव्यंग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा बहीरूपः)। इन दोनों वैय्याकरणों के मतों को दूषित ठहराते हुए शाक्त और शैव आचार्य कहते हैं कि उन मतों में शब्दमात्र मानव का मनोदैहिक व्यापारमात्र होने से जड़ है। उसे ब्रह्म

कैसे कहा जा सकता है। ब्रह्म तो सच्चिदानन्दरूप है। (दे० शारदातिलकम् के प्रथम पटल में पद्य सं० 12, 13 पर राघवभट्ट की टीका)।

यह शब्दब्रह्म ही सब की योनि के आधार–कुण्ड में तीन शक्तियों के सूक्ष्म 'स्पायरल' या शंख–आवर्त प्रकार के तीन वलयों की प्रकाश–रेखाओं से इन्द्रधनुषी बना रहता है। आधारवलय उसकी अग्रसरता या क्रियोन्मुखता को सुबुद्धि–दशा में भी बोधित करने के लिए है। वह क्रियोन्मुखी अध्युष्टवलया या सार्धत्रिवलया कुण्डलिनी की अवधारणा मुझे इस बात की द्योतक लगती है कि पूर्णता का कभी गति से या संभावनाओं से विच्छेद नहीं होता। शक्तितत्त्व की पूर्णता का परिचय जड हो जाने के लिए नहीं है। उसमें संलग्न जो अर्धमात्रा है वह इसका प्रमाण है कि भगवती चिति–शक्ति तीन खण्डों में 'उक्त' होकर भी अर्धमात्रा की दृष्टि से ''अनुच्चार्या विशेषतः'' है। वाक् के उस अनुच्चार्य पक्ष को जो परा के रूप में जानते हैं, वे ही पण्डित हैं। क्योंकि "अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः"। वस्तुतः कुण्डलिनी वाग्ब्रह्म का वह रूप है जो जीव के जन्म के साथ ही जीवन–यात्रा की ऊर्जा का पाथेय है। लेकिन वह हमारे संस्काराशय के भीतर कहीं बहुत गहरे में एकाक्षरी मंत्र की ध्वनि की तरह सुप्त है। प्रकृति की ओर से गुप्तरूप में निहित वह अक्षरब्रह्म यदि आवाज़ देने लगे या उस कुण्ड में पौदे की तरह उगने लगे तो एक नई जीव की अपनी भाषा का जन्म हो सकता है जो परम्पराप्राप्त भाषा को "जीव को मिली सामाजिक देन'' की रट लगाने वाले भाषाविज्ञानी के लिए चैलेंज बन सकता है। इसी कुण्डलिनी या शब्दब्रह्मशक्ति के विषय में आगम कहता है

शंखावर्तक्रमाद्देवी सर्वमावृत्य तिष्ठति।
कुण्डलीभूतसर्पाणामंगश्रियमुपेयुषी।।
त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी।
द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पंचाशद्वर्णरूपिणी।।
गुणिता सर्वगात्रेषु कुण्डली परदेवता
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मंत्रमयं जगत्।। शारदातिलकम्, 1, 54–57

यह ठीक है कि शैवों और शाक्तों ने अपने वास्तव सिद्धान्तों के अध्ययन और विश्लेषण में वाक्तत्त्व को लेकर मीमांसा करने वाले शास्त्रों और विद्याओं की मान्यताओं को उचित महत्त्व दिया है। उनका उपयोग भी किया है। किन्तु उन वर्ण, पद, वाक्य की मीमांसा करने वाले शास्त्रों के अव्याख्यात प्रश्नों का समाधान भी किया है और अग्रसर भी किया है। वैयाकरण कह तो देते हैं कि "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति"–– किन्तु ऐसा कैसे होता है वाली बात गुमसुम रह जाती है। शब्दार्थ के संबन्ध की नित्यता को लेकर ऐसे कई प्रश्न पीछे कर दिये जाते हैं। शाक्तगण वाक् की प्रक्रिया को चैतन्योन्मुखी मान कर भाषा

के प्रत्येक वर्ण को तत्त्वरूप और उन तत्त्वों के जोड़–तोड़ से अर्थजगत् में पैदा की जा सकने वाली हलचलों की व्याख्या देकर कहते हैं कि एक ही चित्शक्ति उस सिक्के की भांति है जिसके एक ओर वर्ण पद मंत्र का वाङ्मय जगत् है दूसरी ओर तत्त्व, कला और भुवन का अर्थ–जगत् है। कुछ अन्तर के साथ दोनों चिद्रूप हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं हो सकती। अतः यह जगत् नित्यरूप से शब्दार्थमय जगत् है। अतः हम आज के दिन वाग्ब्रह्म की चर्चा के इस सत्र में शब्द के प्रति पुष्पांजलि के रूप में, शुद्ध शब्द की ही अर्चना के रूप में प्रस्तुत प्राचीन कवि के एक श्लोक को अर्पित कर सकते हैंः—

शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति तेऽपि
यां मूर्च्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः
संरुद्धसर्वकरणप्रसराः भवन्ति
चित्रस्थिता इव कवींद्रगिरंनुमस्तान्।। (जगद्धर)

संस्कृत और पालि का सम्बन्ध-विचार

हम जब भी संस्कृत की बात करते हैं तो एक प्राचीन आवेश के साथ स्वयम् को जोड़ लेते हैं। फिर आरम्भ करते हैं उन आरति या स्तुति वन्दना की उक्तियों को। कोई कहता है 'संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा' अर्थात् संस्कृत स्वर्ग के लोगों की भाषा है। दूसरा कहता है "संस्कृतं नाम दैवी वाक्" अर्थात् देवताओं की वाणी है सुरभारती है। और भी जाने कितनी ही ऐसी ऐसी उक्तियां हैं जिन्होंने संस्कृत के तथाकथित पण्डितों के मस्तिष्क में मकड़ियों की तरह ही जाले लगा रखे हैं। लेकिन यदि पूछा जाए कि भाई सामान्य बोलचाल की भाषाओं में यदि "जल ले आओ" कहने से भी पानी लाना क्रिया ठीक हो जाती है तो 'जलमानय' ऐसे संस्कृत के वाक्य–प्रयोग द्वारा भी बिना किसी न्यूनाधिक हेरफेर के वैसी ही क्रिया सिद्ध हो जाती है तो फिर सामान्य भाषा–प्रयोग की अपेक्षा संस्कृत के प्रयोग से क्या अन्तर पड़ने जा रहा है? तो इस प्रश्न से संस्कृतज्ञ हतप्रभ हो जाते हैं। क्योंकि पद–पदार्थ या स्वर–संस्कार से युक्त वाक् द्वारा मानवीय चेतना में क्या संस्कृति पैदा होती है इसका पता केवल स्थितप्रज्ञ लोग ही अपनी मनीषिकाओं द्वारा लगा पाते हैं। क्योंकि साधारणतः लोग यह नहीं जानते कि विचारशील मनुष्य की वाक्–शक्ति आपाततः सामान्य व्यवहार–सिद्धि का साधन न होकर एक ऐसी शक्ति है जो होने के साथ साथ परा–भाव को प्राप्त होती हुई ऐहिक और आमुष्मिक धर्म–अर्थ, काम, मोक्ष का निष्पादन करने में अपना पूर्ण सामर्थ्य प्रकट करती है। कैसे करती है? क्यों करती है? इसका पता संस्कृत के व्यवसायी पण्डित को नहीं होता। केवल आर्ष–प्रज्ञा के उपासकों को ही होता है। वे ही सरस्वती वाक् की धारा को भीतर से नदी की तरह प्रवहमान देखकर कह उठते हैं – "अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि" हे मां। हम जीवन को श्रीहत होकर जी रहे हैं हमें प्रशस्त जीवन प्रदान कर के जीना सिखा दो।

किन्तु निहित स्वार्थों के लोग सर्वत्र सदा हमारे बीच में ही रहते हैं वे जीवन में श्री और गरिमा का अवमूल्यन करके आसुरी सम्पद् को अपना सर्वस्व मानकर मनमाना आसुरी व्यवहार करने लग जाते हैं जिससे संस्कृति के नाम पर अनाचार एवम् अत्याचार एक साथ जन्म लेने लगते हैं –

"अनाचारस्तु मालिन्यं अत्याचारस्तु मूर्खता।
विचाराचारयोर्युक्तः सदाचारस्स उच्यते।।

अनाचार यानि निकम्मे होकर कुछ भी न करने से मन–प्राण की मलिनता

की काई उभरने लगती है और अति–आचार से ऐसी शक्तियां जन्म ले लेती हैं जो मानवता को आत्मघात की ओर प्रेरित करने लगती हैं। जैसे कि आज़ आधुनिक उपभोक्तावादी राजनीति, विज्ञाननीति में देख सकते हैं जो मानव उन्नति के नाम पर, मानवमुक्ति के नाम पर अपने पर्यावरण को खाकर प्रदूषणग्रस्त जीवनपद्धतियों को जन्म दे चुकी हैं। इस अनाचार और अत्याचार की जीवनपद्धतियों से बचने की समस्या को भगवान् बुद्ध ने भी पहचाना था और शंकराचार्य ने भी पहचान लिया था। दोनों को पता था कि बिना बुद्धता एवम् आर्षदृष्टि प्राप्त किए जो लोग संस्कृतियों के नेतृत्व की होड़ में दौड़ पड़ते हैं वे संतुलन नहीं रख पाते। क्योंकि कोरी भावुकता या कोरी बुद्धि–जीविता दोनों ही अनर्थ की हेतुभूता हैं। शंकर अपने अध्यासभाष्य में ऐसे वेदज्ञ पण्डितों को पहचानते हैं जो वेदान्त–श्रवण करके भी पशुता से ऊपर नहीं उठ पाते और बुद्ध भी अपने धम्मपद में ऐसे ब्राह्मण की तलाश में हैं जो भोग–त्याग और वैराग्य के ढोंग का आश्रय न लेकर कामनाहीन निर्लिप्त चेतना से लोक–कर्म करने के लिये उतरा है –

यस्स पारं अपारं वा पारापारं न विज्जति
वीतद्दरं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ।।

जो न इस किनारे बैठा रहता है न उस किनारे, जो निडर और बन्धनरहित होकर विचरता है मैं उसे ही ब्राह्मण समझता हूं। मुझे लगता है कि मागधी या पालिभाषा में बौद्ध साहित्य के लेखन के पीछे बुद्ध की चेतना काम कर रही थी वह तो न ब्राह्मणविरोधी न संस्कृतविरोधी थी। अन्यथा धम्मपद जैसे सुत्तपिटक के चरम–चिन्तन में ब्राह्मणवग्ग को इतना शीर्षस्थान नहीं दिया जाता। बुद्ध अपने युग में वेद और उपनिषत्काल के उस ब्राह्मण को ढूंढ रहे थे जो अपनी विकृतिहीनता और निर्मलता में अद्वितीय था। जिसके आत्मचिन्तन और लोकचिन्तन में कोई विरोध नहीं था। बुद्ध ने जिस क्षणिकता के सिद्धान्त को अंकुरित किया था और जिसे पल्लवित करने के लिए उसने ध्यान की प्रक्रिया का आश्रय लिया था वह सम्यक् ध्यान चाहे पालि में ही दिया जा रहा था लेकिन कितने लोगों के पल्ले पड़ रहा था। पालि में दिए गए बुद्ध के बार बार के निर्देशों से ऐसा लगता है कि जिस "सनातन धम्म" की बात वे कह रहे थे कि 'एस धम्मो सनन्तनो' उस सनातन धर्म की बात को जो भिक्खु नहीं थे ऐसे कई ब्राह्मण भी उसे संस्कृत में ग्रहण कर चुके थे। महाभारत जैसे महोदर ग्रन्थ में ऐसे जगह जगह पर प्रमाण मिलेंगे कि महाभारतकार जैसे लोग समानता, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, निर्वाण जैसी अवधारणाओं को आत्मसात् करने में लगे हुए थे। व्यास भी चिल्ला चिल्ला कर कह रहे थे 'नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्", महात्मा भीष्म और विदुर जैसे पात्र उपेक्षा सह कर भी यही समझाते फिरते थे कि 'न व्याजेन चरेद् धर्मम्' "आचारप्रभवो धर्मः धर्मस्य प्रभुरच्युतः।" प्राणियों के आपसी मिलन समागम की

अनित्यता का भी विरक्तभाव से कथन कर रहे थे –

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ
तथैव च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ।।

पर ये सब निर्देश या संकेत तत्त्व की इच्छा रखने वाले भिक्खुओं और ब्राह्मणों या अन्य वर्णों के लिए ही सार्थक थे। धर्म का धन्धा करने वाले लोग भिक्खुओं की पालि में या स्वार्थी ब्राह्मणों की संस्कृत में सुरक्षित नहीं थे। बुद्ध संस्कृतज्ञ होने पर भी पालि जैसी छाया–भाषा का आश्रय लेकर कह रहे थे –

परो सतं चेपि समागतानं झायेयुं वस्ससतं अपंजा
एकोव सेय्यो पुरिसो सपंजो यो भासितस्स विजानाति अत्थं ।।
(परोसतजातक १०१)

प्रस्तुत पद्य जैसा का तैसा, रचना–शिल्प की दृष्टि से, व्युत्पत्तिशास्त्र की दृष्टि से, स्वाभाविक संस्कृत की भाषागत रचना और भावगत निबन्धन की दृष्टि से, रत्तीभर भी आपसी सम्बन्धों की विपरीतता को नहीं दिखाता है। पद्य का अभिप्राय मात्र है कि "अपंजा मानी अप्राज्ञ प्रज्ञारहित लोग संख्या में सौ से अधिक होकरं यदि सौ वर्ष तक भी ध्यान लगाते रहें तो उनकी अपेक्षा 'सपंज' मानी संप्राज्ञ एक भी पुरुष प्रशन्सनीय या श्रेष्ठ है जो 'भासितस्स' मानी (भाषितस्य वक्तव्यस्य अथवा मद्वचनस्य अर्थं विजानाति) अर्थात् मेरे कहे हुए के अर्थ को समझता है। इस बात कौ लेकर निगम और तन्त्रसाहित्य तक संस्कृत में पहले भी कहा जा चुका था "योऽर्थज्ञः सकलं भद्रमश्नुते" अर्थात् जो अर्थ को जानता है वह सकल भद्र या कल्याण को प्राप्त कर लेता है। और बाद में निरूक्त आदि ग्रन्थों की शैली का तो विकास ही अर्थज्ञान की गरिमा को लेकर ही हुआ था "स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति अर्थम्"। ज्ञानविधूतपाप्मा का लक्षण ही संस्कृत में सप्राज्ञ था। अतः पालि और संस्कृत के ये सभी वक्तव्य यदि आज की भाषा में किसी वर्ग–विशेष को अनुकूल न भी जंचें तो बुद्ध और श्रुति दोनों ही इस पर अपना मत नहीं बदलेंगें। क्योंकि यदि आजका 'कॉमन मैन' का कन्सैप्ट संस्कृतिविहीन होकर अपने समस्त दुराग्रहों के साथ, दुर्व्यसनों के साथ प्रज्ञा के भवन में धडल्ले या धक्के से घुसना चाहेगा तो बुद्ध भी उसे रोकेंगे और श्रुतिपरम्परा भी।

अतः संस्कृत और पालि के सम्बन्धों को जांचते समय परीक्षकों को यह ध्यान में रखना होगा कि दोनों भाषाओं का या उनके साहित्य का सम्पूर्ण तात्पर्य क्या है? उनकी धुरी कहां है और परिधि कहां है? भाषाशास्त्रियों की इतिहासदृष्टियों के अनुसार पालि बुद्ध के वचनों के पालन या रक्षण–कर्म के लिए तत्कालीन किसी मागधी लोकभाषा को छानकर चुनी गई भाषा थी। वैसे तत्कालीन

इतिहास के सन्दर्भों को ध्यान में रखते हुए विचार करें तो पालि शब्द का अर्थ यदि पंक्ति भी लिया जाए तो कोई अनर्थ होने की सम्भावना नहीं है। क्योकि शब्द का मूल अर्थ एक विशिष्ट समूह के अर्थ में भारतीय संस्कृति में पूर्व से ही विद्यमान था। पंक्तिभेद को अपराध मानने वाले भारतीय मानस ने जनसमूहविशिष्ट सामाजिकता की रक्षा के लिए आरम्भ से ही "पंगत और संगत" की अवधारणा को लोकसंग्रह के लिए अनिवार्य माना हुआ है। सामूहिक भोजन में, कविता के पदों के संचयन में, लेखन-प्रक्रिया के सन्दर्भ में, सर्वत्र संस्कारित सामूहिकता की अभिव्यक्ति पंक्तिबद्धता में ही होती रही है। वैसे भी पांक्तभावना वैदिक आर्षचिन्तन में पंक्तिछन्द के रूप में यहां के जीवन का छन्द बन चुकी थी।

पालि का केन्द्रबिन्दु है बुद्ध-पुरुष और परिधि है संघ। और दोनों के बीच में सन्धिस्थल या मर्म है धम्म। इसलिए पालि के त्रिशरण सिद्धान्त में बुद्धशरण, धम्मशरण और संघशरण पालि का सर्वस्व है। संस्कृत भाषा एवं साहित्य की प्रवृत्ति सदैव विश्वात्मक रही है। परस्पर में एक दूसरे का समीक्षण समालोचन करने की जीवन्तता उसमें सदा रही है। इसी कारण चार्वाक जैसे नास्तिकों ने भी अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए उस की शरण ली और श्रुतिप्रामाण्य न मान कर भी प्रमुख जैनाचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का दर्शन संस्कृत में रखा। परवर्ती भारतीय लोकधाराओं में से उठने वाली नाथपन्थी, अवधूतपन्थी जैसी विचारधाराओं ने भी स्वयम् की थोड़ी अपनी आचार व्यवहार की भिन्नता रखकर भी नए नए पुराणों, उपपुराणों, एवम् मध्यकालीन उपनिषदों (जैसे कि अल्लोपनिषद्) के माध्यम से स्वयम् को संस्कृत से जोड़े रखा। बौद्ध महायान मतों ने तो आरम्भ से ही अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति जैसे कवि और दार्शनिक, संस्कृत को समर्पित किए हुए थे।

संस्कृति की प्राणभूत वैदिक संस्कृति के उपासक पण्डितों ने संप्रदायभेद या मतभिन्नता को किन्हीं कारणों से भले ही न सराहा हो किन्तु महापुराणों में भगवान् बुद्ध को अवतार रूप में स्वीकार करना, गीतगोविन्द के लेखक द्वारा श्रुतिसम्मत यज्ञविधि की निन्दा सुनकर भी बुद्ध की करुणा को सर्वोपरि मान लेना सामान्य बात नहीं है। इससे भी आगे बढ़कर यदि संस्कृत के धुरन्धर पण्डित और खण्डन-खण्डखाद्य जैसे परमत-ध्वंसी ग्रन्थों के लेखक श्रीहर्ष अपनी नलदमयन्ती कथा-कविता में बुद्ध और उन के दर्शन को श्रद्धा से स्मरण करते हैं तो यह कोई संस्कृत के विद्वानों की डिप्लोमेसी या कूटनीति नहीं है अपितु अपने यथार्थ के आगे शिरोनमन है। श्रीहर्ष बुद्ध को विज्ञानाद्वैती के रूप में स्मरण करते हुए चार पद्यों में बुद्ध को प्रणाम भी कर देते हैं और उनके दार्शनिक मन्तव्य को भी इस सारगर्भितता के साथ संस्कृतज्ञों के पास पहुंचा देते हैं कि कई ग्रन्थ भी मिल कर बात को उस स्पष्टता के साथ नहीं कह सकते। श्रीहर्ष बुद्ध को ऐसा विज्ञानाद्वैती

कहते हैं जो सारी जागतिक या अतिजागतिक वास्तविकता को एकमात्र चित्त की प्रतीतियों का प्रवाह मानते हैं। पदार्थमात्र के स्वरूप को क्षण–परिवर्तनशील मानकर पदार्थों में स्थिर होकर या नित्य होकर रहने वाली किसी आत्मा का निषेध कर शून्यवाद में चले जाते हैं। लेकिन श्रीहर्ष इतने उदार हैं कि नितान्त श्रुति–मार्गी होने पर भी संसारमात्र की क्षणिकता का प्रतिपादन कर आत्मा का निषेध करने वाले सुगत बुद्ध को त्रयी या वेदविद्या से अपरिचित होने पर भी उन्हें और उनके चतुष्कोटिविनिर्मुक्त ज्ञान को, मार–विजय को, उनकी छः अभिज्ञाओं को, निर्ग्रन्थ भाव से सराहते हुए 'पाहि माम्' कह कर प्रणाम करते हैं। बुद्ध की आध्यात्मिक उपलब्धियों पर उन्हें एक संगतिपूर्ण गर्व है जो कि किसी गुरु के अनुयायी मात्र को कभी नहीं होता।

"एकचित्ततितिरद्वयवादिन्न त्रयीपरिचितोऽथ बुधस्त्वम्
पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कःपंचवाणविजयी षडभिज्ञः।।
तत्र मारजयिनि त्वयिसाक्षात्कुर्वति क्षणिकतात्मनिषेधौ
पुष्पवृष्टिरपतत्सुरहस्तात् पुष्पशस्त्रशरसंततिरेव ।।
(नैषधीयचरितम्, २१–८१–८८)

इतना ही नहीं बुद्ध की सर्वज्ञता के प्रति समग्र आदर देने के साथ उसे शिव की सर्वज्ञता से भी आगे ले जाते हैं। और जरा सोचिए कि यह कौन कर रहा है। जो कवि अपनी श्रुति के प्रति अद्वितीय निष्ठा के कारण श्रुति–विरोधी समस्त दर्शनों को अपने तर्कों के आगे क्षणभर को भी ठहरने नहीं देता।

श्रीहर्ष से भी पूर्व सरस्वती के सिद्ध महाकवि बाणभट्ट अपनी एक नायिका महाश्वेता के वर्णन में अच्छोद सरोवर के किनारे स्थित शिव मन्दिर में आसनस्थ होकर स्फटिक–मूर्ति भगवान् त्र्यम्बक के समक्ष वैदिक मीमांसा–दर्शन की विधि–निषेध से ध्वनित हो रही शब्द और अर्थ की नाना भावनाओं या सुवासों से अनुप्राणित स्तुति–गीतिका से भगवान् विरूपाक्ष शिव का वीणा से उपवीणन–स्तवन करती है। महाश्वेता की साधिका के रूप में चल रही जीवनचर्या को बाणभट्ट यह कह कर गरिमा प्रदान करते हैं कि महाश्वेता भगवान् बुद्ध की शून्यत्व में निर्विकल्पा होकर निराधारता में स्थित बुद्धि या परा प्रज्ञा के समान निरालम्ब अपरिग्रह का जीवन यापन कर रही है -- "बौद्धबुद्धिमिव निरालम्बनाम्"।

बाणभट्ट की द्वितीय परमोत्कृष्ट रचना हर्षचरित में कथा एवम् वर्णना–काव्य का आश्रय लेते हुए वहां पैर पैर पर बौद्ध जीवनपद्धति के प्रति जितनी सूचनाएं मिलती हैं उतना ही परम विरक्त भिक्षु दिवाकरमित्र के मठवर्णन में भी बाण अपनी सिद्ध लेखनी का उपयोग करते हैं। इन कुछ एक संस्कृत में उपलब्ध मुक्त–सहिष्णु प्रमाणों के साक्ष्य में सोचना होगा कि पालि भाषा के जीवन–प्राण बौद्ध चिन्तन

एवम् बुद्धचरित को सुविचारित रूप से अपने पास घर में आंगन में बिठाकर स्नेह और सम्मान देने वाली संस्कृत वाणी का पालि के साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है। इतिहास साक्षी है कि बुद्ध जब प्रज्ञा के पथ की ओर प्रयाण कर रहे थे तो वे भारत की लोकभाषाओं में किसी प्रतिष्ठित विचारप्रणाली को नहीं सीख रहे थे अपितु उनकी विचारप्रणाली की ऊर्जा के मूल में उपनिषद् और श्रुतिसाहित्य, सांख्य जैसे दर्शन और विभिन्न चर्तुदश विद्याएं, कला–दर्शन की सुवास, उनके वचन की हर कड़ी से आती है। इसलिए उपनिषदों का सरल तरल तर्क–पूर्ण वैराग्य, जीवन का दर्शन, धर्म–दर्शन, यास्क द्वारा प्रसारित एवम् अनुमोदित ऋषियों की "स्वयम् उपलब्ध साक्षात्कृत धर्म की प्रतिच्छायाएं पालिवचनों में कहां नहीं मिलेंगी? ऐसा कोई ऋषि आप की दृष्टि में आता है जो "परीक्ष्यकारिता का विरोधी रहा? कठ उपनिषद् के यम तो प्रथम उपदेश ही यह करते हैं – परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन"। तो पाली भी भिक्खुओं को "परीक्ष्य भिक्खवो ग्राह्यं मद्‌वचो नतु गौरवात्" ही कहती है। बुद्ध यदि पालि में भिक्खुओं को "अत्तदीपाः" "अत्तसरणा" यानि "आत्मदीपो भव" 'आत्मानं शरणं गच्छ' या 'नान्यत्‌शरणम्' तो यह संस्कृत की दार्शनिक संस्कृति के अनुकूल ही है। किन्तु इसे अनुकरण नहीं माना जाना चाहिए। क्योंकि संस्कृत के कछुआ छाप आधुनिक पण्डित संस्कृत को मात्र अपनी सिकुड़न की कछुआ खोपड़ी मानकर सारे जगत् के ज्ञान को, लोकभाषाओं की उपलब्धियों को, अपना उच्छिष्ट या जूठन कहने के लिए सदा आतुर रहते हैं। भले ही उनके अपने पास कुछ हो या न हो।

इस भूमि पर न जाने कब से लोगों को अपने आप को खोजने की या आत्मसाक्षात्कार की धुन सवार हुई। इस धुन से आगे रहा हमारा कवि–दार्शनिक। वह अपने लोक का संस्कार अपनी कविता के माध्यम से करना चाहता था। लेकिन यह संस्कार सुरुचिवाले लोगों को तभी तक अच्छा लगता है जब तक वह अनाचार और अति–आचार के दोषों से मुक्त रहे। लोक के प्रति उसका आकर्षण उसे मन्त्रद्रष्टा बना देता है, वाल्मीकि, व्यास बना देता है कालिदास बना देता है। वह कभी लोक का संस्कार करने के लिए उसे लोकवाक् के संस्कार द्वारा, कभी उसके मन–प्राण और चेतना के संस्कार द्वारा एक ऐसी संस्कृति प्रदान कर जाता है जो लोक की सामूहिक चेतना को एक प्रेम और पहचान के सूत्र से युगों पर्यन्त अनुस्यूत कर जाता है। भगवान् बुद्ध ने अपने समय की अनिवार्यता को देख कर पालि, जो उस समय की सांस्कृतिक चेतना से अभिन्न थी, उसके मन्त्रद्रष्टा कवि होने का पद सहज में ही प्राप्त कर लिया।

पालि बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त कुछ प्रमुख उक्तियों का अवलोकन करने से यह बात और भी अच्छी तरह पुष्ट हो जाती है कि संस्कृत और पालि के पदप्रयोग

या वाक्यप्रयोग में ही बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव नहीं अपितु दोनों के बोध में भी एक सहज समभाव है। प्रमाण के रूप में पालि में सुरक्षित एवम् पालित बुद्ध वाक्यों को लीजिए "एस धम्मो सनन्तनो" "एस धम्मो अकालिको", "इसिप्पवेदितो धम्मो" "अर्थात् यह वह धर्म है जो किसी विशेष काल तक सीमित न होकर सनातन है" एवम् "ऋषियों द्वारा ज्ञात धर्म है।" "अत्थि परलोको", "नात्थि परलोको" "अत्तगवेसना" (आत्म गवेषणा), ब्रह्म–विहार, ब्रह्मचर्य "ज्ञान दस्सणं" आदि समस्त पदों एवम् वाक्यों को देखकर ऐसा लगता है कि पालि–बौद्ध साहित्य कहीं भी उपनिषद्–साहित्य के विरोध में नहीं खड़ा है। केवल वैदिक कर्म–पथगामिता और ज्ञानपथगामिता के दोनों मार्गों में से वह वैदिक ज्ञानपथगामिता के मार्ग की अग्रसरता का प्रतिनिधित्व करता है। इसी लिए परवर्ती काल में गौडपाद एवम् आचार्य शंकर को बौद्ध ज्ञान–दर्शन को, विरुद्धता रहने पर भी, यथोचित सम्मान देने में कोई समस्या नहीं रही। यहां तक कि भारत की प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था में भी पुष्यमित्र शुंग के काल के बौद्ध– ब्राह्मणविरोध की एक घटना को छोड़कर सम्राट् अशोक, समुद्रगुप्त एवम् हर्षवर्धन (7वीं सदी) के काल तक संस्कृत और पालि के पारस्परिक संवांद में कलह के स्वर नहीं अपितु पारस्परिक ज्ञान के उत्तेजना के प्रवाही स्वर अवश्य हैं।

सत्य : अभिव्यक्ति : तप

युगयुगान्तरों से मनुष्य का यह प्रयास चलता रहा है कि किसी तरह वह सत्य को अभिव्यक्ति प्रदान कर सके। सत्य चाहे विराट् सत्ता के रूप में ''महतो महीयान्'' हो चाहे आत्म–तत्त्व आदि के रूप में "अणोरणीयान्" हो। उसे अभिव्यक्त कर पाने की साध ने मानवमात्र को विचलित कर रखा है। जो लोग गहरी अध्यात्मअनुभूतियों में उतर गए उन्हें प्रत्यक्ष हुआ कि सत्य किसी भाषा या अभिव्यक्ति के माध्यम से बंधने की चीज नहीं। अतः भाव भाषा के सभी औजार उस सत्य की मूर्ति–रचना में असमर्थ हैं। मनुष्य का उस को रूपायित करने का यत्न करते रहना उसके अपने जीवन के खालीपन को भरने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अतः मानवमात्र अनन्तकाल से सचेष्ट रहने पर भी सत्य के आवरण का कोई निश्चित माध्यम नहीं खोज पाया। क्योंकि जैसे ही किसी व्यक्ति का संस्कारसाधनावश या किसी लोकोत्तर चमत्कारवश सत्य से सम्पर्क बना वैसे ही वह देहातीत एवम् भावातीत स्थिति में चला गया। और जब लौटा तो भोगी हुई स्थिति की स्मृति तो थी साक्षात्कार नहीं था। ये प्रश्न भाषा और अभिव्यक्ति को लेकर सदैव स्मृति की नींव पर ही खड़े होते आए हैं। सीधे प्रत्यक्ष से उन का सम्बन्ध शायद संभव नहीं हो सका। वाणी ने सत्य को अवाच्य कह कर पिण्ड छुड़ा लिया तो बुद्धि ने उसे कभी अचिन्त्य कह कर निजी असमर्थता व्यक्त कर दी। श्रद्धा ने उसे मौनभाव से नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया। किन्तु मूल प्रश्न तो मानवीय चेतना में उदय हुआ था कि सत्य अभिव्यक्ति में अवतरित होता है या नहीं? अनुभव का अभिव्यक्ति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध बन पाता है या नहीं? ये प्रश्न अभी भी बने हुए हैं। बड़े बड़े महाकवि भी जब अनुभूति की चरम गहनता के क्षणों में गए तो उनके चेहरे पर एक आत्मतोष का भाव उभरता देखकर कुछ लोगों ने कहा कि सत्य एक ओजस् के रूप में उतरता उन्हें दिखाई दिया। फिर उसके बाहर जब वह तिरोहित हो गया तो कभी नहीं दीख पड़ा। भाषा भाव या मुद्राओं को सब लोग अभिव्यक्ति का संपन्न साधन मानते हैं। इसी से लोगों ने इनको सत्य का मूर्तिमान् रूप मानकर शब्दमूर्ति या शब्दब्रह्म की मूर्ति, भाव की शाश्वत मूर्ति एवम् कलाओं को आकार, इंगित या चेष्टाओं की साकार मूर्ति मान कर उपासना करनी आरम्भ कर दी।

यहां पर किसी निष्कर्ष पर पहुंचने की बजाए यह कहना अधिक बेहतर होगा कि सत्य के मानवहृदय में या धरती पर उतर आने की बात को जातिगत अथवा धर्मगत संस्कारों के बल पर परीक्षित कर लिया जाए। क्योंकि सत्य के अवतरण या आविर्भाव का मसला संभव भी है या नहीं? उन धर्मों में जहां पर परमात्मा यानि परम सत्य जब अपने ही लोक में विचरता है तथा अन्य लोकों के विषय में सर्वज्ञ होते हुए

भी केवल अपने दूतों के जरिए संचालन करता है, वहां पर उसके स्वयम् अवतरण का या आविर्भूत होने का प्रश्न ही टूट जाता है। और फिर आंशिक रूप में अपनी शक्तियों, कलाओं या अंशों के संकेतों से सृष्टि के संचालन की बात एक रहस्यवाद को जन्म देकर रह जाएगी। और घूंघट जो है वह सदा के लिए बना ही है, और बना रहेगा। अतः आंशिक अवतरण की कल्पना भी मुश्किल से ही की जा सकेगी। आभासों का सिलसिला तो उन विचारकों के अन्तस् में आरम्भ हो जाएगा किन्तु समस्या तो प्रत्यक्ष की है। मानव–मन क्या सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति चाहता है या अपूर्ण अभिव्यक्तियों के बीच में ही उसकी चरम ज्ञानसीमा निहित है।

भारतीय विचारप्रणाली में इस समस्या का समाधान इसलिए संभव हुआ क्योंकि उपलब्ध वैदिक या उसके अंगभूत साहित्य में, जीवन–परम्परा में, प्रारम्भ में ही यह बात मानव मानस् ने स्पष्ट कर ली कि सत्य का प्रत्यक्ष संभव है और वह एकदम आमने सामने की घटना है। रहस्य का टूटना ही समाधान है। उपनिषद् ग्रन्थों में ज्ञान तक पहुंचने से भी पूर्व प्रायः यह बात समाहित हो चुकी थी कि हृदय की ग्रन्थि ही रहस्य की निर्मात्री है। इसका टूटना ही परम सत्य का आविर्भाव एवम् अवतरण है तथा साधक का परप्रत्यक्ष है । इस का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता से किया गया । सर्वाधिक प्राचीन बृहदारण्यक उपनिषद् में तीन मानसिक ग्रन्थियों में 'पुत्रैषणा' 'वित्तैषणा' एवम् 'लोकैषणा' का प्रत्यक्ष करके उन्हें तोड़ डालने की बात की गई । एक प्रजननग्रन्थि है तो दूसरी आत्मसुरक्षा की ग्रन्थि, तीसरी तप, त्याग एवम् दानादि के द्वारा मानवमन में पड़ जाने वाली यश की लिप्सा की ग्रन्थि है। इन्हीं ग्रन्थियों को आगे चलकर ब्रह्मग्रन्थि विष्णुग्रन्थि एवम् रूद्रग्रन्थि कहा गया है। यह इतना गहन विश्लेषण है कि यह कहना आवश्यक हो जाता है कि यह जरूरी नहीं है कि इन मनोवैज्ञानिक सत्यों की अभिव्यक्ति को आधुनिक मान लिया जाए। आधुनिक मनोविज्ञान और दर्शन तो अभी अपनी अहम्मन्यता में ही इतने उलझे हुए हैं कि उनमें अभी सत्य के अवतरण की बात दूर की बात है। क्योंकि वह तो अभी तक नूतन विज्ञान होने के नाते पुराने से अपने विलगाव के चक्कर में ही फंसा हुआ है। नवीनता और तर्कवाद के प्रति आग्रह उसे स्वस्थ ही नहीं होने दे रहा। अतः अभी उसके स्वस्थ होने की प्रतीक्षा करनी होगी। दूसरे पेशावर लोगों का कोई दर्शन नहीं होता। वे नकली मोतियों की तरह दर्शनाभासों को पैदा कर सकते हैं। दर्शन के जन्म के लिए जिस भूमि की जरूरत होती है उसको तैयार करना उनके हित में ही नहीं होता।

यदि दर्शन को मानव–मस्तिष्क के विचारजगत् का व्याकरण मान लिया जाये जो नये नये विचारों को जन्म देता रहे, और जन्मे हुए विचारों को व्यवस्था देता रहे तो स्थूल विश्व के स्थूल स्तरों की संरचना से उसका कोई भेद नहीं रह जाता। वह दिन प्रतिदिन अपनी स्थूलता के कारण संवेदनशून्य एवम् अमानवीय हो

जाएगा। चेतना के स्तरों को उद्‌धाटित करने की बजाए स्वयं एक मोटी मिट्टी की तह बन जाएगा जहां से चेतना का अंकुर ऊंर्ध्वगति न होकर कुण्ठित ही रह जाएगा। अतः भाषा और विचार में कोई मौलिक अन्तर न रहने से दोनों ही सत्य की अभिव्यक्ति के वाहक नहीं बन पाएंगें। कुछ वैज्ञानिक प्रयोगों से तो यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि भाषा तो हमारे स्थूल अन्तर्जगत् का भी केवल सौ में से सात प्रतिशत ही अभिव्यक्त कर पाती है।

भाषा और विचार की इस स्थूलता के कारण उत्पन्न इस उभयतोपाश का उल्लेख उपनिषत्–साहित्य में खूब है। जहां एक ओर तो यह कहा गया है कि वह परमसत्य मन से भी नहीं जाना जा सकता और वाणी से भी नहीं। दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि वह मन से ही जाना जाता है एवम् वाणी में प्रस्फुटित भी होता है। किन्तु इसके लिए मन और वाणी दोनों को दीक्षित होना पड़ता है, संस्कृत होना पड़ता है। अथवा अधिकाधिक संवेदनशील होकर सत्य के अवतरण की भूमिका बनना पड़ता है । गौणता में जाना पड़ता है। तब दोनों ही सत्य में आत्मसात् होकर सत्य का ही अवतार बन जाते हैं। सत्य ही हो जाते हैं। इस प्रकार वाणी मन और सत्य का अभेदीकरण सत्य की अभिव्यक्ति बन जाता है। और यह अभेदीकरण की प्रक्रिया मन और वाणी दोनों के रूपान्तरण का पुरस्कार हो सकती है।

ऋग्वेद से जुड़ी सभी उपनिषदों के पाठ के समय आर्य लोग जो शान्तिपाठ करते थे उसमें उनकी एक ही इच्छा प्रतिफलित होती नजर आती है– ''मेरी वाणी मन में स्थित हो। मन वाणी में स्थित हो। हे प्रकाश ! मेरे सम्मुख, आविर्भूत हो जा। मैंने जो सुना है वह मुझे छोड़ न जाए। अपने किए हुए अध्ययन के अनुसार मेरा दिन रात का जीवन व्यतीत हो। ज्ञान के प्रति मेरी आस्था दृढ़ हो। मैं ऋत का प्रवचन करूं। सत्य का प्रवचन करूं। वह ऋत और सत्य मेरी रक्षा करें। प्रत्येक सत्यवक्ता की रक्षा करें।"

इन सारे वाक्यखण्डों का यदि निष्कृष्टार्थ निकालें तो यही लगता है कि प्रत्येक वक्ता मन और वाणी को एकान्वित करके सत्य के सामने अनिमेष होकर बैठना चाहता है। सत्य के अवतरण की प्रतीक्षा में रत होकर बैठना चाहता है। सत्य के अवतरण की प्रतीक्षा में रत होकर जीना चाहता है। और वह सत्य, जो प्रत्यक् है, सीधा है, स्पष्ट है, अकलुष है, शतप्रतिशत सामने भी स्थित है इसीलिए अग्राह्य है, अव्यवहार्य है, अलक्षण है, अचिन्त्य है, अव्यपदेश्य है क्योंकि उसे साधक की दृष्टि के रूपान्तरण की बराबर प्रतीक्षा है । उस सत्य को ही किसी किसी ने आत्मा कहा है। किसी ने ब्रह्म, किसी ने प्रकृति तो किसी ने पुरूष आदि आदि कह दिया। और यह आत्म–सत्य या ब्रह्म–सत्य न तो किसी बलहीन व्यक्ति में, न किसी धर्माचार्य के अन्तस् में, न किसी दर्शन के पण्डित की बुद्धि में अवतरित होता है। यह उसी के

भीतर या बाहर अवतरित होता है जो इसके लिए मौत का भी वरण कर सकता है। याज्ञवल्क्य ने घरबार छोड़ दिया। जनक घर में ही बेघर हो कर रहे। उपनिषदों के नचिकेता ने इसके लिए मौत को भी चुना। सत्यकाम ने इसे सभी स्तरों पर जीना चाहा। अतः वह जो अग्राह्य था, वह उसके सामने ग्राह्य हो गया, जो अलक्षण था वह लक्ष्य हो गया, जो अव्यवहार्य था व्यवहार्य हो गया, अचिन्त्य चिन्तन में आ गया। जो निर्गुण था सगुण हो गया जो सगुण था वह निर्गुण हो गया । असंख्य शताब्दियां बीत जाने के बाद वह कबीर के सामने आया तो उसने कहा कि वह सत्य निकलते निकलते ऐसे फूट पड़ा जैसे खोदते खोदते अन्तस् की धरती में से निर्मल जल का स्रोत फूट पड़ा हो ''सोचत सोचत निकसियो नीरू सो जल निर्मल कथत कबीरू।'' तुलसी को लगा कि अगुण सगुण में कोई भेद नहीं रहा। दोनों ही जागतिक दुखों का हरण कर लेते हैं।

वास्तविकता जब सामने आने लगती है तब जिज्ञासु ज्ञानी बनने लगता है और दृष्टि में एक ऐसा भूकम्प उठता है कि क्षण भर में धरती–अंतरिक्ष–द्युलोक के तीन खण्ड़ों में विभाजित दीख पड़ने वाली जिज्ञासु की वास्तविकता एक झटके में ही मटियामेट होकर एक पिण्ड बन जाता है। मन, वाणी और कर्म के भी वल निकल जाते हैं, सभी कुछ सरल हो जाता है। क्योंकि यह स्थिति समन्वय की है जिसमें एक वृत्त में फंसी हुई चेतना छिटक कर बाहर निकलती है और टूटे वृत्त का जो कुछ कचरा लग रहा था उसे वह महाक्षुधा में निगल जाती है। यही चेतना के प्रतिग्रहण की स्थिति है। योगी इसे कुण्डली का अपने वलय को खोल कर सीधे खड़े होने के साक्षात्कार की बात कंरते हैं जो अपने आसपास के समस्त देह, मन प्राण के स्तरों के मलों को लील जाती है और सब कुछ स्वर्णमय, आनन्दमय, पुण्यमय हो उठता है।

सत्य और समन्वय शब्दों की मूल भावना पर जब विचार करता हूँ तो मुझे कुछ अन्तर नहीं लगता। संस्कृतज्ञों के समन्वय शब्द के प्रयोग को, जो काफी बाद का प्रचलित शब्द रहा होगा, किन्तु जिसकी मूल भावना संस्कृत–भाषा के जन्म से ही विद्यमान रही है, वह भी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में समझने की ही वस्तु नहीं, जीने की भी चीज है। जिन विचारधाराओं में केवल समझने पर बल रहा है वे विचारधाराएं अपूर्णांग ही रही हैं।

सत्य, समन्वय और कुण्डली तीनों ही शब्दों की अपनी विलक्षण पृष्ठभूमि है। सत्य शब्द का तीनों में से सर्वाधिक प्राचीन प्रयोग है । सत्य, जिसका सम्बन्ध विद्यमानता, सत्ता एवम् अस्तित्व से रहा है उसी में सृष्टि के समस्त प्रतिवादों का समाहार हो जाता है । जो लोग यह समझते हैं कि भारतीय मानस् में प्रतिवाद या द्वन्द्वात्मता नाम की चीज़ ही नहीं अतः उसमें संघर्ष की स्थिति नहीं बन पाती, वे इस तथ्य को पता नहीं कितनी गहराई तक उतर कर कहते हैं। प्रतिवाद की स्थिति

वस्तुतः भारतीय दृष्टि में बीच की सी है अन्तिम नहीं। पर संघर्ष तो बीच की स्थिति में होता नहीं। सत्य की खोज में रत लोगों ने प्रतिवाद एवम् संघर्ष के रूपों को वासना एवम् संस्कारों के स्तर पर जाकर पकड़ा है। उस प्रतिवाद से जूझते हुए बुद्ध, लोगों में नहीं, पहले अपनी चेतना के सम्मुख खड़े होकर अन्तिम घोषणा करते हैं "कि इसी आसन पर चाहे मेरा शरीर पड़े पड़े सूख जाए, चमड़ी और हड्डियां गल जाएं किन्तु बोधि को प्राप्त किए बगैर अब मेरा यहां से उठना असम्भव है। प्रतिवाद का शायद केवल द्वन्द्वात्मक, भौतिक रूप ही नहीं है। वह तो केवल दिखाई देता है। उसकी जड़ें तो भूतों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरों पर रही हैं। इसलिए शैवों, शाक्तों और वैष्णवों ने प्रतिवाद के भौतिक रूप को मधुकैटभ, महिषासुर एवम् भस्मासुर के रूप में देख रखा है। क्योंकि ये सभी अपनी क्रिया एवम् नामों से इसी स्थिति में आते हैं तथा मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रतिवाद के नाम भण्डासुर, रक्तबीज, शुंभ–निशुंभ एवम् रावण हैं। संघर्ष दोनों स्तर पर है। किन्तु विरोध के लिए विरोध प्रकृति का धर्म नहीं वह विकासात्मक है। अतः अन्तिम तत्त्व विरोध या कोरी प्रगति नहीं हो सकती समाहार या सम्बन्ध ही हो सकता है।

समन्वय का सीधा अर्थ इस सन्दर्भ में अवश्य देखना चाहिए। क्योंकि काव्यों में इसका स्वरूप नितान्त स्पष्ट हो जाता है। समन्वय या अन्वय का अर्थ बन जाता है "सरल हो जाना" अथवा कुण्डली का खुल जाना। प्रत्येक मन्त्र या पद्य में अर्थ एक कुण्डली मार कर बैठा रहता है। पदों एवम् शब्दों का यथास्थान विन्यास जब पाठक को दिखाई देने लगता है तो अर्थ की कुण्डली खुल उठती है। पर यह कुण्डली वस्तुअर्थ की अपेक्षा पदार्थ से प्रभाव ग्रहण करने वाली जिज्ञासु की मनश्चेतना में ही प्रायः रहती है। अपनी वैयक्तिकता के कारण व्यक्ति को अपनी उलझी हुई अस्मिता पदार्थ में दृष्टिगत होती है। अस्मिता की उलझन ही कुण्डलीकृत चेतना है जो अपने में आप ही बन्दी है। इस उलझन का खुलना ही सत्य की अभिव्यक्ति है।

सत्य की अभिव्यक्ति का माध्यम प्राचीन लोगों की दृष्टि में तप रहा है। आधुनिक दृष्टि में वह झेलना है। मध्यकाल में शायद तितिक्षा इसी का एक विशिष्ट रूप रहा है। मुझे इन तीनों शब्दों में कोई अन्तर नहीं लगता। है भी नहीं। केवल देश और काल का भेद अवश्य है। मूलभावना वैसी की वैसी ही है। वस्तुजगत्, जो शुद्ध एवम् निर्मल है, बुद्धि के द्वारा उसमें प्रक्षेपित देश और काल शब्दों और अर्थो में भेदीकरण या खण्डता को उत्पन्न कर रहा है। देश और काल के व्यवधान में आबद्ध दृष्टि ही अखण्ड पदार्थ के खण्ड खण्ड कर रही है। पर जिस दिन संहारक्रम शुरू होता है उस दिन उस दृष्टि को जैसे ही समझ में आता है कि पदार्थ अखण्ड है तो उसी दिन वह स्वयम् खण्ड खण्ड हो जाती है। उन खण्डों में से होकर बहती हुई अविराम चेतना स्फूर्त हो उठती है। किन्तु इसकी पृष्ठभूमि तप ही है।

तप शब्द भी अन्य विभिन्न सांस्कृतिक शब्दों की तरह विकृति का शिकार

हुआ है। सारी पृष्ठभूमि को खोजने पर उसका अर्थ इतना मार्मिक हो उठता है कि तप न तो केवल शारीरिक यातना है न मानस यातना है। बल्कि सतत जागरूकता के साथ शारीरिक और मानसिक यातनाओं के बीच में से गुज़रना है। इसमें से पहले सृष्टिक्रिया से पूर्व उसको गुज़रना पड़ा जो अनाम था। उसने ईक्षण या निरीक्षण किया। उस समय निरीक्षण के लिए उसके पास सिवाय अपनेपन के और था ही क्या? इसी तप को ऋषियों ने जब किया तब उन्होनें दावा किया कि हमने उसे धरती पर उतार लिया है। किन्तु तब इस प्रक्रिया को 'वेद' या जानना कहा जाता था। पर जब उन्हें ऋचाएं गाने पर भी वह स्पष्ट न हो सका तो उन्होंने कहा ''यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। य इत्तद्विदुस्त इमे समासते'' अर्थात् जिसने उसे नहीं जाना वह मन्त्र पढ़ कर भी क्या कर लेगा। और जिसने उसे जान लिया उसने सभी अनेकताओं को एक में समेट लिया। पश्चात्कालीन संस्कृत के कवि ऋषियों की इस सूझ को पहचानते थे। उन्हें अपनी कविपरम्परा का बहुत गहरा अहसास था। तभी तो भवभूति ने अपने उत्तररामचरित नाटक के मंगलवाक्य में कहा होगा कि ''इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यः नमोवाकं प्रशास्महे। विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।'' अर्थात् हम अपने उन पूर्वकवियों को नमोवाक्य पहले कहते हैं। क्योंकि उन्हीं की कृपा से शायद हमें सत्य की स्फोरक अमृतावाक्, जिसमें वह परमसत् लसलसा उठता है, हमें भी प्राप्त हो जाए।

पर अन्त में ऐसा लगता है जैसे सत्य और अभिव्यक्ति दो शब्दों का प्रयोग शायद गल्त हो गया है। शायद एक ही शब्द काफ़ी था, या फिर एक भी नहीं। पर शब्द और अर्थ का खेल कहो या माया, चुप रहने नहीं देती। न कह देने से भी वह बोलता है, हां कहने से भी। वह, जिसे लोग कभी कभी महामौन कहते हैं वह मुझे कभी कभी महामुखर लगता है। तत्त्वद्रष्टा ऋषियों में उसकी स्वतःसिद्ध मुखरता को देखते ही भवभूति ने यह कह कर सांस ली कि लौकिक वाणी में और ऋषिवाक् में केवल इतना ही अन्तर है कि लौकिक जगत् में वाणी सत्य के विरह में व्याकुल हुई सत्य को ढूंढती फिरती है, जबकि ऋषिवाक् में मुखर हो उठने के लिए सत्य उसे ढूंढता फिरता है। संगीत, काव्य, नाट्य, नृत्य, चित्र समस्त विज्ञान इसी मुखर अभिव्यक्तिरूपिणी महादेवी की मुखर अंश–कलाएं कहीं शिव की, कहीं शक्ति की, कहीं विष्णु की, और कहीं श्री की सतत अभिव्यक्ति में संलग्न है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" कह कर जब काव्य को परिभाषित किया गया तो निश्चय ही बात बहुत गहरी रही होगी। शब्द और अर्थ के सहित होने की या साथ साथ रहने की बात ही आचार्यों को अभिप्रेत थी। शब्द और अर्थ का विरह तो सर्वत्र ही चल रहा है। हम जो बोलते हैं वह करते नहीं, जो करते हैं उसे समझते नहीं, अतः कह भी नहीं पाते। अतः न तो शब्द ही अर्थायित हो पाता है न अर्थ ही शब्दायित हो पाता है। वाणी और अर्थ की संपृक्ति की बात करते समय

कालिदास को, और पानी और लहर के समान (गिरा अर्थ जलवीचि सम) एकीभूत वाणी और अर्थ की अभिन्नता की बात करते समय तुलसीदास को, यह नितान्त स्पष्ट था कि उमारूप शब्दशक्ति को अर्थरूप शिव की, और रामरूप अर्थ को सीता रूप शब्दशक्ति की खोज ही विरह के काव्य कुमारसम्भव या रामायण की रचना करती हुई, संहितता यानि पूर्ण यथार्थ संयोग या आत्मैक्य की ओर ले जाकर काव्यरचना कराती है। संहितता या सहचारधर्मिता के बिना रचना सम्भव ही नहीं। जो लोग केवल पदग्रन्थन को ही काव्य मानते हैं वे लोग ऐसे ही डूब जाते है जैसे कोई नौसिखिए छोकरे तैरने की क्रिया को केवल हाथ पैर हिलाना समझकर गहरे पानी में उतर जाएं। अतः काव्य यदि रचनाधर्मिता है तो वह शब्द और अर्थ की संपृक्ति के बिना कैसे होगी? और संपृक्ति की दशा में सत्य या सामञ्जस्य रचना में उतर ही आएगा। फिर सहित पद का अर्थ हितसहित या हितसाधन करने वाला भी साहित्य हो जाएगा। क्योंकि सत्य के बिना हित या निश्रेयस् का लाभ और कोई करा ही नहीं सकता।

प्रतिदिन के जीवन में जब मेरे शब्द मेरी क्रिया में उतरने लगते हैं तो एक तृप्ति और आत्मसन्तोष का अहसास हो उठता है। मानो मेरी अभिव्यक्ति क्रिया में कृतार्थ, चरितार्थ या फलितार्थ हो उठी। जब शब्द शब्द ही रह जाता है तो अपूर्णता की ग्लानि मनोदैहिक रोगों को जन्म देने लगती है। इसीसे प्राचीन मनु जैसे आचारशास्त्रियों ने कम बोलने की सलाह दी है। क्योंकि जितना भी बोला जाए उतना क्रियान्वित या चरितार्थ अवश्य होना चाहिए। न होगा तो शब्दशक्तियां वैधव्य रोग के कारण रोग, शोक, संत्रास ही पैदा करेंगी। जो हो भी रहा है। ऋग्वेद के उपनिषदों के शान्तिपाठ में प्रमुख प्रार्थना ही यह है कि "मेरी वाणी मन में और मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। और फिर प्रकाशात्मक ब्रह्म या सत्य अवश्य आविर्भूत होना चाहिए। ज्ञान के प्रति मेरी आस्था हो जाएगी तो मेरा श्रवण पठन मुझे छोड नहीं पाएगा। उसी के आधार पर मेरे दिन रात बीतेंगें। तब मेरी वाणी और समस्त क्रियाओं में ऋत और सत्य उतर आएंगे। सत्य की इस अभिव्यक्ति तक की क्रिया या यत्नशीलता को प्राचीन लोग तप कहते थे। इस तप से ही सन्त ज्ञानेश्वर को ऐसा अनुभव होने लगा कि अर्धनारीश्वर शिव में उन्हें पता ही नहीं चल रहा कि किस का आधा भाग किस से जुड़ा है। मानो द्वैत के छल से दोनों अपनी अद्वैतता को ही प्रकाशित करने में जुटे हैं –

सार्धं केन च कस्यार्धं शिवयोः समरूपिणो :
ज्ञातुं न शक्यते लग्नमिति द्वैतछलान्मुहु :
अद्वैतमात्मनस्तत्त्वं दर्शयन्तौ मिथस्तराम्
तौ वन्दे जगतामाद्यौ तयोस्तत्त्वाभिपत्तये।।

(अमृतानुभव–1)

सूत्र–दृष्टि

आज मुझे यह सोचना अच्छा लगता है कि संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त सूत्र, सुत्त या सूत शब्द शास्त्रदृष्टि और लोकदृष्टि में कितना महत्त्वपूर्ण रहा होगा। सूत कातने के पीछे भी कोई गुरूदर्शन रहा होगा, इस बात का संकेत महात्मा गांधी ने हमारे युग में लोकमात्र और लोकनेताओं को दिया था। नित्य कातने को गांधी जीवनचर्या का अभिन्न अंग क्यों मानते थे जबकि जुलाहे अपने घरों में तथा हैण्डलूम (खड्डियों) में यह काम व्यावसायिक दृष्टि से किया ही करते थे। दूसरे, अपने हाथ से बुना कपड़ा पहनने की बात या आदर्श भी कई दृष्टियों से बेहूदा सा लगता है। अर्थशास्त्रीय दृष्टि से भी इसका फल कोई बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं आंका जा सकता है। किन्तु फिर भी गांधी के अनुयायियों ने नित्यसंध्या–उपासना के रूप में सूत के लिए चरखा चलाया है। क्या यह सूत्रदर्शन का पुनरूज्जीवन था?

वस्तुतः कोई भी नेता जब पुस्तकीय दर्शन से परे हटकर लोकनीति को समझने लगता है तो उसे पता लग जाता है कि लोक के लिए औपचारिक शिक्षणसंस्थाएं या पाठशालाएं अधिक अर्थ नहीं रखतीं। उनके लिए तो कर्म और परिवेश ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। अपना कर्तव्य कर्म करते रहना तथा परिवेश के प्रति सचेत रहना, यही सूत्रदृष्टि या ग्रामदृष्टि है। शिक्षणसंस्था में जाने का प्रयोजन तो केवल दूरस्थ बन्धुओं तक कुछ वैसे ही औपचारिक या भावात्मक भाषा को लिपि के माध्यम से भेजना मात्र होता था। या फिर, कुछ इसलिए भी, कि जो लोग हमारे पास अब नहीं रहे या हैं, उनका सोचना कैसा था, यह जानें। अपनी शिक्षा के लिए तो अपना कर्म और अपनी प्रकृति, खेत, खलिहान, पेड़, पौधे, लताएं, गुल्म, पशु, पक्षी, वन, पर्वत, नदियां, सागर, अग्नि, वायु, बादल, बिजली, आकाश, नक्षत्रमण्डल बहुत हैं। इन सबकी उपस्थिति में ही जिन लोगों ने सीखा उन्होंने कहा कि ऋचाएं पढ़ना हमने अग्नि से, कर्मयोग का निदर्शक यज्ञ करना वायु से, आदित्य से सामगान सीखा। अन्यथा ऐतरेय ब्राह्मण में कहे "ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्" का क्या अर्थ हो सकता है?

अपने इस परिवेश को साक्षी मानकर कर्म करना उपासना बन जाती है। उपासना के दो ही अंग है। एक किसी साक्षी को मानना, दूसरा कर्मरत होना। बिना साक्षी का कर्म जड़ या यान्त्रिक हो जाएगा। किसी को साक्षी बना देने से कर्म में रस और प्रेम का उदय हो जाएगा। यह प्रेमोदय ही शिक्षा का फल है। लोगों को जब मन्दिर मस्जिद का ईश्वर दिखाई नहीं दिया था, तो उन्होंने सीधे अपने जीवन के

प्रत्येक कर्म में अग्नि, जल, वायु, भूमि को अपना साक्षी मानकर उन्हें अपने पूरे जीवन में, मानस चेतना में, पूरी तरह उतार लिया। इस तरह अपने कर्म और परिवेशचेतना को समन्वित या सूत्रित कर के उपासना के माध्यम से एक ऐसा संस्कृति–सूत्र निकाला जिसने सारे भारतीय मानस को एकनिष्ठ कर दिया। एक ऐसा स्वच्छ दर्शन जन्मा जो जीवन से अभिन्न था। वहां न तो ये प्रार्थनाएं थीं कि "हम मूर्ख हैं, खल हैं, कामी हैं।" न ही किसी तथाकथित ईश्वर के हाथ में शासन का डण्डा सौंपा गया। क्योंकि जहां आत्मानुशासन हो वहां सृष्टि के किसी बाहरी ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती। यदि सारा राष्ट्र आत्मानुशासित होता, तो हम समुद्र पार के लोगों के ज्ञात या अज्ञात रूप में ईश्वर को मानने को बाध्य भी न होते। क्योंकि प्रकृति में एक आत्मअनुशासन है अतः वहां कोई ईश्वर नहीं। या फिर सभी ईश्वर हैं। ईश्वर को एक ऐसी सर्वमान्य उपाधि के रूप में देखा गया जिसको जिस किसी देवता या तत्त्व के साथ, उस देवता की कर्म में प्रधानता को देखकर लगा दिया गया।

शिक्षा में कर्म की प्रधानता के कारण यज्ञभाव या लोकभाव के विज्ञाता लोगों ने कहा कि "कर्म, प्रेरणा या गति ही भूत, भविष्यत्, वर्तमान की अतिसूक्ष्म परतों में छिपे दूरस्थ तत्त्वों का भी ज्ञान करा देते हैं।" यद्यपि यह बात एक बहुत बड़े मीमांसाशास्त्र के आचार्य ने कही है। किन्तु बात वही है जो आम आदमी के जीवन से जुड़ी हुई है। ठीक भी है। क्योंकि शास्त्र का काम लोकसिद्ध तथ्यों या अनुभवों के विपरीत जाना नहीं होता अपितु उन्हीं को शासित या व्यवस्थित करके कहना होता है। यानि जो बात हम पशु या आम जीवन में बुनियादी तौर पर देखते हैं, कि पहले देखो फिर करो" वही बात हमें सिद्धान्तशास्त्रों में मिलती है। योगशास्त्र में कहा गया है कि "स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्" अर्थात् स्वाध्याय करने के बाद योग यानि क्रियात्मकता में आकर देखो, क्रियात्मकता से स्वाध्याय में चलते चले रहने से परमात्मा या अलौकिक तत्त्व सामने प्रकाशित हो उठेगा। अलौकिक तत्त्व तो चेतना में है। वह चेतना जहां भी जाग उठे, चाहे वह फिर पत्थर हो, पेड़–पौधा हो, पशु हो या मनुष्य हो, वहां अलौकिक तत्त्व उतर आएगा। उसका कोई नियम तो हो सकता है पर बन्धन या विवशता नहीं।

सत्यकाम गुरू के पास शिक्षा लेने गया तो गुरू ने उसे प्रथम दृष्टि में ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी मान लिया। पर कहा कि जाओ, हमारे आश्रम से 10 गौएं सेवा के लिए ले जाओ। जब उनकी संख्या 100 हो जाए, हमारे पास लौट आना। हम तुम्हें ब्रह्मतत्त्व समझा देगें। किन्तु हुआ यह कि गोसेवा का पूर्ण दायित्व लेकर जब सत्यकाम अपने कर्तव्य में जुट गया तो उसे गौओं के व्यवहार को देखते देखते सम्पूर्ण प्रक्रिया समझ आ गयी। वह चेतना एक वृषभ आदि के रूप में उतर कर

सत्यकाम को अपना रहस्य बता गई। गुरू के पास लौटते वक्त सत्यकाम ब्रह्मज्ञानी हो चुका था।

तो बात इतनी ही है कि तत्त्वप्राप्ति के स्रोत पुस्तकीय ज्ञान में नहीं, किसी तिकड़मी गुरू के पास भी नहीं। वे हैं देखने और करने में। देखनेऔर करने में अनुशासन क्योंकि प्रेम से ही आता है, अतः सीखने के लिए हम उसे यदि अपना साक्षी बना लें, जिसे हम प्रेम करते हों, तो ज्ञान उतर आएगा। धर्म का मेघ अवश्य बरसेगा। तन्त्रशास्त्र में शिव ने शक्ति को समझाते हुए एक बात कह दी है कि मात्र पुस्तक–ज्ञान के बल पर सिद्धि चाहने वालों को कुछ नहीं मिलेगा –

पुस्तके लिखिता विद्या येन सुन्दरि जप्यते।
सिद्धिर्न जायते तस्य कल्पकोटिशतैरपि।। *कुलार्णवतन्त्र 15–21*

इस प्रकार कर्म और दृष्टि, तीसरा प्रेम या निष्ठा, ये तीन घाटियां है जिनमें से लोकज्ञान के स्रोत उमगते हैं। शास्त्रपरम्परा, गुरू, संस्थाएं, संप्रदाय उसके व्याख्याता हैं या अनुशास्ता। इसीलिए संस्कृत वैयाकरणों से जब किसी शब्द की रचना के बारे में पूछा जाता कि यह अपवाद कैसे बना तो उसका उत्तर होता "लोकं पृच्छ" लोगों से पूछो। अतः शास्त्र लोक की समर्थना करता है। लोकविरोधी भी नहीं होता, लोकातीत भी नहीं।

जब मैं पाठशाला में पढ़ता था तो शुरू में ही संस्कृत की सूत्रशैली से पाला पड़ गया। जो कोई मिलता सूत्र के बारे में बात करता, उसका अर्थ पूछता। पर बहुधा अर्थ के मामले में खिसियानी बिल्ली ही बनना पड़ता था। सूत्र कण्ठस्थ तो इसी लिए हो जाते थे कि उनका ध्वनि–वैचित्र्य मेरे बाल–मन को बड़ा अच्छा लगता था। किन्तु जहां अर्थ समझने और सूत्रक्रम परखने की बात रहती वहां सब चौपट रह जाता। पर फिर भी पणिनि के सूत्र एक बार स्मृति में उतर गए तो फिर बाहर निकलने का नाम नहीं लेते। उनमें ध्वनिसंयोजन और अर्थवत्ता का ऐसा सामंजस्य है कि वे सूत्रशैली का आदर्श बन गए। बाद में सूत्र का लक्षण संभवतः उसी को देखकर बना। सूत्र को अल्पाक्षर (थोड़े अक्षरों वाला) पर असन्दिग्ध यानि स्पष्टार्थ, और अर्थ की दृष्टि से ठोस या सारपूर्ण, विश्वतोमुख यानि बहु–आयामी, जिसमें अधिकाधिक संभावनाएं हों, अर्थ–शून्य ध्वनियों से रहित हो तथा जिसमें कुछ भी त्याज्य अंश न हो, ऐसा ही होना चाहिए। सीधे कहें, तो बात इतनी ही है कि जिसमें या जहां भी सामग्री का कम से कम प्रयोग कर अधिक से अधिक दृढ़ता का उत्पादन या प्रतिपादन किया जाए, तथा जो आधारभूत वास्तविकता हो वह सूत्र पद का वाच्य अर्थ है।

पण्डितों ने एक ओर तो सूत्र या धागे की सादगी को देखकर यह कहा कि

"पुष्पमालानुषंगेण सूत्रं शिरसि धार्यते" अर्थात् फूलमाला के संग से धागा भी सिर पर चढ़ जाता है, किन्तु उसके दूसरे पक्ष को उजागर करते हुए यह भी कहा है कि "मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः" अर्थात् वज्रसूची या सूई से बिंधे मणिमुक्ता में मेरी गति धागे की सी है"। अर्थ यह हुआ कि समन्वय करना ही सूत्र शब्द की सारी पृष्ठभूमि को खोलना है। वेदान्तवादियों ने भी अपने दर्शन में आत्मा के ऐसे ही रूप को देखकर उसका नाम सूत्रात्मा रख दिया। क्योंकि वह समस्त प्राणियों के सूक्ष्म या लिंगशरीरों में सूत्र के समान ही अनुस्यूत रहता है। वह ब्रह्मसूत्र ही है। किन्तु इस सूत्र को खींचकर निकालना, फिर उसे कातना पर्याप्त कलात्मक रूचि का काम है। कालिदास ने अपने नाटक विक्रमोर्वशीयम् में पुरूरवा का हृदय स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी के द्वारा खींच लिए जाने पर एक उपमा प्रस्तुत करते हुए कहा है "सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी" अर्थात् आगे से खण्डित मृणाल में से जैसे राजहंसी बिससूत्र खींच कर निकालती है कुछ वैसे ही देवस्त्री उर्वशी मेरे मन को खींच रही है। सूत कातते समय स्त्रियां जिस मनोयोग या जिस तल्लीनता से चरखा चलाती थीं उसमें एक काव्य रचा रहता था। ग्राम में यह काव्य जिस कन्या या स्त्री का जितना सूक्ष्म एवम् स्वच्छ होता उसे सभी स्त्रियां बड़े सम्मान से देखती। प्रायः किशोर कन्याओं का यह काव्य अधिक मनोयोग और लयपूर्ण होने से कमनीय होता। यौवन मध्यस्थाओं का या वृद्धाओं का सूत्र तो सामान्यतः अभ्यास की अतिशयता के कारण ही सुन्दर होता। इस सूत्र को निकालते समय जिनका सूत्र बारबार टूटता उन्हें फूहड़ समझा जाता। क्योंकि सूत्र का बार–बार टूटना मनोयोग का टूटना सिद्ध कर देता है जिसे गांधी जैसे व्यक्ति भी मानसिक हिंसा ही मानते थे। इस सूत्रयोग से अनुप्रेरित लोगों ने जो महत्त्वपूर्ण प्रयोग किए, उनका हम यहां केवल हल्का सा विवरण दे सकते हैं। क्योंकि सूत्रयोग भारतीय मानस की सुदीर्घ परम्परा का इतिहास है। सारे महत्त्वपूर्ण विचार धर्मसूत्रों, श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों, कल्पसूत्रों कामसूत्रों, अलंकारसूत्रों ब्रह्मसूत्रों के माध्यम से व्यवस्थित करके रखे गए। इसी का स्थूल प्रतीक यज्ञसूत्र या जनेऊ लोगों ने मृत्युपर्यन्त धारण करने का व्रत लिया। क्योंकि यह यज्ञसूत्र सूत्रयोग में दीक्षित व्यक्तियों का समस्त मानवीय विद्याओं एवम् सद्गुणों की संग्राहक वृत्ति का प्रतीक था।

यद्यपि सूत्र शब्द का सामान्य अर्थ धागा, तन्तु, सूत, फार्मूला आदि किया जाता है, तो भी उसकी रचनाप्रक्रिया इस बात को स्पष्ट करती है कि पहले वह अपने बिखरे हुए रेशों को समेट कर बनता है फिर दूसरों को लपेटता है। यानि सूत्र व्यवस्था एवम् नियामिका शक्तियों का सुघड़ रूप है। इसीलिए नाटकों का सूत्रधार भी नाटक के कथासूत्र को अपनी मुठ्ठी में बंद किये रहता है। मर्यादा का प्रतीक यह सूत्र किसी वस्तु के रहस्य या मर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यह रहस्य या मर्म एक सिरे का बोधक बन जाता है। आम प्रयोग में लोग कह देते हैं कि "भाई सूत्र

पकड़ो बात समझ आ जाएगी।"

हम सूत्र को तीन प्रकारों में रखकर देखें तो वे तीन प्रकार यूं बनेंगें कार्पाससूत्र, वाक्सूत्र, विचारसूत्र। यानि कपास, वाणी और मन–बुद्धि, इन तीनों की सूत्र उत्पन्न करने की शक्ति समान है। क्योंकि तीनो में विस्तार की अद्‌भुत शक्ति है। सारी सृष्टि का आवरण बनने की क्षमता को देखते हुए उपनिषद् में कहा गया है कि यह सारा जगत् वाणी रूपी तन्ती की नाम या शब्दरूप 'दाम' मानी धागों से बुना गया है। भारतीय चिन्तकों ने वाक्सूत्रों को अपने मूलसूत्र ओंकार में से निकलते देखा तो ओम् से बढ़िया और व्यापक सूत्र उन्हें कोई नहीं मिला। फलतः ओम् के व्याख्यान के लिए उपनिषद् की रचना हो गई। इस सूत्र के माध्यम से भारतीय दार्शनिकों ने सम्पूर्ण विश्व के ज्ञान को मथ डाला है। हमें नहीं पता कि आज भौतिकी–विज्ञान के लोग "बिग वैङ्" थ्योरी को कितना महत्त्व देते हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि "'ओम्' इस मूलसूत्र ने सामान्यतः सारी विश्वचेतना को, विशेषतः भारतीय चेतना को एकसूत्रित कर रखा है। क्योंकि संपूर्ण सृष्टिसूत्र का इसे मातृसूत्र नाभिसूत्र या आदिसूत्र माना गया है।

वाक्सूत्रों के आधार पर ही विचारसूत्र चलते हैं। क्योंकि वाक् और मन का अन्तर माना नहीं जाना चाहिए। मन शब्दव्यापार या भाषा के आधार पर ही संकल्पसूत्रों की सृष्टि कर सकता है, अतः विचारों की सुचारूरूप में व्यवस्था करने के लिए, ज्ञान–प्राप्ति के साधन के रूप में, वाक्सूत्रों में विचारसूत्र समाए रहते हैं।

शैव तान्त्रिकों ने संपूर्ण सृष्टि को एक होते हुए भी दो भागों में बांट कर देखा है। नामरूप या नादरूप सृष्टि जिसे हम वाक्सृष्टि कह चुके हैं। दूसरी है अर्थसृष्टि, जो सारे संसार के पदार्थरूप में फैली है। अर्थरूप या वस्तुसृष्टि के प्रतीक कपास के सूत का वाणी के सूत्रों से एकदम सामञ्जस्य बैठता है। दोनों ही ज्ञान के साधन हैं। भौतिक सृष्टि को मापने का साधन भौतिक सूत्र या धागा ही रहेगा। वाक् को मापने का साधन वाक्सूत्र ही होगा। अतः आर्ष प्रतिभा के लोगों ने देहरक्षा और ज्ञानरक्षा के माध्यम सूत्रों को आविष्कृत कर उनमें समंजसता को देखा है। विष्णुपुराण में नग्न पुरूष को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि नग्न वह है जो वेदवाक् या ज्ञानशून्य है। वहां वाक् को और ज्ञान को विद्वान् व्यक्ति का वस्त्र माना गया है।

इन वाक्सूत्रों का जन्म प्रकृति में ही सन्निहित है। पहले मानवीय आवेगों या भावों की उच्छलत्ता जब तीव्र हो उठती है तो गाली गलौच में, हर तरह के आवेश में कुछ संक्षिप्त सी ध्वनियां प्रत्येक व्यक्ति में उठती हैं। पर अधिकांशतः वे फिसल जाती है। सूत्र बनते बनते टूट जाते हैं। पर जब भावों और आवेगों में कुछ स्थिरता और विचार आने लगते हैं तो लोकसूत्रों की सृष्टि होती है जिन्हें हम आम भाषा के

मुहावरे या लोकोक्तियां कहते हैं। संक्षिप्तता में पैनापन, भाषा एवम् विचार की समंजसता वाक्सूत्रों की विशिष्टता होती है जो मुहावरों एवम् लोकोक्तियों में रहती है। लेकिन जीवन की समस्याओं के प्रति अधिक गहरी दृष्टि न होने के कारण इन लोकसूत्रों की परिधि अधिक नहीं बढ़ पाती। लेकिन शास्त्रकारों ने इस लोककला का उपयोग अपने दर्शन को सुव्यवस्थितरूप में स्थापित करने के लिए खूब किया। गौतम, कणाद, कपिल, पतंजलि, जैमिनि, व्यास, पाणिनि, बुद्ध, जैन, चार्वाक, वात्स्यायन सभी ने सूत्रदृष्टि या समन्वयदृष्टि को लेकर ही शास्त्र और लोक को उपकृत किया। क्योंकि दर्शन में भी उन्हें अपने लिए दृष्टि की तलाश थी। और फिर दृष्टि ही सूत कातने में और सूत्र लिखने में सम्बन्धसूत्र खोज सकती है। कोरा बौद्धिक बोझ बोध का स्थान नहीं ले सकता।

शब्द के पार

कवि अपनी रचना में जिन अर्थरूप बिम्बों, प्रतीकों या संकेतों का प्रयोग शब्द के माध्यम से करता है वे शष्दमूर्तियां बन जाती हैं। उसके काव्य का अच्छे से अच्छा सुधी पाठक भी उसके द्वारा सर्जित इन मूर्तियों या मानस बिम्बों की मोहिनी माया में बालक की तरह उलझ कर रह जाता है। उन्हीं के दोष की परख काव्यशास्त्र में करता रहता है। पाठक की कविकर्म के प्रति आस्था कवि द्वारा रचित बिम्बों की विन्यासयोजना की उपासना में बदल जाती है। फलतः वह एक उपासक के नाते मूर्त शब्दोपासना या अर्थोपासना के सुख का अधिकारी तो बन जाता है किन्तु उससे आगे बढ़कर स्वयम् कविचेतना का साक्षात्कार नहीं कर पाता। न ही काव्य के रसस्रोतों को उद्‌घाटित कर पाता है। उसकी दृष्टि में सशक्त भाषा का सामर्थ्य शब्द के माध्यम से अर्थबिम्बों की रचना एवम् चमत्कार तक ही सीमित रह जाता है। कारण प्रत्यक्ष ही है कि पाठक या आलोचक शब्दबल से अर्थबल की ओर बढ़ता हुआ कविचेतना के प्रति आरोहणक्रम से चलता है। फलतः एक सीमा तक जाकर थकान भी आ जाती है, और चेतना भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर बढ़ती जाती है। फलतः चेतना की परिधि में जाकर काव्यबिम्बों को टूट जाना चाहिए या विसर्जित हो जाना चाहिए। किन्तु पाठक अपने हाथ में आई उस सम्पत्ति को अतिसूक्ष्म या अतिरहस्य, अवाच्य तत्त्व के नाम पर छोड़ नहीं सकता तो आगे चले कैसे? अतः "शब्द शब्द सब कोई कहै शब्द न बूझे कोय" वाली बात सही उतर आती है। तब कुण्ठित शब्दबिम्बों से कुण्ठित कविचेतना को लेकर ही पाठक लौट आता है। अर्थ तो उसकी पकड़ में आ गया है। चेतना नहीं। अर्थ तो कुछ दिनों बाद बासी पड़ जाता है। फलतः शब्द भी बासी लगने लगता है। उस दशा में बस एक चस्का ही है जो मात्र सुख सा देता रहता है कुछ उत्तेजित करता रहता है।

कवि का रचनाक्रम अवरोहण या उतरने का क्रम है। उसे वह कठिनाई नहीं। क्योंकि वह शब्द–चेतना की मौन सक्रियता से उतरता हुआ जहां जहां भी शब्द के पांव रखता है वहां वहां बिम्बसृष्टि होती जाती है। अतः वह बिम्बविधान में स्वतंत्र रहने के कारण मूर्तविधान या बिम्बविधान में उलझता नहीं। कविप्रतिभा के इसी स्वातन्त्र्य को देखते हुए उसे स्रष्टा कहा गया है। जो अपने सृष्टिक्रम में स्वतन्त्र है। कोई विवशता या आवेग उससे रचना नहीं करा पाते अपितु स्वातन्त्र्य ही रचना में मुखरित होता है। क्योंकि वह अपने पुण्यबल से या कृपा के बल से ऐसे चेतना के धरातल में पहुंचा है जहां मूर्त शब्द बिम्बसृजन नहीं करते अपितु नादप्रेरक सौम्य ऊर्जा के रूप में आन्दोलित होने की स्थिति में रहते हैं। यही आनन्दात्मिका अन्तर्दशा है। इसी दशा में कवि 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' स्वतंत्र है। वह मूर्तियों की रचना अमूर्त–प्रेरणा से करता है। इसी से उसका अर्थ भी मूर्तियों या बिम्बों की रचना का दास नहीं। वह स्वतंत्र प्रेरणा का स्वामी है। उसकी वाणी का प्रवाह या गति ही बिम्बों

या अर्थरचनाओं में बदलती जाती है।

सहृदय आलोचक या व्याख्याता की स्थिति भिन्न है। उसका सीखना समझना या रसबोध का मूल भाषागत शब्दमूर्तियों या बिम्बविधानों से प्रेरित होता है। फलतः वह उन्हीं से जो छोटी मोटी या हल्की सी गहरी अनुभूतियां लेता रहता है उन्हीं को काव्यचेतना का चरम उत्कर्ष या उपलब्धि मान बैठता है। वह एक ऐसे उपासक की तरह रहता है जिसकी चेतना का मुख अभ्यास के बल से थोड़ा सा ऊपर की ओर कुछ देर के लिए उठता है किन्तु शब्दाभ्यास पर निर्भरता के कारण अग्रसर नहीं हो पाता। इस तरह उसकी चेतना कवि द्वारा स्वतंत्रता से रचित शब्दमूर्तियों या बिम्बालंकृतियों के ऊपर भरोसा लेकर अन्ततः जड भी हो सकती है। और क्षीण होकर खोखलेपन का अहसास भी दे सकती है। कवि और आलोचक के रचनाकर्म में इस स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य को देखकर स्वतंत्र जगत्स्रष्टा ईश्वर और परतंत्र द्रष्टा जीव की गति को "परबस जीब स्वबस भगवन्ता" वाली स्थिति कहा जा सकता है।

अब यही प्रश्न उठकर सामने आता है कि साहित्य के मर्मज्ञों का काव्यबिम्बों के प्रति अत्यधिक मोह या आग्रह अथवा अर्थों के चुंधिया देने वाले आभासों के प्रस्फोट ही उनकी काव्योपासना की चरम उपलब्धि हो या कविप्रतिभा का साक्षात्कार? कविप्रतिभा से साक्षात्कार हो जाने पर आपकी काव्यचेतना का रूपान्तरण हो सकता है जब कि काव्यार्थ के बिम्बविधान पर ही आत्मसन्तुष्ट हो जाने वाले लोगों की काव्यचेतना कुण्ठित हो सकती है। संभवतः इसी कारण संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने चित्रकाव्य, वस्तुकाव्य या अलंकारकाव्य को दूसरे दर्जे के काव्य कहा है। रसकाव्य या ध्वनिकाव्य की श्रेष्ठता इसीलिए प्रतिपादित है क्योंकि वे प्रतिभा से साक्षात्कार करवाने में सहायक हैं। यद्यपि यह बात किसी काव्यशास्त्र ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लिखी या कही नहीं किन्तु किसी भी बात की श्रेष्ठताप्रतिपादन के पीछे कोई बात रहती है। केवल काव्यास्वाद या रसास्वादन काव्याध्ययन का मेरी दृष्टि में निकृष्ट प्रयोजन है जो भोक्तृभाव तक ही सीमित रह जाता है। द्रष्टाभाव भी उसमें गौण रहता है। तब प्रतिभा के साक्षात्कार के बिना अपनी स्थायिभावरूप ग्रन्थियों का सही विगलन नहीं होगा। विगलन नहीं होगा, अन्तःस्राव नहीं होगा तो चेतना में संसृष्ट ताप का अंश भी निवृत्त नहीं होगा। अतः रसपरिपाक की दशा में भी द्रष्टा का अन्तःस्राव तो रससंवित् के प्रकाशांश पर ही निर्भर है जिसे प्रतिभा ही कहेंगे। अतः आनन्दविभोर या आत्मविभोर ये दो भिन्न दशाएं नहीं, न ही इन दशाओं का अनुमान सात्विक चेष्टाओं से ही सही हो सकता है। क्योंकि यह अनुमेय नहीं है। वह तो चित्त या चेतना की चरितार्थता की दशा है। स्व में स्थित होने की दशा है।

निरन्तर काव्यपदों का आस्फालन करते करते यदि आपकी चेतना अग्रसर होती जाती है तो आप की काव्यगत अर्थों, वस्तुविम्बों, भावों या वृत्तियों के अन्दर से प्रवाहित होती प्रातिभ चिति साफ साफ स्फुरित होने लगती है। इसे काव्यसमाधि की

दशा कहा जा सकता है जिसमें मूर्तियों या बिम्बों के होते हुए भी दृष्टि उन्हें नहीं देखती। क्योंकि वह तो काव्यसंवित् के संस्पर्श में आकर उसी की लीला देखने में व्यस्त है। बिम्ब एवम् प्रतीक पीछे छूट जाते हैं। इस क्षेत्र में चेतना अपनी अन्तःप्रेरणाओं से भरपूर है। अन्तर्मुख सक्रियता ही अन्तर्वर्ती चेतना से मिलकर आनन्दित है। इस साक्षात्कार में तीव्र चमत्कार यदि स्थायीरूप से स्थायिभावों के आवरण को फोड़ डालें तो काव्यरस प्रतिक्षण प्रवाही रहकर आपमें भी कविचेतना को उद्बुद्ध कर सकता है।

ज़मीन–आसमान में कुलावे मिलाने वाली कल्पना–शक्ति, कहने के ढंग, दर्देदिल या दर्देजिगर पैदा करने के लिए चाटमसाले की तरह प्रयोग में आने वाली कृत्रिम विभाव अनुभाव व्यभिचारिभाव की संयोजना के अभ्यास एवम् लोक से सीखी व्युत्पन्नता को मात्र देखते रहने से कविकर्म की चरितार्थता पकड़ में नहीं आ सकती। कवि–प्रतिभा ही उसका वह चरम रूप है जिसमें सहृदय या संस्कारी पाठक को अपनी संवित् में कविसंवित्, कविसंवित् में आत्मसंवित् के एकीभाव का प्रत्यक्ष होता है। जब जब भी यह चरम साक्षात्कार किसी व्यक्तिविशिष्ट में घटित हुआ तो वहां सत्यदृष्टि या योग की ऋतदृष्टि का उन्मेष हो गया। कवि का शब्द पाठक का वह मन्त्र बन गया जिसने उसकी चेतना के अवरोधों को तोड़ कर नए नए छन्द का सृजन कर दिया। अतः बहुत से पुराने पाठक कविता को, शब्द को, आनन्द लेने के लिए या शौकिया तौर पर नहीं बल्कि आत्मसाधन या आत्मसंस्कार के लिए अनिवार्य मानते हैं।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य में, शास्त्र में, शब्द की शक्तियों के वर्गीकरण को ठीक से समझा जाए तो शब्द की अभिधाशक्ति एवम् लक्षणाशक्ति शब्द के इस पार के दो स्तरों का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। वे बिम्बविधान और अर्थविधान तक ही सीमित हैं। यह स्तर शब्द का दृष्ट स्तर है। जब कि अदृष्ट स्तरों की ओर बढ़ती हुई शब्द की पराशक्ति अदृष्ट को दृष्ट बनाते रहने की सतत अन्तर्मुखी सक्रियता को मुखरता से, मौन में, और मौन से मुखरता में लाने की सामर्थ्य रखती है। मौन में प्रतिभा का साक्षात्कार है तो मुखरता में साक्षात्कार की अभिव्यक्ति। ये ही उस महाशक्ति की दो महामुद्रायें है जिनका विवरण तन्त्र--शास्त्र "ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति" कह कर देता है। एक लेने की मुद्रा तो दूसरी देने की। इस महामाया शब्दशक्ति के इस पार यदि व्याकरण, काव्य, कोश और कला का जगत् खड़ा है तो उस पार मन्त्रशास्त्र की महामौन गुरुदृष्टि। उसके इस महिमामय दिव्य वपु को देखते ही भवभूति जैसा हृदय पहले से ही कविहृदयों में विद्यमान आत्मा की अमृता कला इस वाक् के आगे हाथ जोड़ कर खड़ा हो जाता है जो आत्मसाक्षात्कार देने वाली प्रतिभा से अभिन्न है :–

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यः नमोवाकं प्रशास्महे,
विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।। (उत्तररामचरित 1–1)

भाव–दृष्टि

अंगुलीयकशून्या मेऽङ्गुलिः

संस्कृत नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल के अभिनय की रिहर्सल चल रही थी। बहुत बड़ी कठिनाई यह थी कि संस्कृत के श्रेष्ठतम नाटकों में से माना जाने वाला यह नाटक बावजूद अपनी समस्त खूबसूरतियों के उसी बीमारी का शिकार निकला जिसमें कठिन दृश्यविधान, श्लोकों एवं वर्णनों की भर्ती वगैरह। खैर काफी कांट–छांट के बाद अब समस्या थी छात्रअभिनेताओं के यत्किंचित् सफलतापूर्व अभिनय करने की। लेकिन मुश्किल यह थी कि नाटक के संवादों का सामान्य पाठ–मात्र करते ही हमारी आंखों में कालिदास की रूआंसी सूरत घूरने लगती। हरियाणवी, पंजाबी एवं हिमाचली उच्चारण या एक्सेण्ट में संस्कृत के गंभीर रसत्वोद्रेक करने वाले प्रसंगों में भी हास्य महकने लगता। लेकिन फिर भी विद्यार्थियों में एक उत्साह था। उच्चारण ठीक करते कराते जब कुछ दिन बीत गये तो अब बारी आई नाटकीय एक्शन पर जोर देने की।'' मैने लोगों के समझने की समस्या उठाते हुए कहा छात्रो! यदि तुम्हारे बोलने के साथ नाटकीयता रही तो निश्चित रूप में हम दर्शकों को बांध लेंगे। लेकिन काम बड़ी मेहनत का है। एक एक एक्शन पर जान मारनी होगी।'' हुआ भी ऐसा ही। छात्रों ने मेहनत की। हमारी आंखों में रोशनी आई। लेकिन जब पात्रों के चेहरे भावशून्य या बंधे हुए से प्रतीत होने लगे तो फिर कोफ्त होने लगी। दिन बहुत कम थे। उस दिन मैंने शकुन्तला को पकड़ा और उसे पांचवे अंक के प्रकरण में आये शकुन्तला के लघुसंवाद को ''कि हाय मेरी अंगुली में से अंगूठी गिर गई", अभिनीत करने को कहा। बड़ी ही करूण अवस्था थी। राजा मान नहीं रहा था। कण्व ऋषि के चेले और बुढ़िया सभी राजा को समझा चुके थे कि शकुन्तला तुम्हारी ही पत्नी है। शकुन्तला का हृदय राजा के पूर्वप्रेम को एवं वर्तमान प्रवंचना का ध्यान करके चूर–चूर हुआ जा रहा था। निराशा की इस कठोर दशा में उसे राजा के द्वारा दी हुई प्रेम–भेंट का ख्याल हो आया। और वह एक आशा के साथ अपने और राजा के बीच में हुए प्रेमव्यापार को प्रमाणित करने के लिए कहती है कि तुम्हारे नाम की अंगूठी जो तुमने दी थी मैं अभी दिखाती हूं। राजा राज़ी हो गया। लेकिन अफ़सोस, अंगूठी कहीं

गिर गई थी।

उस दिन इसी बात पर रस्साकशी हो रही थी। शकुन्तला का अभिनय जम नहीं रहा था। ''अंगुलीयकशून्या मेऽङ्गुलिः'' अर्थात्'' हाय मेरी अंगूठी अंगुली में नहीं है'' बात बड़े ज़ोर की थी। लेकिन मंच पर बिना भावजागरण के कही हुई बात क्या अर्थ रखती है। कई बार इस बात को एक भावसहित कहलवाने की हिम्मत की। लेकिन सब बेकार। बड़ी ही आत्मीयता के साथ अभिनेत्री को बताने पर भी बात जम नहीं रही थी। वह स्वयं भी जानती थी कि बात कुछ कहने लायक बन नहीं रही। इसीलिए उसके एक्शन पर हमारी निरन्तर अस्वीकृति उसे कोई दुख नहीं पहुंचा रही थी। हां, एक खिसियानापन ज़रूर उसके चेहरे पर झलक आता था कि ''नहीं सर, मेरे से यही हो नहीं पायेगा। आप एक बार फिर करके दिखाएं। "मैं अनुकृति का प्रयत्न करूंगी।" खैर उस दिन काफी देर हो गई थी। दूसरे अभिनेता भी बोर हो चुके थे। मैं ज़िद किए बैठा था ''कि नहीं, नहीं थोड़ी देर और रूको।''

आखिर एक क्षण आया। जब उस के चेहरे पर, आंखों में, वह भाव आया। हम चमक उठे। लगा कि वह एक बहुत ही गहन क्षण है। जब उसकी अतल चेतना के गहन स्तर में से वह एक विशिष्ट भाव सांगोपांग अपना मूर्तिमान् रूप लेकर हमारे सामने आ उपस्थित हुआ और एक सम्मोहन की सी स्थिति में से निकलने के बाद अहसास हुआ, कि भारतीय कलाकार, कवि, एवम् गायक सभी अपनी अपनी चेतना के सम्मुख प्रायः लिखने गाने उरेहने में नतमस्तक होकर यूं ही बैठे रहते हैं। प्रायः वह उनकी प्रतीक्षा की स्थिति होती है। अगर देखा जाए तो सारा अभ्यास प्रतीक्षा–मात्र ही है। कला नहीं। कला के मानी तो क्षण है। एक दीप्त क्षण एक विशिष्ट कालखण्ड़ है जो अपने में पूर्ण है। तो कला का जागरण तो एक विशिष्ट कालखण्ड़ में ही होता है। वह हमारी चेतना के अनावरण की स्थिति है। जिसे देख लेने के बाद हम सचेत रूप से अपने अस्तित्व को जीने लगते हैं। अतः पुरानी भारतीय भाषाओं में कहें तो वह हमारे जीवन के सतत सुकृत संचय का एवम् अनवरत प्रतीक्षा में से हो रही जीवन–साधना एवं उपासना का मधुरतम फल हैं। वह आर्ट नहीं, अभिव्यक्ति नहीं। वह तो अभिव्यक्तिसमन्वित चेतना का आत्मदर्शन है। इसी से प्राचीन कला–विदों की दृष्टि में बहुआयामी मानवी चेतना के किसी एक अंश का पूर्ण अनावरण ही कलाकार की चरम साधना है। कला के अर्थ भी तो यहां अंश ही हैं। लेकिन ऐसा अंश जो अपनी सीमाओं में सर्वथा पूर्ण है। इसी अंशसाधना को आधार बनाकर जब हम अंशी अर्थात् पूर्ण को, परात्पर को देखने लगते हैं तो वहीं से एक योगायोग दर्शन जन्मता है जो बुद्धिवादी नहीं, हृदयवादी नहीं एक सम्पिण्डित साक्षात्कार है। वस्तुतः बुद्धि अथवा हृदय अथवा देह, यह सभी अपने आप में कालज कलाखण्ड हैं। लेकिन एक एक खण्ड भरत–खण्ड की तरह अपने आप में सम्पूर्ण, बेहद खूबसूरत। किन्तु यह खण्डसाधना जब अखण्डसाधना की ओर अग्रसर होने लगती

है तो महाकवियों के जन्म होते हैं। कला अपने खण्डरूप में भोगयोग्य है। हमारा सारा भोग ही खण्ड खण्ड है। लेकिन अखण्ड को हम भोग नहीं सकते। वहां तो हम जी सकते हैं एक समर्पण के साथ। अतः कलाकार कलाखण्डों के साक्षात्कार से आगे बढ़ता हुआ ज्यों ज्यों अखण्डता की ओर अग्रसर होने लगता है उसका सारा अस्तित्वबोध समर्पित होने लगता है। वह सृष्टि के महान् स्तरों की ओर बढ़ने लगता है। उसका वह दर्शन जहां तहां वसन्त के मन्थर वायु से दिन रात वनफूलों की तरह झरने लगता है। निष्कर्ष के तौर पर एक बात जो साफ हो रही है वह यह कि कला का भोग तो संभव है लेकिन जब भोग उच्च उच्चतर भोगों की ओर प्रेरणा देता हुआ कला की सापेक्ष पूर्णता में से हमें निरपेक्ष पूर्णत्व, जहां बुद्धिगत विकल्पों का मौन है, उसकी ओर ले जाता है तो हमारा प्रत्येक भोग सार्थक हो जाता है। एक कलाखण्ड की उपासना से ही हमें सकल अर्थात् सम्पूर्ण का साक्षात्कार हो जाता है। ऐसी कला जो अपने आपकी पूर्णता के अहम् में ही डूब जाती है, अपनी पूर्णता को आगे समर्पित नहीं करती, उसे आचार्यों ने आत्मदम्भिनी विश्रान्ता, थकी हुई या अवरूद्ध कला कहा है। कला तो वही है जो हमें आनन्द अथवा जीवन के छोटे छोटे दायरों से निकाल कर बृहत्तर दायरों की ओर अग्रसर करती चले। इस ओर शैवों की दृष्टि कितनी सटीक है–

सम्भोगे यस्य विश्रान्तिः सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला।

भारतीय हास्य–दर्शन

प्रस्तुत शीर्षक में भारतीय शब्द उसी स्थिति में अनावश्यक हो सकता है जबकि एक ही प्रकार की हास्यपरक घटना से सभी प्रान्तों या देशों के लोगों में हंसी की लहर दौड़ जाए। क्योंकि हास्य को पैदा करने के लिये विभिन्न सभ्यताओं में विभिन्न प्रकार के आलम्बन चुने गए हैं, विभिन्न प्रकार के संस्कारों की आवश्यकता रहती है। अलग किस्म की उत्तेजक स्थितियों की आवश्यकता रहती है। अतः हास्य के मूल में भी अन्य भावों के समान प्रादेशिकता एवम् कालीनता के महत्त्व को स्वीकार करना ही पड़ता है। हास्य के सार्वभौम होने का पता तो हमें स्पष्ट चलता है, क्योंकि सभी जगह पर मनुष्य लोग हंसते हैं। और शायद मनुष्य ही हंसते हैं। समता के सुख की या विषमता के सुख की हास्य के रूप में अभिव्यक्ति केवल मानवसमाज की ही सम्पत्ति है। पौधों या पशुओं में सुखानुभूति रोमांच अथवा विकास के रूप में उपलब्ध होती है। फूलों का खिलना या मंजरियों का विकास कुछ कुछ हास के पास आता है। किन्तु हास में जो एक प्रकार की गति रहती है वह गोरी गंगा के उतरने की या पहाड़ी घाटियों में उसके कलकल के साथ तुलनीय हो सकती है या कैलास की फैलती शुभ्र हिमानियों की पारदर्शी विमलता में कालिदास को दिखाई दे सकती है। तभी उसने मेघदूत के कैलास के सर्वोच्च हिमशिखरों के वर्णन में "राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः" कह कर कैलास के सर्वोच्च शिखर पर त्र्यम्बक भगवान् के ठहाकों का प्रतिदिन का बढ़ता हुआ बर्फ का ढ़ेर कैलास को मान लिया। त्र्यम्बक का यह हास विशुद्ध आनन्द की साकार अभिव्यक्ति है। इसके पीछे न तो कोई स्थिति की विद्रूपता है न संसार के लोगों पर व्यंग्य। क्योंकि पूर्ण योगी का हास जगत् की विद्रूपता या विकलांगता देखने पर तो फौरन करूणा में परिणत हो जाता है। हां, अधूरे योगी, जो 'आत्माहं' की स्थिति को भोग रहे हैं तथा अपने को जगत् से भिन्न मान कर उस की अपूर्णता पर हंसते हैं उनके उस हास को दम्भ–हास्य कहा जा सकता है। पर जब कवि लोग हास्य का प्रकृति में कोई प्रतिबिम्ब देखते हैं, अथवा बाण जैसे कवि जब एक अतिस्वच्छ झरने के प्रवाह की हिमहास (हार) हरहास–धवल कह कर तुलना कर रहा हो तो निश्चय ही उसका मानस अपनी मानस निर्मलता को प्रकृति में, और प्रकृति की निर्मलता को अपने हृदय में देख रहा होता है। वह हास चित्त के विकास की अकलुष भूमिका पर उतरता है। देह में जब समस्त धातु सम–स्थिति में हों, वात, पित्त और कफ, त्रिदोष शम की स्थिति में हों, चित्त में समस्वरता का उदय हो, तब स्वस्थता के कारण जो गुदगुदी उठती है वह बढ़ कर खिलखिलाहट में परिणत हो जाती है। मुझे स्मरण है कि किशोर और युवावस्था में सर्दी के मौसम में सोने से पूर्व ठण्डी रजाई में घुसने पर ठण्डक से अंगों में फुरहरी

जो उठती थी तो कुछ क्षण गुदंगुदी और खिल–खिलाहट में अथवा जोर से हंसते हुए अंगों को समेटते हुए हंसी की लहरों में खो जाता था। कारण समझ नहीं आता था।

हास्य को मैं एक ऐसी सुखानुभूति मानता हूं जिसमें मन और देह एक साथ हुए बिना रहते नहीं। भारतीय आचार्यों ने हास को सुखवर्ग के स्थायी भावों में जितना महत्त्व दिया उतना इसका वर्णन लक्ष्य ग्रन्थों में नहीं है। वे यह तो मानते थे कि हास एक सहजात वृत्ति है जिसमें कारण खोजना बहुधा कठिन होता है। क्योंकि बच्चों में भी विशेषतः दो वर्ष पूर्व की आयुवालों में जागते में, सोते में, विनोद में, यह हास अपने शुद्ध रूप में उतरता रहता है। वह हंसे बिना रह नहीं सकता। कारण चाहे जो भी हो। किन्तु यह हास तब तक एक सहजात वृत्तिमात्र ही रहेगा जब तक उसको सामाजिकता का पुट देकर पुष्ट न कर लिया जाए। तब तक वह स्थायीभाव नहीं बनेगा। स्थायित्व जो उसका सहजात अंश है उसीको भाव की दशा में लाकर प्रत्येक सामाजिक उसे पुष्ट किए रहता है। सभी स्थायिभावों का अस्तित्व सामाजिक जीवन, सभ्यता और संस्कृति के परिवेश में उठा करता है। दर्शन की भाषा में चित्तवृत्तियों को सांसिद्धिक या नैसर्गिक कहा जा सकता है। इन वृत्तियों को पहले विशिष्टता प्रदान करके, बाद में उन्हें सामाजिक परिवेश के अन्तर्गत साधारणीकृत करके प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक चेतना में स्थापित किया जाता है। जब तक कोई जाति या समाज जीवित रहेगा तब तक उसमें परिपुष्ट स्थायिभाव भी जीवित रहेंगे। रति, शोक, हास, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा या विस्मय आदि भावों का रूप चाहे बदलता रहे किन्तु समाज के स्तर पर भाव अवश्य जीवित रहेगा। समाज जीवित रहेगा तो भाव नहीं मरेगा। यह सामाजिकता ही स्थायिभावों को नियमित करती है। पशु जीवित रहेगा तो काम, क्षुधा, आत्मरक्षा आदि के आवेग भी जीवित रहेंगे। प्रत्येक समाज इन आवेगों को स्थायिभाव बनाता रहेगा और कलाओं के माध्यम से समय आने पर उनसे भावोद्‌बोधन भी बनता रहेगा।

हास जब वृत्ति के स्तर पर होता है तो आलम्बन या उद्‌दीपन के उदय होते ही किसी भी सही या गलत स्थिति में फूट पड़ेगा। मुझे याद है कि एक बार किसी मित्र के यहां लोग किसी अप्रिय घटना पर बैठे शोक मना रहे थे। इतने में एक उनका सम्बन्धी कुछ ऐसी मुद्रा में दुख प्रकट करने लगा कि उस अनुचित स्थिति में भी हम मित्रों में न चाहते हुए भी पूरी हंसी फूटने को हुई तो मैंने हाथ से मुंह दबा कर स्वयं को रोकना चाहा। आवेग था कुछ न कुछ प्रकट हो ही गया। किन्तु हास यदि स्थायी भाव है तो वह बदतमीजी के साथ प्रकट नहीं होगा। औचित्य या अनौचित्य के बोध का पुट उसमें मिला रहेगा। इस सन्दर्भ में ए.एम. शैण्ड का यह कथन भी संगत बैठ जाएगा कि स्थायी भाव कोई एक भाव नहीं वह कई भावों का तन्त्र या सिस्टम होता है। वस्तुतः स्थायी भाव में वृत्ति की नग्नता का गोपन आवश्यक है। यह गोपन मात्रा

से अधिक होगा तो भाव वृत्ति–सहित नष्ट हो जाएगा। अतः वृत्ति की सामाजिक दशा को स्थायी भाव कहा जा सकता है जिसमें मूल वृत्ति पर बुद्धि के सामाजिक पक्ष का स्वयं ही आरोपण होते होते कुछ मनोग्रन्थियों का विकास हो जाता है। किन्तु वृत्ति का जो समाजीकरण किया गया वह प्रक्रिया की पूर्ण परिणति नहीं। क्योंकि सामाजिकता की प्रक्रिया भी वृत्ति को एक बृहत्तर दायरे में ले जाकर छोड़ देती है। सहज वृत्ति का स्फोट होजाना अभी उसमें शेष है। अतः समाजीकरण की प्रक्रिया के बाद की प्रक्रिया को शास्त्रों में साधारणीकरण कहा गया है। साधारणीकरण का अर्थ सत्ता या चेतना के साथ द्रष्टा का सीधा सम्पर्क या साक्षात्कार लिया जा सकता है। काव्यशास्त्र का अधूरा ज्ञान रखने वाले लोग समाजीकरण और साधारणीकरण में यह भेद नहीं कर पाते। दोनों को एक ही बात समझ बैठते हैं। फलतः इस दशा की बात उनके लिए एक अनिर्वचनीय रहस्य बना रहता है। जबकि रहस्य को प्रत्यक्ष में बदलने का संकल्प निरपवाद रूप से सम्पूर्ण भारतीय मनीषा ने अपने ऊपर लिया है। इसी से जैन,बौद्ध चार्वाक तथा अन्य आस्तिक दर्शन अनावृत दृष्टि की खोज में रहे हैं और उसे पाते भी रहे हैं।

साधारणीकरण की दिशा में जो वृत्ति किसी अदृष्ट कारणवश अस्तित्व में आई उसका सामाजिकता में विकास हुआ। समाजबोध या भावबोध की स्थिति में वह व्यापक से व्यापकतर दशा में आ गई । किन्तु यहां भी सामाजिकता, जो देश–काल की सीमा की उपज है, वह उसे पुष्ट करके भी पूर्णतः खुलने नहीं देती। साधारणीकरण में वह सत्ता बन कर देश काल की सीमाओं को लांघकर खिल उठती है। सत्ता कहीं भी, कभी भी आबद्ध नहीं रहती। अतः भाव या स्थायीभाव उसके संस्पर्शमात्र से द्रवित होने लगता है। स्थायीभाव का यह द्रवण बहुआयामी है। यह किसी भाव में तरल गन्ध जैसा, किसी में रसमाधुर्य जैसा, कहीं विकसित कुसुम जैसा, तो कहीं इन सभी आयामों का चित्र–विचित्र सामञ्जस्य जैसा, लहरियों के रूप में हिलोर लेने लगता है। इसी दशा में दिव्यता इस देह में ही परम लीला को आस्वादयोग्य बना देती है।

हमने शुरू में कहा था कि हास नामक स्थायी भाव में स्थायी भाव का द्रवण कुसुमविकास जैसा है। यह हास अन्तस् की परिपूर्णता या आनन्द का मन या इन्द्रियों से ग्रहण होने वाला रूप है। या इसे आनन्द की लहरी कहा जा सकता है जो संयोगश्रृंगार में, केलि–सुख में, वात्सल्यविनोद में, उत्साह एवम् विस्मय की दशा में एक विद्युत्–तरंग सी बराबर दौड़ती रहती है और बीच में जब कौंध उठती है तो अपने चारों ओर आनन्द या सुख बिखेर जाती है।

हास की पृष्ठभूमि का जो काम करती है वह ज्ञात या अज्ञात स्तर पर एक छोटी सी पूर्णता एवम् स्वरक्षा की ओर से निश्चिन्तता या तृप्ति होती है। किन्तु

तृप्ति या पूर्णता से केवल हास मनोभाव ही उदय होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। तृप्ति तो महाभावरूपा पूर्ण सुखात्मिका दशा है जिसकी एक लहरी का नाम हास है। शास्त्रकारों ने हास के जिस रूप का वर्णन किया है उसमें कहा गया है कि विभाव की चिद्रूपता या आलम्बन का विकृत आकार, भोंडी हरकतें, वेषविकृति एवम् असंगत वाणी के प्रयोग से अथवा विद्रूप परिस्थितियों से इस का जन्म होता है। इसके देवता भगवान् शिव के प्रमथगण हैं। हास का वर्ण श्वेत है। हासास्पद व्यक्ति की चेष्टाएं हास के उद्दीपक हैं। अर्थात् हास की हंसनेवाले के दैहिक स्तर पर होने वाली प्रतिक्रियाएं अनुभाव हैं–आंखों का हंसी में भिंच जाना, एवम् मुख का विकास, आंखों में पानी आना आदि।

मसखरे या विदूषक प्रकृति के लोग जब किसी सुखदशा को अभिनीत करके मंच पर प्रस्तुत करतें हैं तो वे सामाजिकता या भावों पर हावी बौद्धिकता के नकाब को उतार फैंकते हैं। उनकी क्रियाएं समाज में स्वीकृत व्यवहार या क्रियाओं से भिन्न प्राकृत स्तर पर होने लगती हैं। लेकिन नाटक में उन क्रियाओं का मंचन यां आयोजन भी योजनानुसारी होता है। अतः हास में बौद्धिक योजनानुसार भाव पर से बुद्धि के प्रभाव को दूर कर उसमें संवित् का चमत्कार ले आना नाटकीय योजना का मुख्य लक्ष्य है। अर्थात् यूं भी कहा जा सकता है कि ग्राम्यता की भी सभ्यता के स्तर पर ऐसी योजना, जिसे देखकर लोग अपनी मूल प्रकृति में आत्मसाक्षात्कार कर सकें। और दोनों की विषमता को स्वयं में सम रहकर या स्व–स्थिति की दशा में देखा जाए। शिवलीला में इसी तरह का आयोजन किया गया है। शिव दूल्हा के रूप में स्वरूपस्थित या लक्ष्यस्थित हैं। किन्तु उनकी बारात में शिवगण जिस प्रकार की चेष्टाएं करते हैं कुछ वैसा ही हमारे युग में भांड या मरासी जाति के लोग करते हैं। लेकिन इन हंसानेवाली चेष्टाओं की योजना के पीछे मरासी का मन स्वाभाविकता को जितने यथार्थ रूप से अभिनीत करता है वह योजना ही हास्यरस की सृष्टि करती है। संभवतः भारतीय इतिहास–परम्परा में मरासी जाति का सम्बन्ध शिव के प्रमथ आदि गणों और विदूषकों की परम्परा से निकल आए।

मुझे लगता है कि सब लोगों में रहने वाली हास नाम की मन की वृत्ति मूलतः कुतूहल वृत्ति ही है। बन्दर,लोमड़ी, गिलहरी आदि जीवों की चेष्टाओं को देखकर बच्चों में पहले कुतूहल की सृष्टि, फिर गुदगुदी, फिर हास की सृष्टि हो जाती है। जिन लोगों में रोज़मर्रा जीवन की पुनरावृत्ति से कुतूहलवृत्ति मन्द पड़ती जाती है उनके हास की योजना करने के लिए नई नई स्थितियों का, नये नये शब्दव्यापारों या क्रियाओं का आयोजन करना पड़ता है। उनके आधार पर सामाजिक के मन में होने वाली प्रतिक्रिया को मात्रा के आधार पर शास्त्रकारों ने छः भागों में बांटा है–

उत्तम प्रकृति के लोग 'स्मित', मध्यम प्रकृति वाले 'विहसित' और 'अवहसित'

तथा अधम प्रकृति वाले अपहसित एवम् हसित, अतिहसित नाम के हंसी के रूपों को प्रस्तुत करते हैं। स्मित में आंखों का और ओंठों का विकास, हसित में दांतों की झलक, विहसित में हंसी में मीठा स्वर, अवहसित हंसी में कन्धे और सिर का कम्पन, अपहसित में आंखों से पानी चलना, अतिहसित में नियन्त्रण न रहने से हाथ पैर पटकने तक की नौबत आ जाती है। किन्तु ये सब सभ्यता के दबाव से किए गए वर्गीकरण हैं।

किन्तु व्यंग्य, आक्षेप, कटाक्ष आदि के द्वारा उत्पन्न हास ऊपरी डाक्टरी चिकित्सा की तरह सामयिक उपचार तो करता है किन्तु स्वस्थता, या आनन्द की सृष्टि नहीं कर सकता। क्योंकि कुछ प्रयोजन का बोझ, कटुता या आवेश, अपने को औरों से बेहतर या घटिया समझने की ग्रन्थि आदि मनोविकृतियां उसके मूल में रहती हैं। अतः संकुचित हास मादक औषधि की तरह कुछ हरकत पैदा करके भी लोगों को अधिक नहीं दे पाता। औद्योगिक सभ्यता में मानव मन की बढ़ती हुई ग्रन्थियों के कारण शुद्धहास का मिलना तो कठिन हो गया परन्तु विकृतरूप में व्यंग्य, उपहास, आक्षेप या कटाक्ष आदि के माध्यम से प्राप्त हास मूलभावना के गौण हो जाने से मनःशुद्धि अर्थात् मन का मैल नहीं धो सकता। क्योंकि भावभूमि के भेद हो जाने से आधुनिक काव्यनाटकों में जब व्यंग्य की तीखी चोट से हास्य का आयोजन किया जाता है तो यह फूहड़ ढंग से सुधारवादी सा हो जाने से कृत्रिम हास ही रहता है। अतः सभ्यता के इस खतरे से समाज में हास मनोभाव की रक्षा का दायित्व उच्चवर्ग के साहित्यकार तो लेते नहीं रहे। मरासी और विदूषकों के कुल भी पैण्ट–कोटवाली सभ्यता की जकड़ में फंस चुके हैं । अतः किन्हीं फक्कड़ अलमस्त शिव जैसे कलाकारों को ही समाज को स्वस्थ रखने के लिए शुद्धहास और आनन्द की सर्जना का दायित्व लेना होगा।

शान्तोऽपि नवमो रसः

वास्तव में भारतीय साहित्य–परम्परा में रस और भाव की बात बहुत जोरों से हुई है । रस को यदि जीवन में होने वाली आस्वादात्मक अनुभूति की चमत्कृति माना गया एवं उसे नाना प्रकार के अभिनयों एवम् अभिव्यक्ति के प्रकारों से जुड़े हुए माना गया तो भावों को उन अनुभूतियों और सम्बन्धों को भावित करने वाला माना गया है। क्योंकि भाव पहले से चित्तवृत्ति में स्थायी वासना के रूप में विद्यमान हैं, अतः अभिव्यक्ति की ओर आते समय उसका व्यक्ति के अस्तित्व के साथ पूर्ण तादात्म्य या तन्मयीभाव रहता है । राग या रंग जब किसी पौधे को पूरी तरह से व्याप्त करके उसमें प्रतिष्ठित होता है तो यह एक प्रकार का आवेष्टन है या आवेश की अवस्था है जिसमें राग और रागी का तन्मयीभाव है । इस तन्मयीभाव में ही रागी को अपने रागबोध का आस्वाद ज़रा उदात्त स्तर पर होने लग जाए तो रसानुभूति सिद्ध होनें लगती है ।[1] विषय या उसकी स्मृति के सम्पर्क से उद्भूत वासनाएँ प्राणिमात्र को ही प्रायः ऐसे वासित कर लेती हैं कि उसका चैतन्य पूरी तरह आच्छादित हो जाता है और वह जो कुछ भी करता या सोचता है सो वह वासनाधीन होकर ही सोचता है । प्रज्ञाहीन होकर करता है । इन्द्रियों के अस्थिर होते ही मन उनके पीछे चल पड़ता है और इससे उसकी प्रज्ञा का हरण हो जाता है[2] और उसका अपने चित् से सम्बन्ध अवरूद्ध हो जाता है । वासना में से ही प्रज्ञा का फिर से उदय और चित् से उसके सम्बन्ध के अवरोध को खोल देना ही साहित्य एवं साहित्यकार की चरम उपलब्धि है और व्यक्ति का अपनी वासनाओं में से होकर उभरता हुआ जीवन का उन्मेष है । लेकिन संस्कार–रूप वासना के कारण ही वस्तुएं या जगत् जीवन मनभावन प्रतीत होता है । उसी के संसर्ग से अस्तित्व, चिन्तन एवम् पदों को अर्थ मिलते हैं तथा उसी से उसकी चेतना में स्पन्द अथवा क्रिया एवं मानसिक विकार या परिणाम जन्म लेते हैं । अतः यह सारा ही भावजगत् साहित्य की आधारभूमि है । यह आधारभूमि जब अपने ही सत्त्व के उद्रेक या निर्मलता के आधार पर अपने स्व में ही से अपने अपने स्व से विलक्षण चेतना को जन्म देती है[3] तो यह भावरूपा रस की योनि वासना ही रसमातृका के रूप में प्रकट होती है । आचार्य हेमचन्द्र नौ भावों को स्थायी मानते हुए इन भावों को वासनारूप ही कहते हैं–

"जात एवहि जन्तुरियतीभिः वासनाभिः
(संविद्भिः) परीतो भवति ।
न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति ।
केवलं कस्यचित्काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना ।।[4]

नाट्य–शास्त्र के प्रतिष्ठापक भरतमुनि जब यह बात कहते हैं कि रस के बिना कोई अर्थ प्रवृत्त ही नहीं होता" तब रस शब्द से अभिप्राय उन सभी शब्दों और अर्थों से है जो मनुष्यमात्र के चित्त में वासनारूप में उपस्थित होते हुए कहीं न कहीं आनन्दरूप रस में परिणत हो जाते हैं । अतः सभी भावों रसों की आनन्दोन्मुखिता असन्दिग्ध है। जैसे भर्तृहरि एवं दण्डी शब्द को मानवमात्र के जगत् की ज्योति मानते हैं, वैसे ही भरत रस को नाट्य में शब्दार्थजगत् का ज्योतिचैतन्य मानते हैं । क्योंकि कोई भी शब्द या वाक्रूप केवल व्यापकमात्र या सत्तासम्पन्न होने से ही शब्दब्रह्म नहीं बन सकता, उसमें आनन्दरूपता या रसरूपता भी उसे ब्रह्मत्व प्रदान करती है। अतः शब्दों या अर्थों में रसत्व का अवतरण ही कविमानस पर होने वाला वह व्यापार है जो उन्हें सगुण ब्रह्म के अकुण्ठित पद पर प्रतिष्ठित करता है । वहीं उसकी ब्रह्मानन्दसहोदरता की बात भी सिद्ध हो जाती है। वहाँ वह शुद्धान्तःवासना और चिन्मयता का एकीभूत ज्योतिपिण्ड "मणिसन्निभमात्मलिंगम्" बन कर मायारूपी हृदयकमल में चित्सूर्य के समान उदय हो उठता है। हमें उसे निर्विकल्पक ब्रह्म की अवधारणा के साथ जोड़ने की जो आदत, आचार्य शंकर के ब्रह्मवाद की प्रभुता के कारण बन गई है उसी के कारण "ब्रह्मानन्दसहोदरः" की व्याख्या उलट–पलट हो जाती है । काव्यकर्म तो सृष्टिकर्म है, उसमें शक्ति का उन्मेष है । लौकिकरूप उस शक्ति के धर्म हैं । उसमें कवि का मौन मुखरित होता है । फिर उसकी आनन्दरूपता को किसी निष्क्रिय एवं समावेशशून्य आनन्दमयता के साथ जोड़कर ही क्यों देखा जाए।

इस सन्दर्भ में हमें भरत की अष्ट–रसकल्पना की बात समझ आ जाती है । आठों स्थायीभाव चित्त में वासनारूप में प्रतिष्ठित रहते हैं और अपनी सक्रियता के कारण अनुभूतियों का संघटन–विघटन करते रहते हैं । वासनाच्छादित अन्तःकरण मूलतः अष्टप्रकृतिवाला है और यह निरा संयोग ही नहीं कि कालिदास शिव की और श्रीमद्भगवद्गीताकार कृष्ण की आठ ही प्रकृतियाँ होने की बात कहते हैं ।[5] सांख्य भी अध्यवसायरूपा बुद्धि के अष्ट–भावों को सही स्वीकार करता है । निश्चय ही हमारे भावों और प्रकृतियों का कहीं न कहीं गहरा सम्बन्ध है और हमारे चित्त की अष्टधर्मिता को उन्हीं प्रकृतियों के आधार पर खोजा जा सकता है । भूमि, आप, अनल, वायु, आकाश, मन बुद्धि, अहंकाररूप बाहर के जगत् का अनादिकाल से जीवों के साथ जन्मजात संसर्ग रहने से संग–वासना चित्त को उन्हीं पदार्थों के धर्मों में, आलोक में, रहना सिखा देती है और वैसा ही बना देती है । अतः मानवीय वासना का रंग रूप शत–प्रतिशत भूतप्रकृति या बाह्य जगत् से ही अनुप्राणित है जिसका सेवन करते करते ही वह एक विशिष्ट आकार ग्रहण कर स्वतन्त्र रूप से व्यवहार करने लगता है । इस प्रकार अष्टमूर्ति या अष्टभावान्वित चित्ततन्त्र भाषातत्त्व के आश्रय से विकसित होने लगता है और कवि एवं सहृदय में वह इसके सहारे नई–नई

संवेदनाओं और कल्पनाओं का सर्जन करने लगता है । इन्हीं संवेदनाओं को समृद्ध कर तथा विभावादि क्रम से उद्बुद्ध करके इनके मानवहिताय उपयोग एवं उपभोग का आयोजन हमारे नाट्याचार्यों और काव्यशास्त्रियों ने किया ।

हमारे यहां भावों की आठ–संख्या परमा प्रकृति या परमतत्त्व के भीतर से प्रस्फुटित होने वाले आठ तत्त्वों या भावों की अनुभूति और अनुकृति दोनों पर ही आधारित लगती है । आचार्यों ने चित्त की समापत्तिधर्मिता या व्यापक होकर प्रत्येक वस्तु के साथ तादात्म्य–साधन करने की क्षमता को बहुत पहले पहचान लिया था । और यह भी पहचान लिया था कि आदिचित्त या प्रथमचित्त बाह्य जगत् में प्रकृति के चारों ओर फैले हुए मूलतः आठ रूपों के सम्पर्क में आकर आठ ही मूल भावों या विकारों का स्वरूप ग्रहण कर सकता है या अष्टचक्रों का ही तन्त्र मूल–चेतना के इर्द–गिर्द बुन सकता है । अतः चित्त की आठ मूल विकृतियों को आठ स्थायिभावों के रूप में स्वीकार कर चित्त को काव्य का सृष्टि–चक्र ही मान लिया गया । ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काव्य जो मूलतः ऊर्जस्वी चेतना का प्रतिनिधि है, वह शक्तिप्रधान अग्रगामिता और सृष्टिनिर्माण का काव्य है जो प्रलयपयोधि के शान्त हो जाने के बाद धड़ाधड़ रात दिन ऊर्जस्विता के प्रखर बोध की रचना है । अतः सूर्य, चन्द्र, तारा और प्रकृति के नाना रूपों से उत्प्रेरित है । किन्तु यह उत्प्रेरणा धीरे से उपनिषदों में शान्ति–कामनाओं और शान्तिपाठों की ओर अग्रसर हो गई । वेद की जो स्वस्ति–कामना है वह अजाने में ही शान्तिकामना में परिणत होने लगी थी । "शं नो मित्रः शं वरुणः" या "शान्तिः शान्तिः" का उद्घोष उपनिषदों में मुखरित होने लग गया था ।

सृष्टि के सम्पूर्ण क्षेत्रों में विजयकामना और बड़े–बड़े यज्ञों से होने वाली उपलब्धियों को सामने करके चलने वाला ऋषिमानस उनकी अनित्यता के प्रति अधिक सचेत होने लगता है और अपने भीतर की चित्त की अष्ट–प्रकृतियों को शान्त कर किसी नवम तत्त्व को ही अपने भीतर पाने के लिए उद्वेलित हो उठा । यह नवम तत्त्व शान्त, शिव और अद्वैत था । जहाँ न सृष्टि का उत्थान–पतन, न हर्ष न शोक, न जुगुप्सा न भय, न उत्साह न निरूत्साह, न आश्चर्य।[6] केवल निःसंग समरसता का सुख, आत्मविश्रान्ति का सुख, भावों और अभावों के झमेलों में से निकल पाने का सुख, एक आन्दोलनहीन चेतना की यथागत या तथागत स्थिति के हो जाने का सुख। इसे उपनिषद्, एवम् आगम ने शान्ता कला भी कहा, फिर शान्त्यतीता भी कहा । लेकिन इस आर्ष उपलब्धि को सभी ने ज्ञान, योग एवं तन्त्र के घने अरण्यों एवम् एकान्तसाधनाओं के पर्वतंश्रृगों पर ही प्राप्त होने योग्य कहा। लेकिन इस बार इस प्राप्तव्य का पता चल गया तो फिर कवि–कोविद, कलाविद् अपनी अपनी सामग्री लेकर उस गन्तव्य की ओर चल पड़े ताकि उस भाव और अभाव पद से अतीत शान्तपद की एक छवि को अपनी–अपनी कला में छलका दिया जाए ।

लेकिन किसी अयोगी कलाविद् का वहाँ तक जा पाना ही सम्भव न था । केवल एक महाभारतकार ही ऐसे कवि हुए जिन्होंने अपने कृतिकर्म से मानव–मूल के समस्त भावों को क्रमशः तत्त्वज्ञान की भट्टी में डालकर अपने काव्य की चरम परिणति उस महामौन में कर दी, जहाँ नैराश्य, निरूद्वेग उदासीनता, कुछ भी प्राप्तव्य का निषेध, समस्त अक्षौहिणियों की उड़ाई हुई धूलियों के रजोलेश से अलिप्त आकाश में मानवीय चेतना का प्रवेश हो जाता है । इसलिए महाभारत में शायद पहली बार ही आशा को निराशा में बदल कर सुखपूर्वक सोने वाली पिंगला वेश्या, एकान्त में वृत्तिशून्य होकर शुचि अजगर व्रत को धारण करने वाले शम्पाक मुनि तथा काम सुख एवं दिव्यलोकों के भोग–सुखों के मुकाबले में तृष्णाक्षय से होने वाले सुख को बहुत ही उत्तम मानकर जीने वाले पात्रों की सृष्टि हमारी काव्यसृष्टि बन गई ।

परवर्तीकाल में जैन और बौद्धमत के वैराग्यमूलक दार्शनिक प्रभाव जब संस्कृतकाव्य में आ उतरे तो कवियों की दृष्टि भी पलटी । शम और वैराग्य जैनों के फुटकर काव्यों या स्तोत्रकाव्यों का आधार बन गए हैं । किन्तु बौद्ध दर्शन जो सत्ता को किसी भी रूप में अस्वीकार करके शून्यता या भावों के निर्वाण (बुझा देने) में से व्यक्ति को चरम साक्षात्कार की ओर प्रेरित कर रहा था, उसका अभिप्रेत यह था कि यज्ञसंस्कृति से जन्म लेने वाली सभी दार्शनिक दृष्टियां या संस्कार किसी न किसी रूप में शक्ति के ही स्थूल से सूक्ष्म स्तरों की शरण में चले जाते हैं । वेदान्त का निर्गुण ब्रह्म भी यदि सत् रूप है तो सत्ता या शक्ति ही आपके दार्शनिकों का शरणस्थल है । सत्ता या शक्ति का ज्ञान या उपासना क्या है ? सत्ता के साथ किसी न किसी रूप में चिपके रहना। अतः ज्ञानी या साधक की पूर्ण निरपेक्ष आत्मस्वातन्त्र्य के साक्षात्कार की स्थिति वहां नहीं बन सकती । फलतः बुद्धत्वप्राप्ति के लिए समस्त भावसत्ता या उसकी विकृतियों का सर्वथा निर्वाण ही व्यक्ति की सही स्वात्मानुभूति हो सकती हैं । इस सारे चिन्तन को अश्वघोष ने भाव–प्रशम के रूप में अपने काव्य का विषय बनाया । जनसामान्य तक मोक्षविधि को पहुंचाने के लिए काव्य का आश्रय लिया और बौद्ध धर्म के चार आर्यसत्यों के निरूपण को प्रशम का मार्ग प्रतिपादित किया।

बाधात्मकं दुखमिदं प्रसक्तं दुखस्य हेतुः प्रशमस्य मार्गः
दुखक्षयो निःशरणात्मकोऽयं त्राणात्मकोऽयं प्रशमस्य मार्गः।।"[7]

यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि संस्कृत का मूल काव्य जो सर्वदा त्रिवर्गसाधन या धर्म, अर्थ और काम को ही काव्य का विषय बनाए हुए था उसे चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष को भी काव्य में लेना पड़ रहा था । निर्वाण जैसी कठिन अवधारणाओं को जिन्हें समझना बड़े बड़े मनीषियों के लिए भी दूभर रहा है उसे कविता में उतार कर इन महाकवियों ने जनसामान्य तक पहुंचा दिया। धीरे धीरे तेल के सूखने से बुझकर शान्त होता जा रहा दीप जैसे किसी दिशा दिशान्तर की ओर

न जाकर केवल वहीं विलीन हो, शान्त हो जाता है वैसे ही निर्वाणप्राप्त ज्ञानी भी वासनाक्षय हो जाने पर किसी लोक–लोकान्तर या परलोक में न जाकर वहीं शान्त हो जाता है ।"[8] इस बात को जिस सुगमता से अश्वघोष कहते हैं उसी सुगमता से वह बात पाठक के हृदय में भी उतर जाती है। ऐसे ही बौद्धदर्शन के विज्ञानवाद की चेतनाप्रवाहवाद जैसी मान्यता को या "चतुष्कोटिविनिर्मुक्त" परमार्थ या तथता जैसी उद्‌भावनाओं एवं बौद्ध साधना को ये संस्कृत के कवि सादगी के साथ जनमानस में उतारने एवं आत्मसात् करने में सफल हो रहे थे और उन्मुक्त घोषणा कर रहे थे कि "हमारी ये काव्यकृतियां पाठकों के रति–सुख को बढाने के लिए नहीं अपितु उसे शान्ति में बदलने के लिए है ।[9] मोक्ष रूप पुरुषार्थ ही इनके भीतर का प्रतिपाद्य है। मारविजय के संदर्भ में बुद्ध की समाधिस्थ चेतना ऐसी स्थिति में आ गई कि वहां चित्त का पूर्ण नाश ही हो गया । काम के जिस बाण से मर्माहत भगवान् शिव का चित्त भी शैलेन्द्रपुत्री पार्वती की ओर द्रवित हो गया था उसी बाण की बुद्धसमाधि पर निरर्थकता को देखते हुए अश्वघोष ने बुद्ध की उचित दिशा या चित्त के पूर्णनिरोध की दशा की उत्प्रेक्षा कर डाली या फिर काम के बाण की पहले सी शक्ति नहीं रहने की सम्भावना कर डाली।[10]

संस्कृत साहित्य में इस नूतन काव्यधारा के फूट निकलने से ही संस्कृत के काव्यशास्त्रियों को "शान्तोऽपि नवमो रसः" कहकर उसे नवरसकल्पना में स्थान देना पड़ा। आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही काव्यभारती की वन्दना करते समय उसे "नवसरूचिरा" होने का सम्मान दिया। किन्तु नवरस की स्थिति संस्कृत–काव्य में सदैव विवादास्पद सी रही। क्योंकि भावसत्ता की उपासना करनें वाले ब्राह्मण आचार्यों को इस भावनिषेध रूप शान्त रस को स्थायीभाव देने में भी कठिनाई आ रही थी। क्योंकि यदि रसावस्था में कोई भोक्तृत्व ही नहीं, आस्वाद्य ही नहीं, चमत्कृति का समावेश ही नहीं, तो ऐसी निर्वाण–समाधि की दशा को किस नाम से परिभाषित किया जाए। "निरहंकाररूपत्वाद्दयावीरादिरेष नो" अर्थात् अहंताममता रहित दशा होने से इसे दयावीर आदि उत्साह स्थायिभाव वाली रसस्थिति में भी नहीं रखा जा सकता था। आचार्य विश्वनाथ इसका विवरण देते हुए स्वयं एक पद्य उद्धृत करते हुए शान्त रस को प्रस्तुत करते हैं–

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः।।

यहां पद्य में "मुनीन्द्रैः" पद पर ध्यान देना चाहिए। ये मुनीन्द्र कौन थे? भरत तो इसके पक्षपाती नहीं रहे। उन्होंने अन्य भावों के समान तो शान्त की प्रामाणिकता पर बल नहीं दिया। बल्कि धनंजय ने तो बाद में नाटक में शान्त रस को अस्वीकार करके यह भी कह दिया कि यदि शान्त की स्थिति को मानना ही है तो काव्य में भले ही मान लो नाटक में नहीं। सम्भव है उनका भी शास्त्र के विषय में महान् दार्शनिक

आचार्य वाचस्पति मिश्र के जैसा मत रहा हो कि शास्त्र तो लोकसिद्ध वस्तुओं का ही व्युत्पादन करने के लिए होता है। आर्ष विज्ञान तो ऊर्ध्व की ओर गतिशील रहता है अतः लोकव्युत्पादन में उसकी अधिकारिता नहीं– "आर्षं तु विज्ञानं योगिनामूर्ध्वस्रोतसां न लोकव्युत्पादनायालमिति सदपि नाभिहितम्।"[12] इसलिए शान्त रस का आम आदमी की अनुभूति से प्रत्यक्षतः कोई सम्बन्ध न रहने से उसे काव्यशास्त्र की चर्चा का विषय नहीं बनाया गया। क्योंकि उसमें सुखदुख या द्वेष–राग की द्वन्द्वात्मक स्थिति ही न थी तो फिर अन्य रति आदि भाव जो या तो सुख–मूलक हैं अथवा क्रोध–भयादि भाव जो दुखमूलक हैं उनमें शम स्थायिभाव की निरीह एवं, स्वात्म में ही विश्रान्त[13] रहने वाली स्थिति को कैसे अन्य भावों के समान प्रमाण माना जाए। समान–प्रमाणता के लिए उसका किसी वर्ग (सुख या दुख) के भावों के साथ कोई तो सम्बन्ध रहना चाहिए। शम का तो अर्थ ही सब भावों की दूर दूर तक शान्ति ही शान्ति है। यानि कि भावमात्र का लोप। तो फिर उसमें जब न कोई स्थायी रहे न संचारी, तो उसकी रसावस्था कैसे निष्पन्न होगी। यह स्थिति दशरूपककार को नितान्त स्पष्ट है अतः वह नाट्य में शान्त को रस के घेरे से बाहर ही रखते हैं।[14]

आचार्य मम्मट ने काफी छूट देते हुए शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद को मानकर उसके रसत्व को प्रतिपादित करने का सुझाव दिया है जिसे मान्य करना भी सरल नहीं। एक तो निर्वेद जैसी बहुत ही फीकी संचारीवृत्ति को रसत्व के पास तक पहुंचाना ही बहुत कठिन है। लेकिन तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या आदि के कारण स्वावमानन या अपने को धिक्कारने की भावना या ग्लानि पैदा होने से निर्वेद[15] पैदा हो भी जाए तो क्या है? उसमें स्थायिभाव जैसी सघनता एवं सान्द्रता आ पाना नितान्त अस्वाभाविक है। काव्यालंकार में रूद्रट के इस कथन "कि निर्वेद आदि में भी रसन होने से रसत्व रहता ही है" पर धनंजय नाराजगी प्रकट करते हुए कहते हैं कि निर्वेद आदि में रस होने में सबसे बड़ा दोष यह है कि व्यक्ति की उसके साथ तद्रूपता ही नहीं हो पाती है। फिर जब वह पाठक के मन में भोगकाल में पूरी तरह आरूढ़ होकर पर्याप्त समय तक स्थिर ही नहीं रह पाता तो रसता उसमें कैसे आएगी "अतोऽस्थायित्वादेवैताषामरसता।"[16] मानव–प्रकृति के साथ निर्वेद का गहरा तादात्म्य न देखकर कुछ आचार्यों ने शान्त का स्थायिभाव शम, उसकी प्रकृति उत्तम, रंग कुन्दकली या चन्द्रमा सा, अधिदेवता भगवान् नारायण, आलम्बन के रूप में परमात्मा का स्वरूप, संसार की अनित्यता या असारता का बोध आदि आदि को मानकर उनको अन्य रसों के मुकाबले में ढर्रा सा देकर खड़ा कर दिया।[17] साथ में यह तर्क भी दे दिया गया कि हम जिस शम नामक स्थायिभाव की शान्तरस में परिणत होने की बात करते हैं वह शम योगी या भक्त की आंतरिक युक्त–वियुक्त अवस्था वाला शम है जिसमें विषय सुख भले अनुपस्थित रहें किन्तु अन्तःसुख या अन्तर्जगत् की सिद्धियां अथवा देवतासाक्षात्कार तो उपस्थित रहते ही हैं।[18] इसलिए जैसे दृश्य

काव्य की अपेक्षा श्रव्य या पाठ्यकाव्य में पढ़ते या सुनते समय विभाव आदि के बिम्ब पाठक या श्रोता की इन्द्रियों से असंसक्त होते हुए भी मनस्तल पर उभरकर रसोद्बोध करने में सक्षम है ऐसे ही शान्त रस के भोगकाल में भी दिव्य विषयों या बिम्बों के जाग उठने से विभाव आदि क्रम बनकर रससिद्धि हो जाएगी। किन्तु ऐसे पद्यों से जिनमें कवि किसी ऐसी योगानुभूति के लिए तरस रहा है, जिसमें मन का पूर्ण विलय होकर श्रीशैल या हिमालय की किसी कन्दरा या गुहा में उसे ऐसी निश्चल एवं अखण्ड समाधि प्राप्त होगी जिसमें उसके शरीर को स्वाभाविक रूप से पास में उगती हुई लताएं लपेट लेंगी और पक्षी कानों को अपना घोंसला बनाने योग्य स्थान समझेंगे–

सिद्धिं तथाविधमनोबिलयां समाधौ
श्रीशैलशृंगकुहरेषु कदोपलप्स्ये।
गात्रं यदा मम लताः परिवेष्टयन्ति
कर्णे यदा विरचयन्ति खगाश्च नीडान्।[19]

अब यहां कवि की इस समाधिवासना के साथ पाठक की वासना का तादात्म्य होना बड़ा कठिन है। क्योंकि काव्यास्वाद में पाठक, श्रोता या प्रेक्षक की वासना संस्कार का ही महत्त्व रहता है। वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यदि आपकी समाधिवासना ही नहीं तो रस की भूमिका ही उखड़ जाएगी। अतः यह तो स्वीकार करना होगा कि शेष आठ स्थायिभावों का प्रेक्षक–मात्र की भावना के साथ जो सम्बन्ध बनता है वह शम स्थायिभाव में नहीं। इसलिए कोई आचार्य शान्त को देवताविषयक रति या भक्ति आदि में अन्तर्भुक्त करने की चर्चा तो कर जाते हैं किन्तु चर्चा का तर्कसंगत निर्वाह नहीं हो पाता।

वास्तव में यह ऐतिहासिक तथ्य है कि इस देश में योग, वैराग्य, आत्मज्ञान की जो त्रिवेणी प्रवाहित हुई उसने सामान्य भारतीय में भी संन्यास या वैराग्य को भी एक स्पृहणीय भाव बना दिया था। तत्त्वज्ञान की कल्पना, सन्तों की कृपा से, लोकमानस का अभेद्य अंग बन चुकी है। इसकी भाषा अन्य भावों की भाषा के समान योगियों की षट्चक्र–कल्पना के अनुसार यौनकेन्द्रों की भाषा नहीं थी। ऊर्ध्वग चेतना के इस प्रवाह ने इस देश की सम्पूर्ण संतवाणी को प्रेक्षकों के लिए आस्वाद्य बना दिया और वैराग्य तथा ऊर्ध्वचेतना की लोकमानस में प्रतिष्ठा की। वस्तुतः योग की अधिमानस या अतिमानस स्थितियों में जाकर सारा ही भारतीय काव्य अन्य भावों के प्राकृतिक विभावादिक्रम के समान नहीं रहता। उसके विभावादिक्रम की कल्पना समाधिसंस्कार स्वयं ही भीतर से भीतर ही रच लेते हैं। अतः तन्त्रक्रम में शेष आठ स्थायिभाव रस या आनन्द के देवता के आठ दिव्यादिव्य आवरण हैं जबकि नवम आवरण शुद्ध चेतना की निरवद्य स्थिति है। वह हमारी भारतीयता के

बौद्धिक एवं आध्यात्मिक रसास्वाद की कविता है जिसमें अपनी अपनी दार्शनिकता का स्वानुभव रहने के कारण सरल तत्त्वानुभूति का माहात्म्य असन्दिग्ध है। अस्पष्टता की उलझन में फंसी हुई बौद्धिकता की औपचारिक संस्तुतियां या जुबानदराज़ी वहां नहीं है।

वास्तव में शान्तता चित्त का स्वच्छात्मस्थितिप्रवाह है जो अन्य सभी आठ भावों में समप्रमाण होकर न रहे तो किसी भी भाव का अंकन या अभिनय नहीं हो सकता। वह सभी भावों के मूल में रहने वाली चेतना की निस्संगता है। इसी निस्संगता के कारण कृतिकार भी और सहृदय भोक्ता भी एक भाव से दूसरे भाव में आता जाता रहता है। नहीं तो दोनों की तटस्थता भंग होते ही भाव– मलिनता न तो कृतिकार को न भावुक को रस–सिद्धान्त तक जाने देगी। पश्चिम के अभिनेता या प्रेक्षक सम्भवतः इस निस्संगता की बात को पकड़ने में कठिनाई अनुभव करते हैं। इसीलिए कभी कभी बात बात में कह जाते हैं कि एक अभिनेता अपने रोल या अभिनय क्षेत्र का जब चुनाव कर लेता है तब उसी को वह पूरी तरह जीता है। उसी बीच में यदि कोई अभिनीत हो रहे भाव को छोड़कर किसी दूसरे भावाभिनय की बात उसे कहें तो ऐसा करना उसके लिए इसीलिए असम्भव हो उठता है क्योंकि वह उतने काल के लिए अब उसी भाव को समर्पित है उसी के साथ स्वयं को एकमेक कर चुका है। लेकिन हमारे यहां एक ही पात्र अथवा नर्तक एक ही काल में अनेक भावदशाओं को अभिनीत करने में अपनी सफलता मानता है। इसे काव्यशास्त्र में भावशबलता और संगीत में एक राग में से दूसरे दूसरे रागों में आराम से बढ़त लेते चले जाने को रागमाला गीतिका की सृष्टि कहा जाता है।

ऐसे करने के पीछे भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की अध्यात्म–मीमांसा कहीं ज्ञात तो कहीं अज्ञात रूप से काम करती है। काश्मीरी शैव कहते हैं– "चैतन्यमात्मा"[20] अर्थात् सीधे–सीधे बिना लाग लपेट का हमारा चैतन्य ही आत्मा है। फिर कहा कि "रंगोऽन्तरंगः"[21] अर्थात् हमारा अन्तरंग या अन्तःकरण ही रंगमंच है और उस पर नृत्य करने वाला आत्मा ही है– नर्तक आत्मा।[22]

वास्तव में आत्मा को नर्तक कहने के पीछे उसके नाना अभिनय सम्बन्धों को ही एक साथ प्रकट करने का अभिप्राय रहा। चैतन्य एकरूप होते हुए ही अपनी निस्संगता के कारण अनेक भावप्रकृतियों के साथ अपने संग का निर्वाह कर लेता है। इसी पृष्ठभूमि में नटराज शिव के नृत्यों का तथा रसिकशिरोमणि कृष्ण के रासनृत्यों का देवसभाओं में आयोजन होता रहा जिनका ध्येय सौन्दर्यसृष्टि के मूल में छिपी अनेक में एक की स्थिति को आत्मसात् करना था।

चेतना की यह निस्संगता ही उसका शाश्वतिक शम स्थायिभाव है, चित्त की दशाविशेष नहीं। उसमें से उठते हुए शेष सभी चैतसिक भाव उसकी नित्यता के सन्दर्भ में क्षणसंचारी व्यभिचारी आते जाते रहते हैं। उसकी अभिव्यक्तियां ही उसके

अनुभाव हैं। आस्था, तत्त्वज्ञान, विश्वात्मभाव का उदय ही उसका विभावादिक्रम है।

इस दृष्टि से देखा जाए तो संस्कृत साहित्य में काव्यधारा को तत्त्वज्ञान या दर्शन के साथ जोड़ने का सफल प्रयास शान्तरस के माध्यम से ही सम्पन्न हुआ है। इसमें कोरी भावुकता की अपेक्षा प्राचीन बुद्धिजीविता के काव्यप्रयोग आपको देखने हों तो दुर्वासा, गौड़पाद, आचार्यशंकर, अभिनवगुप्त एवं कालिदास आदि अनेक दार्शनिक कवियों के स्तोत्रकाव्यों का पाठ कीजिए और आप महसूस करेंगे कि संस्कृत के इन परे के कवि दार्शनिकों में रसास्वादन तो पराकोटि का है, पर भावुकता की चिपचिपाहट नहीं है। अपितु बौद्धिक ओजस्विता की चमत्कृति है। ऐसे ही जैन कवियों के यहाँ भी विराग या रागरहितता भी काव्यरूपों में परिणत हो गई। सच्चे ब्राह्मणत्व की परिभाषा करते हुए जब कविता के उपामानों की खोज में पुष्करपत्र या कमलपत्र को इसलिए लाया जाता है कि वह जल में भी निर्लिप्त हैं अथवा सूई की सूक्ष्म नोंक, जिस पर सरसों का दाना नहीं ठहर सकता है, ऐसे ही जो कामनाओं में न लिप्त हो पाता है और न कामनाएं वहां ठहर सकती हैं, ऐसी ही किसी अवस्था को जब ब्राह्मण कहा जाता है[23] तो एक तरल सा सूक्ष्म सौन्दर्यबौध तो दार्शनिक बौद्धिकता में उभर ही आता है। परवर्ती काल में लोककाव्य में निर्गुणिया सन्तों के पद या अभंग बार बार गाये जाकर लोक में उस रसानुभूति या चमत्कृति का सर्जन करते रहे जिसे शान्ति का सुख या सच्ची आनन्दप्राप्ति का सुख कहा जाता रहा। सन्त कहते रहे कि यह जगत् शून्य के खेल जैसा है "बालू की भीत पवन का खम्भा।" इसी शून्य के गगनमण्डल में एक गाय बियाती है जो माया या अविद्या है। उसी के दूध से यह भवरूप दही जमा दिया गया है। इसी दही को मथकर मक्खन चखने का आनन्द तो सन्तों को मिला और छाछ का सार–रहित सुख अज्ञानियों के पल्ले पड़ा।

कुछ लोग भक्ति को शान्त मानने के पक्ष में उत्सुक रहे हैं। उन्हें भगवद्विषया रति, प्रीति और श्रद्धा के क्षेत्र में जाने पर चित्त की निरालम्ब स्थिति या रागरहितता की अनुभूति न होकर आत्मसमर्पण जैसी चित्तदशा का आस्वादन मिलेगा। उससे पूर्व विह्वलता, व्याकुलता और तरह तरह के रूपास्वादन एवम् स्मृतियों के आंदोलन रहेंगे जो शम की निरीह अवस्था तथा स्वात्म या अपने चैतन्य में ही विश्राम करने या रमे रहने की स्थिति से नितान्त विरूद्ध रहेंगे। सम्पूर्ण भारत के इतिहास में घटित जो भी अध्यात्म एवं योगपरक गतिविधियां हुई हैं उनकी एक अपनी पूरी परम्परा ने शान्तकाव्य या संतकाव्य को जन्म दिया है। संतोष उसका स्थायिभाव होकर उसे परमसुख का काव्य भी बना देता है। सरसरी तौर पर संतोष का बाहरी रूप खुरदरा या नैतिक सा ही प्रतीत होता है क्योंकि संनिहित या पास रहने वाले पदार्थ या सामग्री के ढेर में से अधिक न लेने की इच्छा ही संतोष कहा जाता है – "सन्तोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा" (योग–सूत्र पर व्यास भा० 2–32)। किन्तु

उसकी परिणति सर्वोच्च सुख में है ("संतोषादनुत्तमः सुखलाभः" यो.सू. 2–42)। अतः संस्कृत–काव्य में ही क्यों सम्पूर्ण भारतीय काव्य में ही शान्त की प्रतिष्ठा रही है। क्योंकि लोकमानस भी अपनी अतृप्तियों और अशान्तियों के खोखलेपन को समझने में और उनसे निवृत्ति मांगने में बराबर रुचि लेता रहा है और अन्तिम सत्य के तौर पर सन्तोष और शान्ति को ही अपना उपास्य मानकर चलता रहा है। अतः जिस भाववृत्ति की जड़ें लोकमन में स्थायी तौर पर गड़ी हुई हैं उसकी समरूपता या शमरूपता कलाओं में अक्षुण्ण है।

सन्दर्भ

1. नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसान् यतः
   तस्माद् भावा अमी प्रोक्ताः स्थायिसंचारिसात्त्विकाः।। साहित्यदर्पण 3–181

2. इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
   तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। श्रीमद् भ.गी. 2–67

3. (अ) भावःस्याद् भावनं भूतिरथ भावयतीति वा।
   पदार्थो वा क्रिया सत्ता विकारो मानसोऽथवा।।

   (ब) भावो विद्वान्। विकारो मानसोभावः। अनुभावो भावबोधकः।
   भावः सत्ता स्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु।। दे. अमरकोश

4. काव्यानुशासन 2–18

5. अभिज्ञानशाकुन्तल का मंगलश्लोक देखिए तथा कालिका पुराण भी–
   अथाग्निः रविरिन्दुश्च भूमिरापः प्रभंजनः
   यजमानः खमष्टौ च महादेवस्य मूर्तयः।। कालिका पुराण
   भूमिरापोऽनलं वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
   अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। श्रीमद्भगवद्गीता 7–4

6. मनुस्मृति 2–42

7. सौन्दरनन्द 16–4

8. सौन्दरनन्द 16–28, 29

9. इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः।
   श्रोत्णां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता।। सौन्दरनन्द 18–63

10. शैलेन्द्रपुत्रीं प्रति येन विद्धो देवोऽपि शम्भुश्चलितो बभूव।
    न चिन्तयत्येष तमेव बाणं किं स्यादचित्तः न शरः स एषः।।
    बुद्धचरित 13–16

11. साहित्यदर्पण 3–249

12. सांख्यकारिका – तत्त्वकौमुदी, कारिका 4 पर भाष्य

13. शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्। सा.द.

14. "शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषुनैतस्य" दशरूपक 4–35

15. तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्" सा.द. 3–42

16. निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः।। दशरूपक 4–36 और वृत्ति

17. सा.द. 3–245–248

18. युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः
रसतामेति तदस्मिन्संचार्यादेः स्थितिश्च न विरूद्धा।। सा.द. 3–250

19. योगतारावली, पद्य 28

20. शिवसूत्राणि 1–1

21. शिवसूत्राणि 3–10

22. शिवसूत्राणि 3–9

23. वारिपोक्खरपत्तेव आरग्गेरिव सासपो,
यो न लिम्पति कामेसु तमहं बूमि ब्राह्मणं।।

तन्त्र–दर्शन में सौन्दर्य–मीमांसा

जब हम सौन्दर्य की बात करतें है तो हमारे सम्मुख सरसरी तौर पर अपनी अपनी वासना से अनुगुणित वस्तुविशेष व्यक्तिविशेष काल अथवा दिक्–विशेष का स्वरूप खड़ा हो जाता है। पदार्थों के सामान्य रूप की उपेक्षा हम कर ही जाते हैं जैसे कि सौन्दर्य का सम्बन्ध पदार्थों के विशिष्ट या अतिविशिष्ट रूप से ही हो। यह अतिविशिष्ट रूप उस पदार्थ की संरचना और उस संरचना के पीछे जुड़े हुए शुभता, वृद्धि, सुखोद्‌बोध आदि भावों के साथ रहता है। इस प्रकार सौन्दर्य को यदि तत्त्व–रूप में ग्रहण किया जाए तो वह हमारी भौतिक, शारीरिक एवम् मानसिक अपेक्षाओं का एक एकत्रित या संपुञ्जित बोध है जिसका फल सुख की अनूकूल वेदनाओं के एक से एक बढते हुए स्तर हैं। किन्तु सौन्दर्य के आब्जेक्टिव या विषयगत स्वरूप को भी तत्त्व के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है।

अंगप्रत्यंगकानां यत्संनिवेशो यथोचितम्।
संश्लिष्टसंधिबन्धं तत्सौन्दर्यमिति कथ्यते[1] ।।

इस दृष्टि से दार्शनिक विचारसरणि के अनुसार हम सौन्दर्य को सप्तपदार्थी या षोड्शपदार्थी आदि तत्त्वमीमांसाओं में कहीं भी पृथक् तत्त्व के रूप में स्थान नहीं दिला सके जब कि अमूर्त पदार्थों तक का विचार अनुमान और शब्द के आधार पर वहां खूब हुआ है। भारतीय दर्शनों में सौन्दर्य को कहीं भी मूल सत्ता के रूप में स्वीकार न करना कुछ लोगों को विचित्र भी लग सकता है। यदि सौन्दर्य के मूल में सत्ता, चेतना और आनन्द की पृष्ठभूमि है अथवा अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व हैं तथा विश्वात्मता भी है तो फिर भी उसकी दार्शनिक विचारमीमांसा में गणना क्यों नहीं हुई ? क्या उसकी गणना किसी गुणके रूप में नहीं हो सकती थी? संपूर्ण भारतीय दर्शन ने इस ओर से मुँह क्यों मोड़े रखा? संभवतः उन्हें सौन्दर्य का बोध संमोहनात्मक वृत्ति–विशेष या अविद्या, माया, त्रिगुण का स्पन्द, या सत्य की संवृति ही लगा होगा? पर तो भी विचार तो होना ही चाहिए था।

मीमांसक आचार्य यह मानते हैं कि प्रत्यक्षज्ञान का आधार पदार्थों की यथार्थता है।'' अर्थविषया हि प्रत्यक्षबुद्धिः न बुद्ध्यन्तरविषया[2]'' कह कर भाष्य–वाक्य से संकेत देते हैं कि जिस वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह यथार्थ या अर्थ है। बुद्धि स्वयम् को या बोध को अपना विषय नहीं बना सकती। आगे चलकर प्रभाकर ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या– इन आठ पदार्थों को स्वीकार किया । इन आठ पदार्थों में से मीमांसकों के अनुसार शक्ति वह पदार्थ है वह क्षमता है जिसके द्वारा ही द्रव्य, गुण और कर्म सामान्य वस्तुओं के

कारण हो सकने कि योग्यता प्राप्त करते हैं। क्योंकि प्रत्येक कारण के अन्दर एक अदृश्य शक्ति रहती है जो पदार्थ को उत्पन्न करती है। कार्यों से उस शक्तितत्त्व का अनुमान होता है। वह शक्ति नित्य पदार्थों में नित्य है और अनित्य वस्तुओं में अनित्य। नैय्यायिकों का यह तर्क, कि शक्ति न तो दिखाई देती है न अनुमान–गम्य की जा सकती है अतः उसको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानना चाहिए'' यह बात इस दृष्टि से अव्यावहारिक लगती है कि शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानने से निरर्थक अतिरिक्तता का बोझ बढ़ता है।

मैं समझता हूं कि भारतीय दर्शन में यदि किसी ने शक्ति को मूल सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित किया है तो वह वेदवादी मीमांसकों ने ही किया है। पूर्वमीमांसा वेद के देववाद एवम् कर्मवाद की बौद्धिक प्रस्थापना शक्ति–दर्शन के रूप में ही करती है। जबकि उत्तरमीमांसा ज्ञान के माध्यम से अपरा शक्तियों का उत्क्रमण करने में ही आग्रहशील है। और परवर्ती व्याख्यानों एवम् भाष्यों में उन शक्तियों को अस्थिर, अध्रुव अकूटस्थ देख कर अध्यास एवम् मायावाद का दर्शन उदय हो गया जो न तो शक्ति का और न ही सौन्दर्य का व्याख्याता बन सका। निर्विकल्पकताजन्य वैराग्य के तीव्र अनुभवों ने श्रुति के उस परमादित्य को, जिसे '' आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्[3]'' कहा गया था, श्री और लक्ष्मी जिसकी पत्नियां थीं, अहोरात्र जिसके पार्श्व थे, नक्षत्रों में जिसका रूप छलक रहा था, जो इच्छा और काम की कान्ति से दीप्त होता हुआ सर्वलोक की एषणा से मूर्त हुआ था, उस महामहिम को निगल जाने का साहस किया। किन्तु मीमांसकों ने उस यज्ञपुरूष के संकल्प को सृष्टि मूल जल के साथ जोड़ा। कामरूप जल अथवा 'आपः' का त्रिमुख कुश के साथ सम्बन्ध वरूण की शक्ति का प्रत्यक्षीकरण था। स्मृतिकारों ने इसी से स्नान करते समय एकाग्र हो रहने का सदुपदेश करते हुए कहा कि स्नान करते समय जो मौन नहीं रहता वरूण उसकी कान्ति का हरण कर लेता है ''स्नास्यतो वरूणः कान्तिम् ....'' क्योंकि संकल्प काममूलक है और यज्ञ संकल्पमूलक । अतः संकल्प की पूर्ण परिणति ज्ञानात्मक और क्रियात्मक विकास के साथ होती है। अतः पार्थिव अग्नि की ऊर्ध्वगामिता और प्रकाशमयता का भोग के साथ योग हुआ। अतः घृताहुति से संवर्धित अग्नि का स्तवन पुरोहित के रूप में, यज्ञ के देवता के रूप में, ऋत्विक् के रूप में, होता के रूप में तथा रत्नधारयिता अथवा समृद्धि सौन्दर्य एवम् प्रकाशमान जीवन के प्रतीक के रूप में हुआ। फिर कहा गया कि आहुति दान करते समय मन का मौन न रखने वाले की श्री और समृद्धि का अग्नि हरण कर लेता है– ''जुह्वतोऽग्निः हरेच्छ्रियम्''। फिर भोग चाहे मनुष्यों का हो या देवताओं का, बिना पार्थिव सामग्री के कहां संभव है । अतः भोगकाल में अथवा भोजन करते समय मौन न रखने वाले की आयु का मृत्यु हरण कर लेता है– अतः 'भुंजतो मृत्युरायुष्यं' का आदेश देकर कहा गया कि 'त्रिषु मौनं वरं स्मृतम्' । यहां यह ध्यातव्य है कि मृत्यु,

यम या धर्मराज जिसे अनुशासन का देवता कहा गया है उसकी स्थिति ब्रह्माण्डीय स्तर पर भूलोक में तथा पिण्ड के स्तर पर मूलाधार में मानी जानी चाहिए। इसलिए सिद्धिकामी योगीजन सिद्धि की पूर्णता के लिए मूलाधार की शुद्धि पर बहुत बल देते हैं। क्योंकि सिद्धि का सौन्दर्य मूलन्यास की सौन्दर्यस्थापना पर ही निर्भर करता है अतः भूलोक ब्रह्माण्ड के मेरूदण्ड का मूलाधार है जिसकी मूल त्रिकास्थि में अग्नि (रूप), वरूण (रस) और गन्ध का समन्वित इतिहास है । उसकी शुद्धि एवम् सौन्दर्य का साधन तो दिव्यलोकों की दिव्यता के अवतरण में हेतु हो सकता है, ऐसा शक्तिसाधना के दर्शन से प्रतीत होता है। अवतरण चाहे विष्णु का हो, चाहे दुर्गा का, अथवा शिवांश का, होता इस भूलोक में ही है। अतः भूलोक के वैषम्य का अपहार करके साम्य–दर्शन एवम् कुल–दृष्टि का विकास करना सौन्दर्य एवम् समृद्धि को भूलोक में लाने का है। यह ऐसी दृष्टि है जिसमें वैषम्य अथवा विरोध भी तात्त्विक विकास में अंगभूत है। जिसका विकास दश महाविद्याओं एवम् शुष्कमांसातिभैरवा काली, सौन्दर्य की सारभूता महालक्ष्मी, शील की सारभूता महासरस्वती के परस्पर परिणमन में है।

यदि भारतीय दर्शन केवल जड़वाद तक अपने को सीमित कर लेता तो हो सकता था कि हम भी जड़वादी पाश्चात्य दर्शन की तरह विरूपता को चरमतत्त्व के रूप में स्वीकार कर लेते। हमने चेतना के बिन्दु को परस्पर विरूद्धधर्मा त्रिगुण की विश्व रचना के मूल में रखकर तथा विरोध या द्वन्द्वात्मक भौतिकता को योनि में निहित करके परस्पर विरूद्धता को संगत और समन्वित करके साम्यपरक सौन्दर्य को अविनाभव या सहचारचिन्तन के परिप्रेक्ष्य में उसे आनन्दबिन्दु या मूलतत्त्व के रूप में देखा है। इस बिन्दु में कामेश्वर और कामेश्वरी, राधा और माधव की लीला में एक ही तत्त्व का द्विमुखी या बहुमुखी स्फुरण हुआ। इस स्फुरण या स्फुरत्ता को ही नित्य मान लिया गया। और उसी से शाक्तों की सौन्दर्यदृष्टि का विकास हो गया। इस स्फुरत्ता को शैवों ने महासत्ता के रूप में स्मरण करते हुए कहा–

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता शरीरं परमेष्ठिनः ।। [4]

निश्चय ही यहां स्फुरत्ता को परमेष्ठी का शरीर कहते हुए शाक्तों की शरीरसम्बन्धी अवधारणा अध्यासवाद की अवधारणा से नितरां भिन्न रही है। वहां 'शीर्यत इति शरीरम्' वाली व्युत्पत्ति का लक्ष्य शरीर की अनित्यता के दर्शन की स्थापना करना नहीं रहा। आत्मा और शरीर के द्वैत की कलह को अग्रसर करना नहीं रहा । बल्कि वहां तो ''मनसि सदा सुसमाधिनि प्रस्फुरण–मनेकधाऽभिधेयस्य (रूद्रट का काव्यालंकार 1–15)'' के अनुसार शरीर वह कलाखण्ड़ है जिसमें अखण्डता का प्रस्फुरण हो रहा है। सखण्डता अखण्डता का विलास है अतः उसमें

नानात्व है।'' प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधाव्विजायते'' की व्याख्या शाक्त दर्शन के अनुसार '' तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्हतस्थुर्भुवनानि विश्वा''[5] को साथ जोड़ कर की जानी चाहिए। अर्थात् प्रजापतिक सत्ता बहुधा भी जात होती है । किन्तु जो महात्मा उसकी योनि का परितःभाव से दर्शन करते हैं उनके अन्तस् में समस्त भुवनों की नानात्मकता का मूल एकत्व में ही मिल जाता है और एकात्मता का मूल नानात्व में । शाक्तदर्शन वस्तुतः एक ऐसा समावेश का दर्शन है जो ''एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा'' (देवी ने कहा कि मैं एकमात्र भी सर्वत्र से भिन्न कुछ नहीं) और ''मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः''[6] (ये सब देवियां मेरे में ही समा जाती हैं) की अन्विति करके इस जगत् को एक अन्वित शिल्प के रूप में व्याख्यात करता है। इस अन्विति की पहचान ही शाक्तों के सौन्दर्यवाद का अध्यात्म है। यह धारणा, शक्ति के पंचात्मक विकास का निदर्शन है। ''पंचकृत्यपरायणा भगवती पंचतत्त्वस्वरूपिणी '' हो कर इन्द्रियपंचक से जिस प्रकार गृहीत होती है वहां एक रहस्यात्मकता के त्रैलोक्यमोहन आवरण या परिधान के शिल्प का उदय होता है। इस परिधान का एक एक संरचनासूत्र उतना ही कोमल है जितना कि वैदिककाल की ''सुवासा युवती उषा''[7] का वक्ष पर श्लथ होता हुआ अंशुकवस्त्र। उषा का यह विलास ही उसकी विभूति है। किन्तु इस दृष्टिकोण के अनुसार विभूति शब्द का अर्थ लक्षणापरक न करके वाच्यार्थ ही लेना ठीक है– अर्थात् 'विशिष्टा भूतिः' यानी जन्म ही विभूति है। यह विशिष्टता ही भगवान् का योग है जिसके प्रति कृष्ण स्वयम् अपने बन्धु एवम् मित्रों को सचेत करते हुए कहते हैं–

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। [8]

अतः विभूतियोग को भागवत सत्ता का विस्फुरण मानने के अतिरिक्त हमारे पास कोई विकल्प नहीं रहता।

उपर्युक्त विश्लेषण से हम सौन्दर्यबोध की सामग्री में सर्वप्रथम द्रष्टा की उस सौन्दर्याकाराकारित महावृत्ति की स्थापना करते हैं जिसका जागृत होना शक्ति–आगम में नितान्त अपरिहार्य है। शैव इसे महासाहसवृत्ति कहते हैं। इसीसे स्वरूपलाभ या आत्मलाभ होता है । और आत्मस्थ होना सौन्दर्यास्वादन की पहली शर्त है। [9] दूसरी शर्त है सौन्दर्य के विषयवस्तु की। शाक्त साधक या सिद्ध की दृष्टि के अनुसार व्यापक वृत्ति या दृष्टि का जो विषय होगा वह भी उसके अनुकूल होगा। अतः उसके प्रमुख विषय हैं अर्थ–सृष्टि या बिन्दुसृष्टि । जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण रूपसृष्टि के साथ है। यह रूपसृष्टि बाह्य प्रकाश का अनन्त विस्तार है। जिसे सप्तशती में, देवताओं ने जलते हुए महातेज के रूप में देखा है–

अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम्।
ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम्।। [10]

यह समष्टिरूप ही रूपव्यष्टियों का आधार है। नीरूप शून्यता की पृष्ठभूमि में से उदय होता हुआ यह प्रकाश का विमर्श अरूण हो उठता है। यह समष्टि–अरूणिमा व्यष्टिविन्दु में भी छलकती हुई दिखाई देती है। एक स्त्री में भी उदय होती हुई राशिभूत अरूणिमा को देखा जा सकता है। जो लोग ''ललिता विश्वविग्रहा'' के अर्थ को आत्मसात् कर चुके हैं अथवा 'सिंदूरतिलकाञ्चिता नारी का व्यंग्यार्थ समझते हैं वे जानते हैं कि नारीदेह के ललाट पर स्थित अरूण बिन्दु में भी सहस्र भानुओं का प्रकाश कैसे उदय हो उठता है। लेकिन यह अरूण आलोक रंगों की वह चेतना है जिसकी पिण्डरूप में अभिव्यक्ति नारीदेह के रूप में होती है। भगवती ललिता का स्वरूपवर्णन ही प्रत्येक नारीमूर्ति का वर्णन है। प्रत्येक स्त्री ही "चिदग्निकुण्डसंभूता", "उद्यद्भानुसहस्राभा", "देवकार्यसमुद्यता" है।

अतः प्रकाश और नाद के बोध में से रूपात्मक बोध में लाल रंग की कान्ति उदयकालीन कान्ति का वह मंगलबिन्दु है जिस के ज़रा से घुलते ही नीरव निरभ्र ब्रह्माकाश सृष्टि में आने के लिए लालायित हो उठता है। और उतने मात्र से सारी सृष्टि शुभ से जुड़ जाती हैं । सृष्टि की इस महान् घटना को, कि मौन, शून्य और असत् सी हो होकर रहनेवाली निर्विकल्पता एक संकल्पमात्र से अरूणा हो उठती है, पण्डितलोग एक हल्के से संकेत से इंगित कर देते हैं। वे निर्व्याज अभास्वर शुक्ल अर्घ्यजल में रोली का एक छींटा मिला कर सृष्टि की इस महाप्रक्रिया को व्यंजित करते हैं।

आगमशास्त्र दृढ़ता से घोषणा करता है कि ब्रह्म यदि सत् है तो उसमें चित् का स्फुरण होना स्वाभाविक है। यह चित् अविभागापन्न शिव की ही चिति शक्ति है। स्फुरणरूप इस चिति का अपना स्वाभाविक स्फुरण ही ज़ब विशिष्ट रूपों में होने लगता है तो सौन्दर्य और आनन्द की भूमिका का विकास हो उठता है। इसलिए सौन्दर्य शांति के रूपों का वह उन्मेष है जिसमें रचना का रूपात्मक स्वरूप प्रतिक्षण परिणामी या क्रियाशील हो उठता है। अतः चिद्रूप इच्छाशक्ति का क्रिया में उतर आना ही सौन्दर्य है। अथवा अति सूक्ष्म या अतिस्थूल पदार्थों के आकारों की पृष्ठभूमि में से संवित् का स्फुरण ही वस्तुओं के सुन्दर और असुन्दर व्यवहार का हेतु है। वैसे भी व्याकरण के अनुसार 'सुन्द्' का अर्थ चमक या दीप्ति ही है। लेकिन भगवती संवित् की दीप्ति बाह्य अग्नि आदि प्रकाशों के सदृश नहीं है अपितु वे इन प्रकाशों और स्फुरणों की योनि हैं। अतः यह परमशिव की गंभीर सुन्दरी है। उपर्युक्त विचारणा से एक बात जो स्पष्ट होती है वह यह, कि सौन्दर्य का संबन्ध चेतना के अभिव्यक्तिपक्ष से है। अभिव्यक्ति मूलतः नाम और रूप से जुड़ी हुई है। ''नामरूपात्मकं विश्वं यदिदं दृश्यते द्विधा। तस्याद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुखः'' (अर्थात् इस

नामरूपात्मक विश्व में से नामात्मक विश्व का स्रष्टा कवि है और रूपात्मक जगत् का स्रष्टा विधाता है)।

इस नामात्मक और रूपात्मक विश्व को ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रियां इस विश्व के बोधों और कर्मेन्द्रियां क्रियाओं के स्वरूपों को परिच्छेदकता में लाकर या ग्राह्य बनाकर उसमें कला का समावेश कर देती हैं। सारे संकल्प हमारी चेतना से उद्भूत होकर रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श से आकृष्ट होकर नाना कलाओं की सृष्टि करते हैं जिन्हें देखने सुनने जानने से ऐसी संवेदनाएं पैदा होती हैं जो अनुभूति में परिणत होकर हमारे स्वरूप के साथ ऐक्य स्थापित कर लेती हैं।

सौन्दर्य का सम्बन्ध जन्म से ही कला के साथ होता है। क्योंकि कला एक ऐसा विलक्षण बिन्दु या क्षण है जिसमें अंश में अनन्त या निरंश की प्रतीति हो जाती है। अतः वैलक्षण्य एवम् सारगर्भित सूक्ष्मता एवम् परिष्कार कला में सौन्दर्य की झलकियां देता है। शाक्तागम के अनुसार इस कला या सौन्दर्य का कोई व्यावहारिक प्रयोजन ढूंढ़ना व्यर्थ है। क्योंकि चितिशक्ति विश्वसिद्धि या सृष्टिकर्म में सर्वत्र स्वतन्त्र है। और स्वातन्त्र्य का कोई प्रयोजन नहीं। आत्मा का कोई प्रयोजन नहीं। इच्छा का कोई प्रयोजन नहीं। अतः सौन्दर्य एक शक्तिगत वैशिष्ट्य है जो विश्वरचना के मूल से लेकर द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य सभी पदार्थों में है। किन्तु इनके परस्पर समन्वय से उद्भूत होने वाले रूप रस गन्ध आदि वैलक्षण्य से समञ्जस होकर रसानुभूति में परिणत हो जाते हैं।

वास्तव में शाक्तों की सौन्दर्यसम्बन्धी अवधारणा को हमें दो भागों में बांट कर देखना चाहिए। एक तो शुद्ध संवित् के साक्षात्कार से उद्भूत (जैसे कि कादम्बरी के *महाश्वेता वर्णन* में प्रतीत होता है)। दूसरी पांच इन्द्रियों के और पांच विषयों के माध्यम से स्फुरित होने वाली संवित् के बहुरंगी रूप, एक ऐसी चिद्रश्मि, जो नाना रूपों में खेलती हुई नवरंग की चूनर को ओढ़ कर 'नवरसरूचिरांनिर्मितिमादधति'[12] के कथन को यथार्थ बनाती है। इसलिए दीपनरूपा देवी के असंख्य कोटि रूपों में से ध्यान के लिए, शाक्तों ने जिन रूपों को चुना उनमें सृष्टि–सौन्दर्य की प्रमुख वृत्तियों का चयन करके मानवचेतना के गहनातिगहन सभी आयामों के क्षेत्रों को स्वाधीन कर लिया गया है। संपूर्ण मानवचेतना के जितने मोड़ या पड़ाव हो सकते हैं उन सभी को आत्मसात् कर लेने से शाक्तगण जो मूर्तियां बनाते हैं, उन पर जो रंग लेपन करते हैं, मूर्तियों के अंगों के संकोचविकास को दर्शाते हैं, पूजन सामग्री जो इकट्ठी करते हैं, वस्त्राभरण एवम् माल्यार्पण से लेकर वाद्यवादन, स्तोत्रगान, मुद्राप्रदर्शन की क्रियाएं करते हैं उससे उनके सौन्दर्यबोध का तो पता चलता ही है साथ ही यह भी पता चलता है कि सौन्दर्य का आकर्षण ही जीवचेतना को आकृष्ट कर के मूर्ति और मुक्ति के मार्ग की ओर उन्मुख कर देता है। वे चाहते हैं कि उनकी

आखों के सामने एक ऐसी प्रेम और शृंगांर की मूर्ति सामने आ जाए जिससे उनके नेत्र सदा के लिए तृप्त हो जाएं –

क्वणत्कांचीदामा करिकलभकुम्भस्तनभरा
परीक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहोपुरूषिका।।[13-ए]

इस आहोपुरूषिका ब्रह्मविद्यासुन्दरी के चाक्षुष प्रत्यक्षों की अपेक्षा मनोग्रन्थियों के प्रत्येक स्तर पर उस सौन्दर्य की प्रत्यक्ष मूर्ति का साक्षात्कार कर लेने पर प्रत्येक चक्र में उसके तत्तद्विशिष्ट रूपों के सामने आ जाने पर मानवचेतना के उस उस चक्रजाल से मुक्ति मिल जाती है। मूलाधार से भी नीचे से लेकर आज्ञाचक्र तक जिस तरह के रूपप्रत्यक्षों और नादबोधों की अभिव्यंजना शाक्त साहित्य में हुई है वह अद्भुत है। यदि किसी को यह पता है कि सौन्दर्य का अर्थ कोमल से कोमल मानव–मन की तीव्र संवेदनाएं हैं तो वे उसे अधःसहस्रार, विषु, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञाचक्र के प्रत्येक दल और संवेदनातन्तु में दिव्य विभूति के अवतरण के साथ प्रत्यक्ष होंगी। लेकिन यदि वह महायोगी है, साक्षात् शिव की पराभूमि को ही छूना चाहता है तो उसे अतीन्द्रिय सौन्दर्य–बोधों की उत्तरोत्तर संवेदनाओं का ही नहीं अनुभूतियों का लाभ आज्ञाचक्र से भी ऊपर के बिन्दुचक्र, अर्धेन्दु, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मनी और महाविन्दु के स्तर पर होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शाक्तों ने सौन्दर्य को जिस प्रकार समझाया है वह एक तो है शाब्द बोध और रूप वेदना के साथ चिति के समन्वय का फल, दूसरा है निरिन्द्रिय चिति के निर्विकार सौन्दर्य का रंग रूप–रहित शुद्धता का साक्षात्कारात्मक अनुभव। ये दोनों ही तरह के सौन्दर्यबोध, मूर्तता और अमूर्तता के परस्पर प्रविलापन तथा उद्भावन पर आधृत हैं और इस बात का प्रमाण हैं कि पाश्चात्य सौन्दर्यमीमांसा की तरह हम काव्यशास्त्र या कलाशास्त्र में चित्रात्मक बोध या इमेजरी तक ही बन्द होकर नहीं रह जाते अपितु चित्रकाव्य से ऊपर उठते हुए शब्दचित्रों को बना कर उन्हें पीछे छोड़ते हुए काव्य के माघ्यम से उस क्षेत्र में पहुंचते हैं जहां शब्द और अर्थ के पंख थक जाते हैं। और एक आन्तर सुखद विश्रान्ति ध्वनित होने लगती है स्फुरित होने लगती है। इस स्फुरित या ध्वनन की उन्मुखता जब सृष्टि या रचना की ओर होती है तो रूप रंग की फुहारें गिरने लगती हैं, प्रतिभा का प्रस्फुटन पदे पदे होता चलता है। लेकिन जब यह स्फुरण अन्तर्मुख होकर स्वस्वरूप की ओर उठने लगता है तो छः शून्यों की सौन्दर्यानुभूति के साथ अपनी चेतना के दिगम्बरी या चिदम्बरी अरूप रूप की लहरियां भी उठती हैं जिसे

चित् और आनन्द की लहरी कह दिया जाता है– ''भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्''[13-बी]। इसी अन्तर्मुखी समावेश को शैव आचार्य भैरवावस्था का सौन्दर्य कहतें है। इस प्रकार रूप–बोध के या रूपसंवेदनाओं के दो प्रकार से स्वरूप मिलते हैं। पर रूप–संवेदनाओं को योगी,सिद्ध या दीक्षित व्यक्ति ही ग्रहण करते हैं जैसे कि

अद्भुतगगनशरीरामेकाक्षरनादसंयतसमीराम्।
सर्वान्तरनिर्णिमिषां निस्तिमिरामन्तरे परां वन्दे।। [14]

दूसरी अपर रूप–संवेदनाएं भी पदे पदे उपलब्ध होती हैं जैसे कि ''स्त्रीरत्नभूतां त्वां देवि लोके मन्यामहे वयम्'' अथवा
काप्यास्ते स्त्री महाराज भासयन्ती हिमाचलम् ''।
नैव तादृक् क्वचिद्रूपं दृष्टं केनचिदुत्तमम्।
स्त्रीरत्नमतिचार्वङ्गी द्योतयन्ती दिशस्त्विषा।। [15]

इस प्रकार के वर्णनों में भगवती की मूर्ति के चित्रों में नाना रंगों और रसों नानाप्रकार के मुक्ता–माणिक्यों, नाना प्रकार की जातियों के फूलों, शिल्परचनाओं, नाना मुद्राओं से मुद्रित अंसख्य प्रतिमाओं के माध्यम से साधकों द्वारा नाना प्रकार की दमित रूपसंवेदनाओं को जगाकर संतर्पण करके उन्हें पररूपसंवेदनाओं में परिणत कर दिया जाता है। किन्तु चिद्रूपमयी विशुद्ध निर्मल संवित् को विचार की,आइडिया या प्रत्यय मात्रता की अरूपता से निकालकर, सिद्ध लोग भगवती को ध्यान में जिस प्रकार लाते हैं उसे देखना भी आवश्यक है–
''अथाहं बैन्दवे चक्रे सर्वानन्दमयात्मके ।
रत्नसिंहासने रम्ये समासीनां शिवप्रियाम्।।
उद्यद्भानुसहस्राभां चतुर्बाहुसमन्विताम्।
अष्टगन्धसमोपेत श्रीचन्दनविलेपिताम्।।
हेमकुम्भसमप्रख्यस्तनद्वयविराजिताम्।
मुक्तामाणिक्यखचित नासिकाभरणान्विताम्।।
पक्वबिम्बफलाभासुराधरद्वयशोभिताम्।
शुद्धमुक्तावलीप्रख्यदन्तपंक्तिविराजिताम्।
ताम्बूलपूरितमुखींसुस्मितास्यविराजिताम्।। [16]

यहां एक बात ध्यान योग्य है कि देहयष्टि की पृष्ठभूमि में एक अक्षय प्रकाशमण्डल है । उसके पीछे एक असीम शून्याकाश है। इस अनन्त शून्याकाश की अपारता में से भगवती चेतना का छोटा सा मानवीदेह, बालदेह या युवतीदेह उदय होकर एक नक्षत्र की तरह अकेले ही अनन्तता के विस्तार से बिना डरे, अनन्तता

का अवगाहन करता हुआ यात्रा करता रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि शान्त चेतना के धनी ऋषियों मुनियों ने संवित् भगवती को मूल में रखकर उन्हीं के रूप की अभिव्यक्ति विभिन्न इन्द्रियद्वारों से होते हुए देखकर उन्हें सहचारी संवेदनायें मानकर सहस्रनामावलियों जैसे साहित्य की रचना की। सौन्दर्य को अमूर्तता से उद्धृत करके उसको मूर्तरूप में प्रतिष्ठित करने से ही हमारे संस्कार आदि विवाह जैसे मंगलकार्यों में, घर के शिलान्यास से लेकर उसके पूर्ण होने तक के छोटे छोटे आनन्दउत्सवों में उस सौंदर्य की प्रतिष्ठा हुई जिसे आज भी सामान्य भारतीय नागरिक झुग्गी झोंपड़ी में रहकर भी प्रातः उठकर स्नानादि से निवृत्त होकर ललाट पर भस्म और रक्तबिन्दु लगाकर चलता है। शास्त्रों का कहना है कि यह लालित्य यह सौभाग्य–शृंगार भगवती ललिता का है। यह ललिता कौन है? 'लोकानतीत्य ललते' वाली महात्रिपुरसुन्दरी, सौभाग्यवती कामेश्वरी जिस में सदैव कामेश्वर का आवेश रहता है। यह कामना का आवेश भी सौन्दर्यमूलक है। इस समावेश से युक्त विभावादि पात्र, सुसज्जित रंगमंच, समाविष्ट सहृदय वक्ता और समनस्क श्रोता, भोक्ता और भोग्य सभी उस संवित् भगवती के समावेश का स्पर्श पाकर सुन्दर हैं – " सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकालवस्त्वन्तरसंगान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक्चितिः सैवात्मा ततो..............."[17]

इस प्रकार देखा जा सकता है कि शास्त्रों की सौन्दर्यकल्पना का मूल चित् के स्फुरण और आनन्द के उन्मेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं। चिति शक्ति है, आनन्द उसकी अभिव्यक्ति है। सत् इन दोनों की पृष्ठभूमि में शिव है। आनन्द का सौन्दर्य से बहुत ही तादात्म्य सम्बंध है। इसलिए सौन्दर्यास्वादन के दिविध प्रकारों को अभिव्यक्त करते हुए शाक्तों ने जिस पूर्णता एवम् सिद्धहस्तता से यन्त्रों की रचना की, मूर्तियों को बनवाया, उपासना–मंत्रों की विविध प्रकारताओं का आविष्कार किया, उनमें ध्वनि, नाद और रूप रस रंग की फुहारों को कैसे घनीभूत रूप में बन्द किया है, इसे सुधी रसिक ही जानेगें। ध्यान और समावेश के योग के द्वारा 'ह्रीं,श्रीं,क्रीं' जैसे ध्वनिबीजों का प्रस्फुटन यदि आपकी चेतना में हो गया तो संपूर्ण विश्व की रमणीयता आपकी मुट्ठी में आजाएगी। और यह हृदय जो आपका है वह ब्रह्म का अक्षय–पात्र बन जाएगा अथवा काम का अक्षय तूणीर। यहां हम ह्रींकार पर ही ध्यान करते हैं। लालितात्रिशतीस्तव में भगवती को ''ह्रीं ह्रीं स्वरूपिणी'' कहकर साधना को उसके साक्षात्कार के लिए लालायित किया गया है ''वह ह्रींकारकंदांकुरिका ह्रींकारतरूवल्लरी'' है। ''ह्रींकारदीर्घिका हंसी,'' ''ह्रींकारोद्यानकेकिनी'' है।[18]

शाक्त जानते हैं कि सौन्दर्य वह है जो विराट् होते हुए भी कला (अंश) या क्षण में प्रस्फुटित हो उठता है। तथा बिन्दु होते हुए भी अपने भीतर से अनेक चमत्कृतियों को प्रस्फुटित करता है। 'ह्रीं' 'श्रीं' बीज वैदिक ओंकारबीज से इसीलिए अलग हैं क्योंकि ह्रीं और श्रीं जीवन की दो सौन्दर्यमूलक चेतनाओं के बीज हैं।

जबकि ओंकार तत्त्वज्ञानोन्मुख बीज है। श्रीविद्यादीपिका में कहा गया है कि ''विहरति सर्वप्रपञ्चरूपेणेति ह्रीः। हरणार्थाद् हरतेरिन् प्रत्ययः। हरिरूपेण (विहरणरूपेण) इन्दति परमनियन्तृत्वेन वर्तत इति ह्रीः। अथवा ह्रीं इति क्विबन्तः लुप्तसकारशब्दः प्रपंचसंहृतिवाचकः। ई प्रकाशः आत्मैक्यगमनम् । ह्रीं सकलप्रपंचदेहेन्द्रियादिकं द्रवीकृत्य अनिर्वचनीयप्रकाशस्वरूपात्मैक्यगमकमित्यर्थः।[19]

अर्थात् ह्रीं इस बीज के जप से उदय होने वाली संवेदनाएं वे हैं जो सृष्टि के अनन्त विस्तार या चिदाकाशी हकार के महोदर में एक छोटी चमकती हुई कामकला जैसी आनन्द की रमणीय रेखा के लौहित्य या उपजातरागता को बोधित कराती हैं। यानी अनन्तता के विस्तार में सान्तता का स्पर्श खेल रहा है। अनादि शक्ति की यह रमणलीला रमणीयता की इस प्रकाशधारा को किंचित् संकोच से ग्रहण करती है। अतः इसे लज्जाबीज कहकर सलजता का भाव जोड़ा गया है। क्योंकि लज्जा का भाव ही ऐसा है जो कौशोर्य अथवा कमनीयता को सदैव धारण किए रहता है।

लेकिन चिदाकाशी ह के उदर में उठी यह 'र' या रमणकला जब श्रीं में बदलती है तो अनन्त चिति अपने भीतर से ही मूर्त सौन्दर्य को जन्म देती है। फलतः श्रीमूर्तिदर्शन या श्रीकृष्ण की भावना या सौन्दर्य के सम्मोहन की चमत्कृति हो उठती है। सौन्दर्यानुभूति के इतने बड़े विराट् अनुभवों को सूत्रित करने या अनन्तता को व्यवहारजगत् से जोड़कर सौन्दर्य या श्री की अभिव्यक्ति करने का ही शाक्तों का महाप्रयत्न है। 'ह्रीं' बीजाक्षर जहां पराचेतना के अनन्त विस्तार के अनुनाद को बिन्दु के उच्चारण से उठा रहा है और विस्तार को तंरगायित कर रहा है वहां श्रीं बीज उस अनन्त में प्रकाशमयता की रूपचेतना या रूपात्मक विश्व को उद्घाटित कर रहा है। लेकिन क्योंकि दोनों ध्वनिबीज कुछ न कुछ कर रहे हैं । अतः दोनों ही परमशिव या परमाशक्ति की क्रियाशक्ति के ही उन्मेष हैं।

ह्रीं सागर के विस्तार की तरह बढती हुई क्रियाशक्ति है, जबकि श्रीं सागर की ओर उन्मुख स्पन्दनशक्ति है। इन्हीं क्रियाशक्तियों में यदि ज्ञानशक्ति अभिव्यक्त हो उठती है तो उस रूपसौन्दर्य की कान्ति का आयाम बदल कर ब्रह्मविद्याश्री या बौद्धों की ताराश्री का प्रत्यक्ष हो जाता है। शाक्तों का बाग्बीज 'ऐं' उस दशा को बोधित करता है जो महासरस्वती या विश्वा वाक्तत्त्व का रूपायन श्वेतता के सिन्धु को पुंजित करके हमें प्राप्त होता है। सर्वशुक्ला, ब्रह्मविचारसारपरमा 'ऐं' बीज की स्वरूपभूता सरस्वती ही बाणभट्ट की महाश्वेता बनकर उतरी है जिसकी श्वेतता या वर्णसौन्दर्य, अंगसौन्दर्य, गुणसौन्दर्य बाण की चेतना को अनुभूति और वर्णन से बाहर निकलने ही नहीं देता। बाण सदा के लिए एक प्रखर गायक और शुभ्रता के समस्त आयामों के पारंगत रूपज्ञानी पण्डित बन जाते हैं। बाणभट्ट का सम्पूर्ण शास्त्रज्ञान और तत्त्वदर्शन 'अच्छोदसर' और महाश्वेता के साक्षात्कार में चरम

सार्थकता प्राप्त करता है। "पशुपतिदक्षिणमुखहासच्छविमिव बहिरागत्य कृतावस्थानाम् (जैसे भगवान् शंकर के दाएं मुख के हास की छवि ही बाहर आकर महाश्वेता के रूप में आ बैठी हो)" उस महाश्वेता का एक दिक्कोण है, ''सर्वहंसैरिवधवलतया कृतसंविभागाम् (अथवा समस्त हंसों ने अपनी धवलता देकर महाश्वेता की देहरचना में योग दान किया हो)'' दूसरा दिक्कोण है, तथा बौद्धबुद्धिमिव निरालम्बनाम् (अथवा शून्य में टिकी हुई बुद्ध की निरालम्ब बुद्धि जैसी)'' उसका तीसरा उर्ध्वकोण है। इस त्रिकोण ऐंकार के मध्य में बिन्दुभूता महाश्वेता है जो एक सामान्य मानवी की तरह पीड़ा और वेदना के कारण ''अश्रुप्रक्षालितमुखी (आसुओं से धुल गया है मुख जिसका)'' "साक्षादपारकरूणा (ऐसी महाश्वेता साक्षात् अपार करुणा की मूर्ति)" वह कन्यका है जो पुण्डरीक की कल्पना से छलछला उठती है।[20]

इस अध्ययन से यह स्पष्ट हो उठता है कि शाक्तों की मानसिकता इतनी गहन और प्रखर थी कि एक ओर वे नादातीत एवम् रूपातीत चिच्छक्ति से जुड़े हुए थे तो दूसरी ओर वे नाद और रूप की समष्टियों में से बिन्दुव्यष्टियों की साररूप में उपासना कर रहे थे। इसी से तो मूर्ति का उदय हुआ जिससे लोककार्य और लोकसंग्रह की बात चली और दैवी चेतना ने मानवी के रूप में अपनी भासा (प्रकाश) से दुग्धसिन्धु की अनन्त श्वेतिमा को अपनी व्यष्टि में बन्द करके हाथों में घण्टा, शूल, हल, शंख, मुसल, चक्र, धनुष को धारण किया। घनान्त में विलसित शीतांशु की सी प्रभा में स्वयम् को आविर्भूत किया । देवगणों सरीखे पण्डित कवियों ने काव्यशास्त्रियों ने उस दयनीया दयामूर्ति, महासाम्राज्यशालिनी सुन्दरी के शतांश, सहस्रांश, लक्षांश और कोट्यंश प्रकाश–कणों को केवल कुछ एक अलंकारों की रचना करके ही अपने काव्यशास्त्र को समेट लिया। कुछ रसों की कल्पना करके भी जब सौन्दर्यराशि को विस्तृत होते देखा तो विस्मित होकर ध्वनिकाव्य की अनिर्वचनीय नादानुभूति और रूपानुभूति और कवियों कलाकारों की पराप्रतिभा की बात करके वचनीयता या सौन्दर्य को लेखनीबद्ध करने के आयास की कैद से मुक्ति प्राप्त की।

वस्तुतः सौन्दर्य में जो हल्का सा सुन्द् है, जिसका अर्थ एक छोटी सी चमक है यह चमक ही शाक्तों की उपलब्धि है जो प्रातःकाल की किरण के अरूण बाण के रूप में धरती के हृदय में चुभती है तो ''बहते मधुकण से फूट फूट मधु के निर्झर से सजल गान'' और वही रश्मि जब कवि–संवेदना में चुभती है तो चिदावरण की शृंखला टूट जाती है तथा सौन्दर्यलहरियां आनन्दसागर में एक के बाद एक करके सभी, कभी सक्रम होकर तो कभी अक्रम भाव से बहने लगती हैं। एक पंडित संभवतः इसी दशा की कामना करते हुए कहते हैं

आचूडमाचरणमम्ब तवानुवार
मन्तःस्मरन् हृदयमंगलमंगमंगम्।

आनन्दसागरतरंगपरम्पराभि
रान्दोलितो न गणयामि गतान्यहानि।।

(हे भगवति ! तुम्हारे अंगों के रूप का ध्यान करते हुए आनन्द के सागर की लहरियों के बढ़ते आवेग से मैं काल–बोध से परे ही चला जाता हूँ।)

शाक्तों की निश्चित धारणा है कि जो लोग उस लहरी से अपरिचित हैं वे कभी आनन्द के भागी नहीं हो सकते। क्योंकि इन्द्रियों की समस्त संवेदनाओं की प्राणभूता मूलसंवित् है, जिसके प्रत्यक्ष के बिना चित्त रस की पात्रता ही नहीं ग्रहण करता। इसी सन्दर्भ में चन्द्रज्ञानतन्त्र में कहा गया कि '' अन्तःस्रावविहीनानां सदा सन्तप्तचेतसाम्''। यह अन्तःस्राव ही शाक्तों का काम्य रसतत्त्व है और उनके जीवन में हृद्य है। अतः स्वयं भगवती को उन्होंने रसतत्त्व की अधिष्ठात्री होने से 'रस्या' और हृद्या कहा है। यही नहीं बल्कि ललितासहस्रनाम में उन्हें साक्षात् ''महालावण्यशेवधिः'' (Great ocean of beauty) तक कहा है।[22] किन्तु इस गंभीर–सुन्दरी का प्रत्यक्ष कहां हो? कैसे हो? क्योंकर हो? इसके लिए शाक्तगण उसी प्रक्रिया को अपनाने का सुझाव देते हैं जिसे मीमांसकों ने अपने संदर्भ में अथवा शब्दार्थ के सौन्दर्य के निश्चित बोध के लिए भावना कहकर प्रस्तुत किया है। साहित्यशास्त्र में ''विभावानुभावव्यभिचारिभावसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः''[23] आदि रससूत्रों में इसी भावनातत्त्व की गरिमा प्रकट हुई है। स्वतंत्रतंत्र इस भावना की व्याख्या करते हुए कहता है ''उपास्तिरिति भावना'' अर्थात् भावयिता के चित्त की भाव्यमान तत्त्व के होने के अनुकूल होकर योग की चित्तसमापत्ति की दशा को प्राप्त कर जाना ही भावना है जो विभावनव्यापार के द्वारा सर्वत्र सौन्दर्यबोध या रसजागरण के नितान्त अनुकूल है। जो शाक्तों की भाव्यमान भवानी है और 'ललितासहस्रनाम' की भाषा में भावनागम्या है उस महाचिति के चमत्कार ही उसके नाना अलंकार है। उसकी गतियों के भेद ही नाना छन्दों, तालों और लयों के सम्मोहन हैं। बांसुरी के छिद्रों में से निकलकर उड़ते हुए स्वरों को समझना हो, या तन्त्री के तारों के मधुर स्पन्द के रहस्य को बूझना हो, अथवा भगवान् शिव के अति प्रिय नद्धवाद्य डमरू, हुडुक्का, मृदंग पखावज या तबला के बोलों की थिरकन के मूल में निहित कोमल या परुष, पर स्वच्छ सधे हुए अंगुलियों के विद्युत्स्पर्श को महसूस करना हो तो कभी अपने चित्त को तबले की त्वचा और वादक की अंगुलियों के बीच ले जाकर देखिए और शाक्तों के पास आइए और आप अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों के कलाबोध को प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन इस समस्त कलाबोध रमणीयता या सौन्दर्यबोध की चरम परिणति या फल को परशुरामकल्पसूत्र ''निर्विषयचिद्विमृष्टि'' कहता है। जिसकी व्याख्या पण्डितराज जगन्नाथ रसगंगाधर में करते तो हैं पर अद्वैतवेदान्त की पृष्ठभूमि उसके उतनी अनुकूल नहीं पड़ती । शाक्तों की तो उपासना–पद्धति का मूल ही यह है कि समस्त पूजन ही स्वानुभूति है। अतः वे कहते हैं – "स्वानुभूत्या

स्वयं साक्षात् स्वात्मभूतां महेश्वरीम् । पूजयेदादरेणैव पूजा सा पुरूषार्थदा"।।[24]

यह स्वानुभूति ऐसी है जिसमें संपूर्ण विश्व का, वस्तुओं और व्यक्तियों के कल्पनारूपों का, उनके संभावित रूपों के साथ ही उनके यथार्थ अपितु कठोर यथार्थ रूपों के प्रतिफलन का भी उतना ही प्रामुख्य है। तभी तो काली के करालवदन और मुक्त केशों को देखकर एक सही शाक्त हमारे चेतन अचेतन में पड़े निगूढ़ भय और घृणा आदि की वृत्तियों को जागृतकर जब काली के भीतर से उदय होती हुई भीषणतम क्रियाओं में से अथवा निग्रह में से वात्सल्य या प्रेम के कारण उमगते हुए अनुग्रहराशि को अनुभव करता है, अथवा वाराही शक्ति के सूकर देह में भी ''पितृरूपअस्थ्याद्यवयवात्मने वाराह्यैनमः'' कहकर उसमें पितृ–वात्सल्य का प्रत्यक्ष करता है, तो निश्चय एक शाक्त के सौन्दर्यबोध की सीमाएं केवल शृंगारबोध तक ही न रहकर बहुत दूर तक चली जाती है। उसे अपने से, अपनी सन्तानों से, लोक से जूझती हुई किसी वृद्धा धूमावती का साक्षात्कार होता है। कुष्ठ साफ करते हुए गांधी में अनुग्रहशक्ति दीख पड़ती है। अतः शाक्त का सौन्दर्य यथार्थ के उन रूपों से जुडा हुआ है जहां से बेहिचक, सीधी मानवी संवेदनाएं प्रत्येक रूप में बहती हैं। उनकी संभावनाओं की कोई सीमा नहीं। वहां शक्ति इस रूप में प्रतिष्ठापित है, कि सृष्टि अथवा स्थिति लय की कोई ऐसी स्थिति नहीं, ऐसी मुद्रा नहीं, ऐसी भंगिमा नहीं जिसे उसने मुद्राप्रदर्शन या न्यासादिक्रम में प्रत्यक्ष न किया हो। अतः ''सर्वं शक्तिमयं यतः'' के आधार पर शाक्तों की सौन्दर्यानुभूति 'नवरसरूचिर' ही नहीं अपितु 'सर्वरसररूचिर' है। नवरस वहां सबरस का उपलक्षण है।

किन्तु सबरस कहने से बात बिखर कर मानव मस्तिष्क में एक अनियन्त्रित विस्तार की गुह्यता में ही न खो जाए इसके लिए उन्होंने इसे एक सुव्यवस्थित और परिष्कृत करके सौन्दर्यबोध के तीन आयाम स्वीकार किए हैं– प्रथम आयाम है वाक्–सौन्दर्य का जिसके अनुसार मात्रा वर्ण, पद, वाक्य आदि एवम् उनके अर्थगत एवम् विचारगत सौन्दर्य का उन्मीलन। इसमें वाग्वैभव का उन्मेष महाकवियों में प्रत्यक्ष होता है। इसे शब्दशक्तिसौन्दर्य कह सकते हैं । दूसरे को हम रूपगत सौन्दर्यबोध का आयाम कह सकते हैं। किन्तु यहां रूप 'चक्षुर्मात्रग्राह्य' गुण न होकर रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की ऐन्द्रिय अथवा अतीन्द्रिय संवेदनाओं का उपलक्षण मानना चाहिए। क्योंकि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श चारों ही मूर्त भूतों के गुण हैं जबकि शब्द अमूर्त आकाश का। तीसरा आयाम है प्रथम दो आयामों को समन्वित करने वाला विशुद्ध चेतना या तत्त्वज्ञान का। अर्थात् नादातीत चिच्छक्ति की अन्तर की ओर उन्मुखता का जिसे शैव भैरवावस्था कहते हैं। यह अन्तःस्पन्द पूर्णाहंभावना के अनुभव की विशुद्ध गुदगुदी है जिस में जाकर शब्द और रूप के विम्बों के बिना भी चेतना का 'स्व' में विहरण है।

इस प्रकार यह त्रिखण्ड मातृकाचक्र सोमसूर्यानलात्मक है। इसमें क्रियाशक्ति–प्रधान अनल को ऋग्वेद के मन्त्रों में ही ''वृषभो रोरवीति''[25] के द्वारा वाक् का प्रतिनिधि मान लिया गया। सूर्य को रूप, कान्ति, पराक्रम ऐश्वर्य का तथा सोम को पराचिति के अखण्ड सौभाग्य का। क्योंकि सोम तो सदा उमासहित शिव है। इस प्रकार स्वतन्त्रा चिति–शक्ति का अपने आभासन, स्फुरण, विकास, संकोच आदि के स्वयंसिद्ध क्रम से अक्रम रसानुभूति का प्रतिपादन इस ढंग से होता रहता है कि शाक्तों की चेतना में एक ऐसा समावेश निरन्तर ज्वलनशील रहता है जिसे साधकों ने कुण्डलिनी और चक्र–क्रम में स्वयं भोगा होता है।

जागृत कुण्डलिनी का रूपवर्णन सौन्दर्यवर्णन दुर्वासा और गौडपाद आदि महात्माओं ने किया है। अथवा 'अपरिच्छिन्नचिच्छक्तिकलासमावेशतरंगितहृदय' महाविष्णु हयग्रीव ने अगस्त्य मुनि को वह समावेश प्रदान किया जिसको प्राप्त कर अगस्त्य मुनि के लिए सम्पूर्ण जगत् व उसकी क्रियाएं विभावादिक्रम बन गए और वेदान्तियों के शवब्रह्म के भीतर–बाहर नृत्य करती हुई महाशक्ति का नृत्य चमत्कृति प्रदान करने लगा। इस महाकुण्डलिनी के जागरण से प्रकाश की जो दीप्तियां, अनाहत के जो घण्टानाद, वेणुनाद, मृदंगनाद, की तरगें उठीं और उन नादों के आगे पीछे जिन महाशून्यों के अनादि तमस् की घोरताओं का पीड़ाजनक साक्षात्कार हुआ, एक एक चक्र की एक पंखुड़ी में से उठते हुए रूपबोध, रसबोध शब्दबोध स्पर्शबोध बाहर के चक्रों त्रैलोक्यमोहन, सर्वाशापरिपूरक, सर्वसंक्षोभण, सर्वसौभाग्यदायक, सर्वार्थसाधक, सर्वरक्षाकर, सर्वरोगहर, सर्वसिद्धिप्रद आदि से उठकर सर्वानन्दमय बिंदुचक्र में पहुंचते हैं तो शिव कहते हैं ''भोगो योगायते देवि योगो भोगायते चिरम्''। भोग में भी इच्छा ज्ञान क्रिया का सामरस्य है तो योग में "समत्वं योगः" की सिद्धि होती है। अतः शाक्तों का रससूत्र कुछ ऐसा हो सकता है – विभावानुभावसंचारिभावोत्थचिच्छक्तिसमावेशाद्रसनिष्पत्तिः।

अब यह बात कही जा सकती है कि शाक्तों में सौन्दर्य का सारभूत लक्षण इस बात की अपेक्षा रखता है कि शक्ति चित्पदार्थ है और उसका ही सार्वत्रिक स्फुरण होने से दृश्य या भोग्य वस्तुएं भी तद्रूप होने से चित् हैं । द्रष्टा भी चित् है । किन्तु जब वही चिच्छक्ति किन्हीं मानसिक या ऐन्द्रिय उपादानों को स्वेच्छा से ग्रहण कर किसी जीव में प्रतिज्ञा के रूप में स्फुरण होने लगती है तो वही सौन्दर्य बन जाती है। जो फिर अपने स्पर्श से सभी को सौन्दर्य प्रदान करती हुई सौन्दर्य–चेतना के रूप में कलाओं और काव्यों में प्रतिष्ठित है। उसी की एक झलक या छलक किसी शाक्त के इस पद्य में देखिएः–

"एकंध्याननिमीलिनान्मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः
पार्वत्यावदनाम्बुजस्तनतटे श्रृगांरभारालसम्।

अन्यद्दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितम्
शंभोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः।। [26]

जिसमें भगवान शिव का एक नेत्र योगध्यान को प्रकट कर रहा है। दूसरा नेत्र पार्वती के मुखकमल और स्तनतट पर लगने से शृंगार के भार से अलसा गया है और तीसरा नेत्र काम को धनुषबाण से प्रहार करते देख क्रोधाग्नि से प्रज्ज्वलित हो उठा है। इस प्रकार त्रिनयन शिव के तीनों नेत्रों से एक साथ ही छूट रही भिन्न भिन्न रसों की फुहार एवं अभिव्यञ्जना–समाधि सहृदयों की रक्षा करे मैं समझता हूं कि प्रस्तुत एक ही पद्य अपने भीतर समाविष्ट एक पूर्ण महाकाव्य का आस्वाद उत्पन्न करने में समर्थ है।

टिप्पणियाँ :

1. सौन्दर्यलहरी, श्लोक 13 पर अरूणामोदिनी टीका
2. मीमांसादर्शन 1.1.5 पर शाबर भाष्य
3. शुक्लयजुर्वेदसंहिता, 31–18
4. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका 1–5–14
5. शुक्लयजुर्वेदसंहिता, 31–19
6. दुर्गासप्तशती 10–5
7. ऋग्वेद 10–71–4
8. श्रीमद्भगवद्गीता, 10–7
9. "वातुलनाथसूत्राणि" सूत्र–1
10. दुर्गासप्तशती 2–12
11. "ललितासहस्रनाम" श्लोक –1,2
12. काव्यप्रकाश (मंगलपद्य) 1–1

13ए. सौन्दर्यलहरी पद्य 7

13बी. सौन्दर्यलहरी पद्य 8

14. महामनुस्तवः टी. वी. कपालिशास्त्रियार् रचितः, पद्य सं० 8
15. दुर्गासप्तशती 5–90,91,92
16. श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीपूजाकल्पः

संपादक : वी. रामास्वामि शास्त्रुलु मद्रास –1952

17. वह्वृचोपनिषद्

18. ललिताम्बात्रिशतीस्तवः श्लो. 67–68

19. श्रीविद्यादीपिका, अगस्त्यमुनिविरचिता

20. कादम्बरी पृ. 278, 280, 285 (बाणभट्ट), निर्णयसागर प्रैस 1948

21. नीरजा, महादेवी वर्मा

22. ललितासहस्रनाम

23. नाट्यशास्त्र (भरतमुनि) अ० 6

24. अपने 'स्व' की अनुभूति की सामग्री से अपने ही स्वरूप को महेश्वरी मानकर जो आदर से पूजा करता है उसकी पूजा का फल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति है।

25. ऋग्वेद, 4–58–3

26. सौन्दर्यलहरी 10 पद्यसंख्या 51पर सौभाग्यवर्धनी टीका।

ऋग्वेद के दो पक्षियों के साहित्य का रहस्य

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।

प्रस्तुत मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 164वें सूक्त के 52 मन्त्रों में से 20वें स्थान पर है। पूरे वैदिक बोध, फिर पूरे सूक्तबोध, फिर दीर्घकाल से निरन्तर भारतीय चिन्तन–परम्परा बोध आदि विभिन्न बोधों को शत प्रतिशत विश्वास में लेकर हम अपने प्रतिपाद्य मन्त्रदर्शन का हृदयप्रकाशन करना चाहेंगे। क्योंकि शास्त्रज्ञ चिन्तकों के अनुभव में यदि मन्त्र चिन्मरीचियां है, अपौरुषेय चेतना की विभूति का भूलोक में पौरुषेय माध्यम से स्फुरण है तो मन्त्रद्रष्टाओं के बाद मन्त्रव्याख्याताओं का दायित्व और भी गहन हो जाता है। क्योंकि व्याख्याओं की प्रवृत्ति सामान्यतः दिव्यादिव्य पद से उतर कर अदिव्य में अधिक रमण करने की होती है। लेकिन दिव्यार्थ से परिचित कराने में इन व्याख्याओं का पर्याप्त हाथ रहता है। यह ठीक है कि कालगत प्रवाह, इतिहास एवम् जीवन का यथार्थ भोग इन व्याख्याओं को सुनिश्चितार्थ बनाने के प्रयास में सदैव व्यस्त रहते हैं किन्तु गतिशील होने के कारण उनका अपना निश्चित रूप ही अस्थिर रहने के कारण कोई स्थिर व्याख्या नहीं हो पाती। कारण एक और भी है कि व्याख्याकार चाहे कोई भी हो वह मन्त्रार्थ के उद्घाटन के समय अपनी दार्शनिक मतसम्बन्धी या संप्रदायसम्बन्धी मान्यताओं की तुष्टि के लिए मन्त्रार्थ पर स्व को आरोपित कर जाता है। ऐसे व्याख्याकार दुर्लभ हैं जो मन्त्र को अपने पक्ष में बुलाने की अपेक्षा स्वयम् को मन्त्र के प्रति समर्पित करके उसकी चेतना का साक्षात्कार कर उसके स्वरूप का निर्देश करें। कहीं पर व्याख्याकार का अद्वैत में अभिनिवेश रहने से तो कहीं पर द्वैत या त्रैत मतों की बौद्धिक भावुकता की चिपचिपाहट के कारण मन्त्रार्थ रूपविहग अपने पूरे सुपर्ण पंख खोलकर वैदिक चेतना के सुदूर आकाश में पूरी उड़ान भरने की अपेक्षा बीच में ही लौट आता है।

प्रस्तुत मन्त्र के व्याख्यान में आचार्य सायण लगभग उन सभी प्राचीन दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके मूल में पौराणिक नीतिबोध ढीला ढाला सा, कुछ इधर कुछ उधर अर्थ कर देने की सामान्य मानसिकता जो वेदार्थ खोलने के लिए इतिहास और पुराण की ओर अवश्य ही झांक लेना चाहती है, लेकिन दुराग्रही नहीं है। क्योंकि उनके पूर्ववर्ती व्याख्याताओं में याज्ञिकों, ऐतिहासिकों,

नैरुक्तों की पद्धतियां वर्तमान थीं जो वेद को याज्ञिक कर्मवाद, ऐतिहासिक परम्परावाद तथा वाक्तत्त्व–सम्बन्धी अनिवार्य पदनिर्वचन–कल्पनावाद के आधार पर व्याख्या के सांचों में ढालकर वेदार्थ को सामान्य वेदार्थियों के लिए प्रसाद वितरण कर रहीं थीं। ये सभी दृष्टियां अपने अपने व्यावहारिक बोध के बल पर मन्त्रों को अपने अर्थों में ढाल रहीं थीं और वैदिक परम्परा के संरक्षण और संवर्धन के प्रति पर्याप्त जागरूक थीं।

वेदार्थ के नए व्याख्याताओं की शक्ति आधी से अधिक तो इन्हीं तीन या तीन में किसी एक या दो पद्धतियों में कुशलता प्राप्त करने के संघर्ष में चुक जाती हैं। शेष बची शक्ति से वेद के दिव्यार्थ या रहस्यार्थ तक पहुंचना सम्भव ही नहीं रहता। अतः कोई कर्मकाण्डीय दृष्टि का शिकार हो गया है तो कोई पौराणिकता का तो कोई नैरूक्तों की त्रैतदृष्टि का। ये सभी दृष्टियां हमारे द्वारा पर्यालोचनीय ऋङ्मंत्र "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया........" को इन्हीं सन्दर्भों में व्याख्यात करती हैं कि दो सुन्दर गति या पंखों वाले, समान सम्बन्ध से जुड़े हुए मित्र एक ही वृक्ष पर अवस्थित हैं। उनमें से एक स्वादु पिप्पल फल का उपभोग कर रहा है तो दूसरा बिना उपभोग के ही बस देख ही रहा है।

दीर्घतमस् गौतम ऋषि की इस समरस एवम् स्वस्थ अनुभूति या आर्ष मन्त्र–कविता का दर्शन करना एक बात थी और टीका करना दूसरी बात। टीकाकार प्रायः आप्त आगम का अर्थ करते समय शब्दार्थ के सम्बन्ध की खोज में बहुत दूर जाने की अपेक्षा अनुमान की पद्धति का आश्रय ले लेते हैं जिससे अर्थज्ञान की सामान्य दिशाएं तो खुलती हैं किन्तु सप्त महाव्याहृतियों के सप्त द्वार तो नहीं खुलते जो मन्त्र में से होते हुए चतुर्दश भुवनों की राजवीथियों से निकल कर अनन्त समुद्र या अनन्त चेतना के आकाश की ओर ले जाएं। यहां एक और प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि क्या वैदिक मन्त्रों की सर्व लोक–साधारण वाच्यार्थ एवम् लक्ष्यार्थपरक व्याख्या को किसी पद्य–गद्य–ग्रन्थ की व्याख्या के समकक्ष माना जा सकता है या नहीं? यदि माना जा सकता है तो फिर सारी ब्राह्मण–परम्परा एक एक गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् को लक्ष–कोटि संख्याओं पर्यन्त जपमार्ग से क्यों दुहराती रही। क्या उनमें कोई ऐसी सम्भावना रही कि उनमें निहित तात्पर्यार्थ तत्त्वार्थानुभूति में पर्यवसित होकर सम्पूर्ण जीवन को रूपान्तरित कर देगा। मन्त्रों में निहित आर्ष चेतना के स्तर ही उनके तत्त्वार्थ हैं जिन्हें पाने के लिए मीमांसकों ने उपक्रम उपसंहार अभ्यास, अपूर्वता, फल, उपपत्ति आदि लिंगों द्वारा तात्पर्य निर्णय करने की प्रक्रिया का अविष्कार किया तो दूसरी ओर अनतिचारी तन्त्राचार्यों ने बिन्दु से उन्मना तक के उन सप्त स्वरों को खोज लिया जिनमें से होता हुआ मन्त्रार्थ आत्मानुभूति और वैश्वानुभूति के बीच का सेतु

बन जाता है। हम आज के सन्दर्भ में अपने उपास्य "द्वा सुपर्णा" आदि मन्त्र को कुछ इसी दृष्टि से देखने के प्रयास में हैं ताकि उस मन्त्र की व्याख्या–टीका केवल पद–पदार्थ बोध तक ही सीमित न रह कर दृष्टि के रूप में उन्मिषित हो, एक दर्शन की गरिमा से मण्डित हो।

जो लोग दार्शनिक–विश्लेषण के तत्त्वबोध को रस–दृष्टि से भिन्न नहीं समझते वे लोग जानते हैं कि मन्त्र–दर्शन के स्पष्टीकरण में "सुपूरा कुनदिका" एवम् "सुपूरो मूषिकांजलिः" की मानसिकता अपात्रता में बदल जाएगी। अतः छोटी मोटी भावुकता या तथाकथित रसिकवृत्ति से मन्त्र–दर्शन को आत्मसात् नहीं किया जा सकता। तथ्यनिष्ठ ऋतदृष्टि अथवा सौन्दर्यनिष्ठ सत्यदृष्टि, जिसकी मेधा के रूप में वरुण आदि देव एवम् पितृगण उपासना करते हैं उसी परम स्वच्छ मेधा के लिए अग्नियों से प्रेरित हो हम याचना करते हैं कि हमें भी वह मेधा प्राप्त हो। प्रत्यक्ष सृष्टि के सत्यों के साथ छोटे छोटे मानवीय सम्बन्धों की कल्पना द्वारा स्वप्नसृष्टि की रचना करने वाली दृष्टि चाहे पुराणकालीन हो तो चाहे वर्तमानकालीन उस ऋत–दृष्टि के साथ संवाद नहीं स्थापित कर पाती। किन्तु फिर भी वैदिक मंत्रों को आधार मानकर लोगों ने पूरे का पूरा दर्शन खड़ा करने का प्रयास किया है जिस का परीक्षण हमारे अभीष्ट मन्त्र की व्याख्या के सम्बन्ध में अपरिहार्य है।

इस बात का ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा कि वेद–मन्त्रों की जो व्याख्याएं वर्तमान में उपलब्ध होती हैं वे सभी उस काल की हैं जब सारे भारत में ही दार्शनिक गतिविधियों अपनी चरम सीमा पर पहुंचकर निश्चित प्रणालियां बन चुकी थीं। विद्वान् लोग ढीले ढाले विचारों की अपेक्षा निश्चित विचार–प्राप्ति के लिए दुराग्रह तक भी कभी चले जाते तो बुरा नहीं माना जा रहा था। दार्शनिकता के लिए अपेक्षित सहज और अग्रगामिनी प्रतिभाएं विभिन्न दर्शनों के सूत्र–ग्रन्थों की सर्जना कर चुकी थीं। अब उन्हीं के पठन–पाठन या प्रतिपादन के आधार पर शास्त्रीयता उन्मुक्त दार्शनिकता का स्थान ले चुकी थी। फलतः द्वैत, अद्वैत आदि आदि कई दृष्टियां एक साथ काम कर रहीं थीं। वैदिक मंत्रों का तत्त्वार्थ–नियमन इन्हीं दृष्टियों द्वारा हो रहा था। दक्षिण भारत की ओर से बहकर आते हुए भक्ति–दर्शन ने ईश्वर, जीव, प्रकृतिसम्बन्धी मान्यताओं को कुछ भिन्न प्रकार का रंग दे दिया था। इन दृष्टियों में विशुद्ध दार्शनिकता की अपेक्षा जिज्ञासा को ही दर्शन बना देने की बजाए सुनिश्चित आस्थाओं और विश्वासों की ही पुनः पुनः पुष्टि हो रही थी। वेदार्थदर्शन में परम्परा–प्राप्त इन्हीं दृष्टियों को सम्मुख रख कर फिर इनका अतिक्रमण करके "द्वा सुपर्णा सयुजा" मन्त्र का दर्शन प्राप्त किया जा सकता है।

हमारा प्रस्तूयमान मन्त्र ऋग्वेद के 'अस्यवामीय' सूक्त में जिस सन्दर्भ में प्रतिष्ठित है वैसा आथर्वण शौनकीय मुण्डकोपनिषद् में या कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी नहीं है। मुण्डक के अध्याय 3, खण्ड 1 में प्रथम मन्त्र ही "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" है उसका तुरन्त उत्तरवर्ती मन्त्र है –

"समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।

मन्त्रक्रम की दृष्टि से यही स्थिति श्वेताश्वतर की है। केवल इतना अन्तर है कि श्वेताश्वतर में इन दोनों मन्त्रों से पूर्व का मन्त्र "अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां......" रचनात्मक प्रकृति–शक्ति निरूपण–सम्बन्धी है। उपनिषदों के इस मन्त्रक्रम को देखते हुए कोई भी व्याख्याकार मन्त्रार्थ करते समय सादृश्य प्रमाण के आधार पर एक मन्त्र में प्रकृतिरूप अजा का, दूसरे में ईश्वर पिता का, तीसरे में जीवरूप पुत्र का निरूपण मान लेता है। क्योंकि मानवीय सन्दर्भों में सुनिश्चित सम्बन्धों के आधार पर ही ईश्वरीय सम्बन्धों को समान मान लिया जाता है। केवल अणु और महत् का भेद कर लिया जाता है। मानवीय सन्दर्भ जहां बहुत छोटा एवम् परिच्छिन्न है वहां ईश्वरीय जो भी हैं वह विराट् है महनीय है। इस प्रकार की सुविधाजनक आस्था की रक्षा के लिए किसी तार्किक प्रणाली का आश्रय लेना दार्शनिकता के लिए शोभनीय नहीं है या उसे अध्यात्मानुभूति को सूक्ष्मता के आधार पर भी बहुत अग्रसर नहीं माना जा सकता। क्योंकि इस प्रकार की अवधारणा पर स्पष्ट ही हमारे सामान्य एवम् व्यावहारिक सम्बन्धों की स्थूल एवम् मायाविनी छाप रहती है। मनीषी लोग बराबर अनुभव करते आए हैं कि यह मायाविनी छाप हमारे इन्द्रिय–दशक के व्यवहार से लेकर सम्पूर्ण मानसिक व्यापार तक फैली हुई है जिसके अपावरण के लिए उपनिषद् का ऋषि भी पूषन् से प्रार्थना करता है और सभी परवर्ती चिन्तक भी। क्योंकि अन्तःप्रसविनी यह माया जो हमारे ही संस्कारों और कर्मों के भीतर से निरन्तर प्रसूत होती रहती है वह किसी को संस्कार–वृत्ति के बल से एक ही तत्त्व को अनेकरूपों खण्डों में विभाजित कर अनेकवादी सत् का दर्शन करा देती है। और किसी को एकाग्रवृत्ति के बल से अनेक को एक की रस्सी में बांट कर 'एकं सत्' का अनुभव करा देती है।

अतः दार्शनिक विश्लेषण के मूल में शब्दों, अर्थों, वाक्यों और उनकी वृत्तियों के प्रचलित व्यवहारों के अतिरिक्त एक मानसिकता रहती है। उस मानसिकता का रूप–रंग प्रतिकाल में बदलता रहा है। वह मेरी, आपकी, सबकी विज्ञानधारा है जो परितवर्तन के पहियों पर इतिहास की पटरी पर चलती है, दौड़ती है, कभी कभी रुक भी जाती है। पर अधिकतर दौड़ती ही है। वह उस सूर्य के साथ

बन्धी हुई है जो स्वयम् कालपुरुष है और एक चक्र पर ही आरूढ हो कर अनन्त काल से अनन्तकाल तक के लिए "चरैवेति" का ध्वज़ लेकर अग्रसर है। इसी सूर्य ने वेद के ऋषियों को असत्, तमस् और मृत्यु के पार आदित्यवर्ण पुरुष से मिलवाया, इसीने पौराणिकों से सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी इतिहास लिखवाए। और यही सूर्य भारतीय दार्शनिकों की चेतना का चित्सूर्य बनकर उनके प्राणों की प्रेरणा बन गया। सायण कहते हैं कि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४ वें सूक्त के प्रथम मन्त्र "अस्य वामस्य पलितस्यहोतुः का देवता काल–पुरुष कहो या संवत्सर पुरुष वह यही स्वर्णविहग है जिसके विषय में सांझ के समय कवि लोग पूछते हैं :

तरुशिखरों से वह स्वर्ण–विहग
उड़ गया खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा–नीड में रे किस मग ? (सुमित्रानन्दन पन्त)

और प्रातः अरूणोदय से पूर्व ही वह हंस के समान नील नभःसर में तैरता हुआ स्थावर और जंगम सृष्टि की आत्मा बन कर निकल आया है। उस चित्सूर्य के वैभव को देखकर ऋषियों के अन्तर में प्रकाश उतर आया। उसीको महिमा–मण्डित करने के लिए "वाम–पलित" सूक्त का अवतरण हुआ। वह जो प्रातःकाल में उषा का अरूण राग लेकर वाम रूप होकर आया था, युवा प्रकाश लाया था, वही सन्ध्या के समय प्रौढ या पलित प्रकाश देकर जा रहा है। उसीके किन्हीं दो रूपों की संकल्पना हमारे व्याख्येय मन्त्र में संभावित तो नहीं? अथवा सूक्त 164 के प्रथम 19 मन्त्रों में सूर्य के सन्दर्भ में ही अग्नि और वायु की विभिन्न चर्चाओं के बाद 16वें मंत्र में हमारे सूक्त की दिशा पलटती है और सूर्य के सन्दर्भ में सोम आ छलकता है। निचले स्तरों पर या पृथिवी पर जो सम्बन्ध अग्नि और जल का था, ऊपरी आकाश में जाकर वह सूर्य और सोम का लोकोत्तर सम्बन्ध बन कर आया। "सोमेनादित्याः बलिनः " के सिद्धान्त के अनुसार अकेले सूर्य को भी अपने यज्ञकर्म की पूर्ति के लिए सोम का साथ लेना पड़ता है। अग्नि–सोम का लोक नीचे का था, आदित्य–सोम का जगत् ऊर्ध्वलोकों में से प्रखर और सौम्य प्रकाश की वर्षा करने लगा। तन्त्र कहता है कि आदित्य, जो अपने ज्वलनशील किरण–समूह में उग्र रूद्र था वही सोमपान का साहचर्य प्राप्त कर उमा सहित होकर, सौम्य शिव बन कर अपने मस्तक पर सोमकला को धारण करने लगा। इस सोमतत्त्व की व्यापकता को अनुभव करते हुए ऋषियों ने सोम के विषय में उद्‌गार प्रकट करते हुए कहा कि

त्वमिमा ओषधीः सोमस्त्वमपो अजनयंस्त्वं गाः।
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ।।
(ऋ० १–९१–२२)

अर्थात् हे सोम ! तुमने ओषधियों, जलों और गऊओं को जनित किया है। तुम अपनी ज्योति से अन्धकार को दूर कर विशाल अन्तरिक्ष को व्याप्त कर लेते हो।

निश्चय ही, तत्त्व के रूप में यह सोम, अपनी स्थिरता और धैर्य में सक्रिय तत्त्व है ठीक वैसे ही जैसे कि मातृतत्त्व में गर्भस्थ शिशु अपनी जन्मस्थापना के साथ ही चारों ओर से सम्पुटित होने पर भी भीतर से सक्रिय ही रहता है। यह एक प्रकार की समाधिस्थ गतिमती क्रियाशीलता है। अन्तरिक्ष में दृश्यमान चन्द्रमा देखने में भले ही हमें लघुकाय ही प्राप्त हो, पर रात्रि में जब जब वह महिमामण्डित हो कर निकलता है तो संवेदनशील हृदयरूप चन्द्रकान्तमणियों में से उन प्रेमा अनुभूतियों, रहस्यात्मक कविताओं का प्रतीयमान निष्यन्द उमगने लगता है कि संपूर्ण तृण, तरु, लता आदि भी रसाभिभूत होकर मोतियों जैसे रसबिन्दुओं को छलकाते हुए मौन साक्षी दे जाते हैं कि रात भर की रासलीला में हम भी भागीदार थे। उस रात में न दिन की तापज्वाला थी न दुराग्रही अन्धकार का आतंक अपितु ज्योत्स्नाभिभूत तमस् के संयोग से भागवत सत्ता की प्रतिनिधि नील चिन्मणि का आविष्कार था–

मनस्तापतमःशान्त्यै यस्य पादनखच्छटा।
शरच्चन्द्र इवाभाति तं वन्दे नीलचिन्मणिम् ।।

इस लिए रात्रि के उस नील–प्रकाश की अनासक्त रसस्रुति या रास को जो जानते हैं, उन्हें सोमतत्त्व का वह प्रकाश उपलब्ध हो ही जाता है जो, 'अनश्नन्' अर्थात् बिना उपभोग के अनासक्त सा 'अभिचाकशीति' अर्थात् प्रकाशित होता है। किन्तु सृष्टि का प्राणरूप सूर्य तो 'अनश्नन्' नहीं है। वह अत्ता है, भोक्ता है, आनन्दभुक् हैं। वाणभट्ट जैसे महाकवि भी किन्हीं सुगूढ ज्यौतिष एवम् पौराणिक संकल्पनाओं के आधार पर पुण्डरीक के सौन्दर्यपरीक्षण के अवसर पर सूर्य के इस अत्ताभाव की ओर संकेत करते हुए कहते हैं –

"सकलाः कलाः कलावतो बहुलपक्षे क्षीयमाणस्य सुषुम्ना नाम्ना रश्मिना रविरापिबति इति (कादम्बरी–महाश्वेतावर्णन)"

वेद में संपादित इस ब्रह्माण्डीय सत्य की बात है कि सूर्य की एक सुषुम्णा नाडी है जिससे वह सोम के अमृत का पान करता है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव करने का दावा तन्त्र–योग में पिण्ड के स्तर पर भी होता रहा है। हृदयस्थित सूर्यकुण्डलिनी सहस्रारस्थित सोमकुण्डलिनी के प्रवाह को सुषुम्णा की सामर्थ्य से सम्पूर्ण देह में संचार करवाकर निरन्तर समावेश के सुख का आस्वादन करवा देती है। सुषुम्णा से अतिरिक्त सूर्य की असंख्य रश्मि–नाडियां तो केवल स्थूल

जलों या रसों का ही उपभोग करा कर रस–शोषण या परिपाक की विधि से वर्षा आदि में निमित्त बनती हैं। अतः सूर्य का आस्वादयिता का रूप भौतिक रश्मि–प्रवाह के माध्यम से भी सिद्ध होता है और अध्यात्म एवम् योग के माध्यम से भी। अतः इस वृंहणशील सृष्टि–वृक्ष पर बैठा यह स्र्वणविहग उस वृक्ष के स्वादु फलों का उपयोग रचनाधर्मिता के साथ करता है। सारी सृष्टि में जो कच्चा है, अस्वाद है, उपभोगयोग्य नहीं है, उसे स्वादुता परिपक्वता प्रदान करता है।

वास्तव में वैदिक मन्त्रों में (विशेषतः ऋग्वेद में) ऋषियों की दृष्टि मूलतः संवेदनाशील सौन्दर्य–दृष्टि है और फलदृष्टि भी। महाकवि कालिदास को "सौभाग्यफला हि चारूता " की सूझ संभवतः वहां से प्राप्त हुई थी। किन्तु 600 ई० पू० बुद्ध के उदय के साथ श्रुति के मर्म को पहचानने वाली दृष्टि का ह्रास होता चला गया। फलतः वैदिक दर्शन को ग्रहण करने के लिए रस–दृष्टि का स्थान बौद्धिक दार्शनिकता या वैचारिक सूक्ष्मतावाद ने ले लिया। तब अर्थों के सन्दर्भ बदलने लगे। आत्मा–परमात्मा, जीव और ईश्वर की समस्याएं प्रबल हो उठीं। जीव क्षुद्र और ईश्वर महान् की कल्पना ने दोनों की नियति निश्चित कर दी। कर्ता भोक्ता जीव की सर्वत्र दुखान्त परिणति का, ईश्वर की सुखान्त या निस्संग परिणति के साथ कोई सम्बन्ध हो भी सकता है, यह बात कहीं आवश्यकता से अधिक तूल पकड़ गई। तब श्रुति का वह "ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख" यह सनातन सृष्टिवृक्ष अनित्यता और दुखवाद की दृष्टि से निरूपित होने लगा। मन्त्रस्थ वृक्ष पद की व्युपत्ति उसकी कटाई के दृष्टिकोण से होने लगी। वृंह् से व्युत्पन्न होने की अपेक्षा व्रश्चनाद् अथवा वृश्च्यते इति वृक्षः कह कर वृक्ष की सारी महिमा छीन ली गई और उसे एक नष्ट होने वाली सृष्टि का प्रतीक मान लिया गया, नष्ट–शरीर मान लिया गया – जिसकी ऊपरी टहनी पर एक निस्संग द्रष्टा पक्षी बैठा है तथा दूसरी पर फलोपभोग की लालसा से उत्तेजित कर्ता पुरुष या पक्षी। दोनों में क्या सम्बन्ध हो सकता है? लेकिन मन्त्र तो दोनों को "सयुजा" या "सखाया" कह कर दोनों को समान पद पर प्रतिष्ठित करता है। दोनों के सख्यभाव को सेवक–सेव्य–मूलक दास्यभाव में कैसे घटित किया जा सकेगा।

प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या के विषय में आचार्य शंकर ने अपने निर्विकल्प अद्वैत के कोण से ब्रह्मसूत्र के शारीरिक भाष्य में पर्याप्त मात्रा में जोड़ तोड़ लगाया है। जोड़ तोड़ इस अर्थ में है कि आप पहले ही एक पूर्व धारणा बना चुके हैं कि श्रुत्यर्थ पूरे का पूरा निष्प्रकारक निरालम्ब चेतना का दर्पण है। ऐसी स्थिति में सौन्दर्य या आनन्द का स्वरूप क्या रह जाएगा? यदि आपके मन में यह कसक है कि सौन्दर्य तो सारा उपाधिमात्र है, सुपर्णा के पंखों की या सुवस्त्रों की रंगीनी, सयुजा में घनिष्ठता की अनुभूति तथा सखाया की परस्पर की आन्तरिक पहचान

और समान वृक्ष पर पड़ोस में रहने की राष्ट्रीयता ये सभी अविद्या और कामकर्मादि के मल से दूषित वासना का परिणाम है तो ऋग्वेद के उन मन्त्रों का क्या होगा जिन में सुवासा युवतियां दीप्यमान सूर्य, चन्द्र एवम् नक्षत्रों के साथ खेलती हैं, जहां ब्रह्म भी अपने एकाकीपन से परेशान होकर बहुत होने की इच्छा से आन्दोलित होने लगता है। ब्रह्म के आनन्दमय अधिकरण में शंकर सिद्धान्तवाक्य की सी भाषा में ब्रह्म की द्विरूपता को स्वीकार करते हुए कहते हैं –

"द्विरूपं ब्रह्मावगम्यते – नामरूपविकारभेदोपाधि
विशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।
एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसम्बन्धं निरस्तोपाधिसम्बन्धं
चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यते"।

प्रस्तुत दोनों भाष्य–वाक्य अनाम अरूप ब्रह्म को पहले तो नामरूप देकर विशिष्ट बनाते हैं तथा फिर उसे ब्रह्म की उपाधि से जुड़ने की अपेक्षा को भी द्योतित करते हैं। किसी भी जिज्ञासु के इस प्रश्न, "कि उपनिषद का ब्रह्म अपने अकेलेपन से क्यों डर गया" का उत्तर देना बड़ा घुमावदार हो जाएगा। और भी घुमावदार इसलिए हो जाएगा कि जब ब्रह्म को एक तरफ तो चर और अचर का ग्रहण या ग्रास करने से श्रुति अत्ता कहती है (ब्र० सू 1-2-9) तथा उसमें स्थिति और अदन (खाना) की क्रिया को देखकर श्रुति अपने मुंह से न तो उसे मायोपाधि– विशिष्ट ईश्वर कहती है न ही कर्ताभोक्ताक्षेत्रज्ञ (ब्र० सू 1-3-7)/ बल्कि कठवल्ली में श्रुति एक स्पष्ट उद्घोषणा अवश्य करती है कि जिन लोगों ने तीन वार नाचिकेता अग्नि का चयन किया है अथवा जो पंचाग्नि–उपासना करते हैं उन्होंने छाया और आतप तत्त्वों को पर से भी आगे परार्धमात्रा में स्थित सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुकृत लोक की एक गुहा में प्रविष्ट होकर ऋत का पान करते हुए देखा है (काठ० 1-3-1)। तो इस युगलभाव को या यामल भाव को हम तुच्छ उपाधि कहने में झिझकने लगते हैं। क्योंकि इस यामल–भाव के पीछे भी धर्म–धर्मी भाव का अद्वैत है जो न तो निर्विकल्प है न ही निष्प्रयोजन। वह संभवतः नर और नारायण का अद्वैत जो छाया और आतप के प्रयोग से स्फुरित होता है। अमरकोषकार छाया का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि "छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः।" आश्चर्य है कि छाया को अन्धकार, एक बार भी नहीं कहा। यदि वह सूर्य की प्रिया हैं, उसकी कान्ति है या प्रतिबिम्ब है तो वैदिक मन्त्र के "छायातपौ" का सम्बन्ध उस रस–भाव से है जहां एकान्त में कहीं भी व्यर्थ कामनाओं का कोलाहल हट चुका है और परम से भी पर के ऊपरी आधे हिस्से के गुहाभवन में केवल दो ही ऋत–पान करने के लिए अद्वैत की नीरव एकाकिता को तोड़कर सजीवता और सचेतनता के स्तर पर एक हो जाते हैं। शाक्त पण्डित

कहते हैं कि जब अनाहत चेतना के स्तर पर संवित् का कमल खिलता है तो उसके मकरन्द का पान करने का रसिक यह एक हंस का जोड़ा महामनीषियों के मन–रूप मानसरोवर में जब प्रेमालाप करने लगता है तो वह आलाप ही अष्टादश विद्याओं में परिणत हो जाता है (दे० सौन्दर्यलहरी पद्य)। परस्परालाप की तो यही प्रक्रिया है कि एक बोले तो दूसरा केवल सुने और चहके। यदि एक 'अत्ति' के भाव में आता है तो दूसरा 'चाकशीति' के भाव में चला जाता है। वहां किसी में कर्तृत्व भोक्तृत्व का छोटापन नहीं और दूसरे में निस्संग और निर्लेप होने की साक्षिता का दम्भ नहीं। ऋग्वेद का ही त्रिपुरोपनिषद् द्वयाद्वयवाद का जिस ढंग से निरूपण करता है उसकी एक झलक से सब स्पष्ट हो सकता है–

भगश्शक्तिर्भगवान्काम ईश उभा दाताराविह सौभगानाम् ।
समप्रधानौ समसत्वौ समो तयोरजरा विश्वयोनिः ।।14।।

निसँशय, हमारे स्वाध्यायान्तर्गत मन्त्र में जो 'द्वा' सुपर्णा, सयुजा या सखाया हैं वे परस्परालिंगित अर्धनारीश्वर का समान देहरूप वृक्ष का आलिंगन है। क्रिया और अकाम कामना के युगनद्ध की मूर्ति सा यह मन्त्र उपासनीय स्तर का है जिसका दर्शन या तात्पर्य ईश्वर–जीव का भेद, या अभेद सिद्ध करने के लिए भेद की औपाधिक कल्पना अथवा जडसत्त्वा बुद्धि और जीव के कर्मफलभोग और अभोग की बहस करना नहीं है। यद्यपि ईश्वरानीश्वरवादी आचार्यों ने कभी पैंगि–रहस्य ब्राह्मण और ब्रह्मसूत्र के उद्धरणों को देकर इसे खूब विवादास्पद बनाया है। अद्वैताचार्य श्रीनृसिंहाश्रम सरस्वती ने अपने ग्रन्थ अद्वैतदीपिका के द्वितीय परिच्छेद में प्रस्तुत मन्त्र का दार्शनिक विश्लेषण तत् और त्वम् पदार्थ–विधि शोधन के माध्यम से किया है। वह बुद्धोत्तरकालीन संन्यास की दृष्टि से किया हुआ विश्लेषण भी विद्वानों के लिए स्पृहणीय हो सकता है। किन्तु बुद्ध–पूर्व के सवीर्य और सरस ऋषि प्राणों की चेतना के अधिक अनुकूल वह नहीं लगता। क्योंकि वेद कहीं भी निर्वीर्य निस्संगता का बौद्धिक वेदान्त का पक्षधर नहीं लगता। फिर यह भी कल्पना करना सुगम लगता है कि "अपां रसस्य यो रसः" योवः शिवतमो रसः" मध्वदः, "मधुमाँ अस्तु सूर्यः" "आदित्यो वै देवमधु," "रसो वै सः" की संवेदना में आकण्ठ निमग्न लोग "स्वादु पिप्पलम्" का अर्थ यहां जीवों को सामान्य कर्मों से पैदा सुखदुख से करना चाहते होंगे। किन्तु "स्वादु पिप्पलम्" का अर्थ एक अन्य वैदिक सन्दर्भ से एक विलक्षण महासुख का परिचायक सिद्ध होता है। "चरन्वै मधु विन्दति चरन्त्स्वादुमुदुम्बरम्"। इस वैदिक मंत्र में स्वादु उदुम्बरम् के प्रयोग पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाएगा कि वह मीठा उदुम्बर फल नैराश्य दर्शन का खट्टा, कड़वा, तीता कसैला फल नहीं है, बल्कि यह तो "आनन्द ब्रह्मणो रूपम् तच्च देहे प्रतिष्ठितम्" अथवा "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" का

रसवत् फल है। इस सन्दर्भ में और भी बहुत प्रमाण मिल सकते हैं। किन्तु प्रस्तुत प्रकरण में इतना ही पर्याप्त है। हमारे विचार में प्रस्तुत मन्त्र क्रियानन्द और ज्ञानानन्द के सामरस्य की भूमिका के रूप में गृहीत होना चाहिए। शैवों का विमर्श क्रियाशील होकर और शिव प्रकाशशील होकर "द्वा सुपर्णा" के हिरण्मय आवरण में यदि सुखासीन हैं तो उसको अथर्ववेद के मुण्डकोपनिषद् के मन्त्र "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः" के सन्दर्भ में जोड़कर नहीं देखा जाना चाहिए।

आचार्य अभिनवगुप्त-प्रणीत स्तोत्रों में रस-साधना का दर्शन

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से लेकर आज तक रस के स्वरूप को लेकर जितनी भी परिकल्पनाएँ की गईं वे कहीं न कहीं किसी रूप में सादृश्यमूलक होकर मार्ग भटक गईं। फलतः रस की बात साहित्यसमीक्षा या सौन्दर्यबोध के गहन स्तरों के पास जाकर भी हाथों में से फिसल जाती है। अतः रस को लेकर की जाने वाली चर्चा कहीं रुकने का नाम नहीं लेती। किसी सादृश्य के आधार पर की जाने वाली बात रसानुभूति को वाच्य बना देती है। परिणामतः लोल्लट चाहे किसी उत्पत्तिमूलक सादृश्य को लेकर अपनी व्याख्या दें, शंकुक अनुमितिवादी 'चित्रतुरगन्याय' का आश्रय लेकर अपनी बात कहें, भट्टनायक भोगानुभव की समानता को लेकर भावकत्व के माध्यम से रसभोग की बात कहें, या फिर आचार्य अभिनवगुप्त की रससिद्धान्तपरक व्याख्या को 'अभिव्यक्तिसादृश्य' के साथ जोड़कर देखें। बात सीधी होने की बजाए रसेप्सु के मन में अनेक शंकाओं और अनुत्तरित प्रश्नों को छोड़ जाती है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त की स्वरचित कुछ काव्यरचनाओं के आधार पर हम उनकी रसदृष्टि का उन्मेष करने का प्रयास यहाँ करेंगे।

यह ठीक है वैदिक वाङ्मय में रस शब्द या उसके समान्तर 'मधु', 'सोम', 'घृत', पयस् आदि कुछ ऐसे पदों का स्थान स्थान पर प्रयोग हुआ है जिन के सेवन से मरा या सूखा सड़ा सा जीवन–प्राण फिर से उमग उठता है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्राणविद्या अधिकरण में सत्यकाम ने व्याघ्रपाद के पुत्र गोश्रुति को मानवदेह में समस्त अंगों के रसभूत प्राण के रहस्य को देते हुए अन्त में यह कहा कि यदि इस प्राण के रहस्य को किसी सूखे ठूंठ के सामने भी कहा जाएगा तो उसमें फिर से शाखाएं फूट पड़ेंगी और कोंपलों के कोमल अंकुर भी उग आएंगे *"यद्येनत् स्थाणवे ब्रूयात् जायेरन् एव अस्मिन् शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि* (छान्दोग्य उ० V. 23)।

उपनिषदों की यह चित्रमयी भाषा जो ऋचाओं के उद्‌गम के साथ ही जीवन की प्राणवत्ता को उसके उसी मूल रूप में मुखरित करती आ रही थी वह सभ्यता के बोझलपन से दूर संस्कृति की सारस्वत धारा थी। परवर्ती आश्वलायन श्रौत सूत्र (अ० 3 पंचयज्ञ प्रकरण) में इस वैदिक ब्रह्मविद्या की तरलता स्वादुता और सौष्ठव को एक वाक्य में उपसंहृत करते हुए कहा गया कि ऋचाओं के अध्ययन में दूध की धाराओं का रस, यजुर्वेद के मंत्रों के पाठ में उठती हुई घृत

की सुरभियों का आस्वाद और ब्राह्मणग्रन्थ, कल्पसूत्र, गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण के अनुशीलन में अमृतपान की तृप्ति का आनन्द, ये सब, इस अमृतावाक् के चर्वण का फल हो सकते हैं। यह अकृत्रिम संस्कृता वाक् नारद जैसे तत्त्वजिज्ञासु के प्रति जब सनत्कुमार के मुख से उपदिष्ट होगी तो वहाँ सभी प्रकाश की उपासना में रत लोगों को जीवन के तमस् या अन्धकार के उस पार ले जाएगी जिसे 'स्कन्द' कहा जाता है। जीवन की प्रथम रश्मियों का वह प्रवाह जहां एक बार झांक लेने के बाद ज़िंदगी की दैनन्दिन या रोज़मर्रा की छोटी–छोटी वस्तुओं की तांक–झांक की वासना का सिलसिला समाप्त हो सकता है। क्योंकि वह स्कन्द उस पवित्रता और नैर्मल्य का नाम है जिसके आसपास दूर दूर तक कहीं कोई छिलका या आवरण–पात्र का नामोनिशान तक नहीं। उसी को कोई–कोई *"अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्" कहते हैं।* वह धूमरहित वह विशोका समाधि है जिसको एक बार छू लेने के बाद रोज़–रोज़ मरना नहीं होता।

हिमालय के दक्षिण की ओर और समुद्र के उत्तर की ओर निष्पाप निवास करने वाली जिन जातियों या प्रजातियों के हाथ यह रहस्य लग गया उनकी पीढ़ियाँ इस रसानुभूति को किसी भी प्रकार से हाथ से न जाने देने के लिए विवश थीं। परवर्ती सभ्यताओं के बढ़ते हुए संघर्षों और उठते हुए कृत्रिम नैतिक मूल्यों के दबाव के अतिरिक्त उन लोगों ने कुछ ऐसे चैनल या सुरंगें बनाने का प्रयास बनाए रखा ताकि धर्म, अर्थ काम की बहती हुई त्रिवेणी के स्रोत ही न सूख जाएं। यह रसानुभूति का मानसर संभवतः शैवों के कैलाश से बहुत दूर नहीं था। महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त के प्राण इन्हीं हिमाचल की उपत्यकाओं में मंडराते हुए जब मुखरित होते हैं तो उनके काव्य की मर्मस्पर्शिता उनके पाठकों को भी उस 'अनुत्तर' पद का साक्षात्कार कराने लगती है और उनकी काव्यप्रतिभा समाधिकाव्य की सृष्टि करने लगती है जिसमें प्राणों का संचार स्वतः स्तब्ध होने लगता है। बन्ध और मोक्ष की शास्त्राभ्यास या भोगाभ्यास से बनी हुई कल्पनाएं स्वतः ही निर्बन्ध होकर खुल जाती है। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति या रात के अन्धेरे में किसी छाया को पिशाच समझ बैठने की भ्रान्ति का आतंक स्वतः मिट जाता है, तथा पदार्थों के ग्रहण एवम् त्याग की अहंता का हिमखण्ड पिघल कर स्वस्थता में रूपान्तरित हो जाता है। इसलिए यह मानकर चलना होगा कि नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नामक भाष्य लिखते हुए आचार्य अभिनवगुप्त की संवेदना अभिनवरूपा शक्ति और उस शक्ति में निगूहित जो महेश्वर हैं, उन दोनों के यामलरूप को आत्मसात् करके शिवता की भूमि पर दृढ़ता से पैर जमा चुकी थी। आचार्य की रचना परमार्थचर्चा पर विवरण आरम्भ करते हुए हरभट्ट कहते हैं :–

अभिनवरूपा शक्तिस्तद्गुप्तो यो महेश्वरो देवः।
तदुभययामलरूपमभिनवगुप्तं शिवं वन्दे ।।

शिव–शक्ति के इस यामलभाव के परमेश्वर की इच्छामात्र से कल्पित होने के कारण किसी भी रूप में संवित् शिव से भिन्न न होने से उनमें अद्वैतता कभी खण्डित नहीं होती। लगता है कि परवर्ती वैष्णवसाहित्य में भी द्वैतता को अद्वैतता का ही रूप कल्पित करते हुए कहा गया है– "लीलार्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्"। परन्तु काश्मीर शैवाचार्यों ने 'लीला' पद के स्थान पर परमेश्वर की स्वेच्छा और उसके उन्मुक्त स्वातन्त्र्य को ही क्रीड़ारस में उपयोगी बनाया। अभिनव कहते हैं :–

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः ।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपद् विभुः।।

अपनी ही विमर्शशक्ति से नित्य क्रीड़ा करते हुए शिव का संपूर्ण सृष्टि में और मानवचेतना के प्रत्येक केन्द्रीय धरातल पर प्रतिपल जो क्रीडन हो रहा है वही तो नाट्यकला का मूल है। शिव की नाट्यक्रीड़ा में शिव स्वयम् ही नटराज की भूमिका करते हुए अज्ञान की ग्रन्थियों को तोड़ते हुए जब अपनी 'स्वशक्ति' की अभिव्यक्ति करने लगते हैं तो घनिष्ठता या गहनता की उस सान्द्र अनुभूति में आनन्दरूप मोक्ष उच्छल हो उठता है –

"अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः (परमार्थसार 60)

काव्य एवम् काव्य की ही एक कला नाट्य के द्वारा इसी क्रीड़ारस को अपने सहृदयों के हृदय में जगाने के नैपुण्य को ही भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र का विषय बनाया है। कालान्तर में उस नाट्यशास्त्र की कुछ एक अपव्याख्याओं में ग्रन्थकारों के अपने अपने बुद्धिभेद से किए गए अपकर्ष के कारण आचार्य अभिनवगुप्त ने शैवी व्याख्या देकर अत्यन्त निगूढ़कोमल कुछ एक सहृदय लोगों द्वारा ही अपने अन्तरंग में स्फुरित होने वाली रस–संवित् को ठीक प्रकार से अभिव्यक्ति की दिशा देकर नाट्यशास्त्र की दृष्टि के अनुकूल रससूत्र की व्याख्या दी। कारण संभवतः यही था कि महेश्वर के उपासक लोगों को यह पता था कि शिव नटराज हैं। यह विश्व, जो रंगशाला है उसमें नटराज की आत्माभिव्यक्ति उनकी आनन्द की उच्छलता के अतिरिक्त क्या है? वह अनुत्तर शिव के विश्व में परिपूर्ण अहंभाव के ही चमत्कार का उल्लास है।

अभिनवगुप्त की रचना श्रीबोधपञ्चदशिका के टीकाकार श्री हरभट्टशास्त्री श्लोक 14 की व्याख्या करते हुए कहते हैं "स्वेच्छयैव स्वात्मप्रच्छादनक्रीडा–रसिकत्वान्महेश्वरो विश्वनाट्यक्रीडाप्रदर्शनाभिप्रायेण अन्तरात्मरंगे तत्तद्भूमिकाग्रहणं

विदधद् विभावानुभावादिभिर्व्यञ्जितैः सात्विक भावादिसहितैस्तत्तत्स्थायिभावैः समुन्मिषितामलौकिकरसचमत्कृतिमास्वादयति। एतद् वास्तवार्थाभिज्ञानविरहादपराभिः शक्तिभिः प्रमुषितपरमार्थानां बन्धाभिमानो जायते (बो०पं०पृ०16) कि शिव अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से ही क्रीडा को प्रदर्शित करने के अभिप्राय से अन्तरात्मा के रंगमञ्च पर पृथक् पृथक् भूमिका को लेकर विभाव और अनुभाव आदियों से व्यञ्जित तथा सात्विक भावों के सहचारी पृथक् पृथक् स्थायिभावों के द्वारा उद्घाटित या उद्भासित होकर अलौकिक रससम्बन्धी चमत्कार का आस्वादन कराते हैं। जो लोग इस काव्य–नाटकजन्य अर्थ को नहीं समझ पाते या उसके परमार्थज्ञान से निम्नस्तरीय अपरा शक्तियों के बन्धन के कारण अपरिचित हैं उनका हृदय अविकसित या भीतर ही भीतर चल निकलने वाली अन्तस् की रसलहरी से खिल नहीं पाता– "अन्तःस्रावविहीनानां सदा संतप्तचेतसाम्"। यह अन्तःस्राव अभिनवगुप्त के मत में संवित् या पराचेतना का वह प्रसाद या निर्मलता है, जो एक बार भैरव शिव की परा प्रतिभा में डुबकी लगा आने के बाद ही प्राप्त हो पाती है जिसके बाद फिर किसी प्रकार के उपाय या प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। सहज ही में स्वप्रकाश या उस रस की उपलब्धि होने लगती है जिसे अध्यात्म की भाषा में शिव कहा जाता है –

उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः
स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः ।। तं० आ० 3-63

आचार्य अभिनवगुप्त के शैव काव्य का यही दर्शन है जो अभिनव–भारती आदि समीक्षा–निकषों के ललाट पर स्वर्ण रेखाओं के रूप में उद्भासित है। इसी के अनुसार नाट्य आदि कलाओं में शैवी क्रीडा के अंगभूत विभाव, अनुभाव और संचारियों के सामरस्यमूलक संयोग से संविद्रूप शिव अथवा रस की अभिव्यक्तिपरक निष्पत्ति होती है।

काव्यसाहित्य या कलासमूह यदि जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं तो जीवन की अनेकरूपा अभिव्यक्ति या परिणामशीलता विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण के बीचों–बीच माननी होगी और जीवन की अभिव्यक्तियों को रसरूप शिवता के साथ जोड़कर देखना होगा और रस का वैलक्षण्य या लोकोत्तरता यही है कि वह विश्वमयता और विश्वोत्तीर्णता के शुक्र–शोणित में से उद्भूत होने पर भी स्वयं में नित्यनवीन है। ऋग्वेद संभवतः इसी को अभिमुख बना कर "नवो नवो भवति जायमानः" अर्थात् वह तत्त्वाग्नि उत्पन्न होने की प्रक्रिया को निमित्त बनाकर प्रतिपग एक प्रकार की नवीनता में प्रवेश करता चलता है। बन्धन और मुक्ति की अवधारणाएँ तब स्वयं ही द्रवित होकर उसी में समाविष्ट हो जाती है। इस शैवी अनुभव–साधना में जो घटित होता है उसे आचार्य अभिनवगुप्त अपने सुप्रसिद्ध

"अनुत्तराष्टिका स्तोत्र" काव्य में स्वरूपतः निरूपित करते हैं – कि राग द्वेष या सुख और असुखवर्ग के भावों का उदय और अस्त होना, अंहकार एवम् दैन्य आदि जितना भी भावसमूह है वे सब विश्ववपु शिव के ही भिन्न भिन्न रूप होने के कारण स्वभावतः भिन्न नहीं होते। जब साधक या सिद्ध उस संवित्–शिव की भावना या ऐक्यानुभव से संपन्न होकर उन समस्त भावों की विभिन्न अभिव्यक्तियों को शिवता की ही छवियों के रूप में देखने लगता है तो उसे रसानुसन्धान् होने लगता है। आधुनिक सन्दर्भ में महाप्राण निराला को अपने काव्यकर्म की प्रौढता के काल में श्याम की विभिन्न छवियाँ अपनी विभिन्नता को साथ लेकर भी ऐक्य–साधन करने लगी थीं और कवि की काव्य–संवित् शब्दात्मिका गीति के रूप में फूट निकली –

जिधर देखिए श्याम बिराजे
श्याम कुंज वन यमुना श्यामा श्याम गगन घन वारिद गाजै
श्याम बलाका शालि श्याम है श्याम विजय बाजे नभ बाजे।
श्रुति के अक्षर श्याम देखिए दीपशिखा पर श्याम निवाजै।।
श्याम तामरस श्याम सरोवर श्याम अनिल छवि श्याम संवाजे।

प्रस्तुत गीतिका की संवेदना की पराकाष्ठा सागर की एक ऊर्मि की तरह उस समय आकाश को छूने की ओर बढ़ती है जहाँ नीले मेघों के बीच बन्दनवार बनाकर एक लय के साथ उड़ी जा रही श्वेत बकपंक्ति या बलाका भी अपने रूप रंग की पार्थिवता को छोड़कर श्यामा चेतना में बिना कुछ खोए तद्रूप हो उठती है। भारत के निगम और आगम की परम्परा के उपासकों की यही रससंवित् जब भी उमड़ने लगती है तो यह आधिभौतिक पदार्थों, आधिदैविक, दृष्टियों और आध्यात्मिक अनुभूतियों के साथ बिना छेड़छाड़ किए या बिना विक्षिप्त या व्यथित किए ही एक नूतन अधिभूत, अधिदवैत एवम् अध्यात्म की सृष्टि करने लगती है। यही उसकी चिरजीवन्तता और सनातनता का रहस्य रहा है। इसीलिए आचार्य अभिनव अपने समाधि–काव्य की एक पंक्ति से संकेत करते हुए कहते हैं – "संविद्रूपमवेक्ष्य किं न रमसे तद्भावनानिर्भरः" कि अरे भाई लोग! उस परासंवित् को, जो अस्तित्व–अनस्तित्व, अभिधेयत्व ज्ञेयत्च की प्रतीतियों ओर पदार्थों के भीतर से झांक रही है, उसको एक बार आत्मसात् करके क्या नहीं जी लेते? यह जो माया है, अविद्या है यह आँख खुलने पर अद्वय चित् से अभिन्न ही है। अतः उस अनुत्तर अनुभूति में पूजा, पूजन, पूज्य के भेद की कोई गुंजाइश ही नहीं अथवा शाक्तों की दृष्टि में "ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनम्" ही हो रहा हो तो सभी कुछ अपने स्व के अनुभव से स्वभाव में ही निर्मल हो उठता है। व्यर्थ के चिन्तनों का वहाँ कोई प्रयोजन ही नहीं। क्योंकि वास्तव में अनेकत्व २एकत्व का विरोधी धर्म नहीं है, अपितु वह स्वयंप्रकाश संवित् का ही वैभव है। इसलिए यहाँ न द्वैत है,

न द्वैताद्वैत है, न विशिष्टाद्वैत है। परमार्थचर्चा स्तोत्र में अभिनव कहते हैं कि सृष्टि में ग्राह्य, ग्रहण एवम् गृहीता का विभाग शिवाभिन्न शक्ति के वैचित्र्य के कारण उसी का सहज सौन्दर्य बन कर स्फुरित होने लगता है। इसी द्वैत एवम् अद्वैत की ग्रन्थि को सुलझाने के लिए आचार्य अभिनव अपने काव्य में कई बार जिन प्रतिमानों को उत्कीर्ण करते हैं उनमें एक है – मणिदर्पणविधि; जिसका उल्लेख आचार्य शंकर ने भी अपने दक्षिणामूर्ति स्तोत्र की प्रथम पंक्ति में किया है – "विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी तुल्यं निजान्तर्गतम्"। अभिनव कहते हैं कि परमार्थता की दृष्टि खुलते ही शिव का जगत् से भेद, जीव का शिव से भेद, अथवा शिव, जीव, जगत् को लेकर किए जाने वाले जितने भी भेदभाव हो सकते हैं, वे सभी अविरोधी होकर स्वच्छ संवित् रूपी मुकुर या दर्पण में ऐसे ही अन्वित हो जाते हैं जैसे एक ही स्वच्छ प्रकाश वाले दर्पण में एक साथ ही बाह्य जगत् के प्रासादभवन, उन भवनों में स्थित हाथी, घोड़े, मेघ, समुद्र, पर्वत आदि विविध पदार्थ अपनी विविधता को बिना त्यागे एक साथ प्रतिबिम्बित होते हुए प्रतिबिम्बों के रूप में उस दर्पण की ही विभूति होते हैं।

आदर्शकुक्षौ प्रतिबिम्बकारि सबिम्बकं स्याद् यदि मानसिद्धम् ।
स्वच्छन्दसंविन्मुकुरान्तराले भावेषु हेत्वन्तरमस्ति नान्यत् ।।

क्रमस्तोत्र में आचार्य का कहना है कि एक बार शिवता के समावेश हो जाने पर पशुता के कारण दिखाई दे रही बन्धनमयी सांसारिकता की स्थिति को शिवता के काव्य की आग्नेय ज्वाला से रसमय बनाकर जब समस्त भाव–सृष्टि को मैं पीने लगता हूँ तो मैं परम सुख की अनुभूति से मदमत्त हो जाता हूँ। क्योंकि उस समय मेरे स्व या आत्म के स्फार या उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रसार से अनन्त वैचित्र्य की महिमा प्रकट होने लगती है –

विधुन्वानो बन्धाभिमतभवमार्गस्थितिमिमां
रसीकृत्यानन्तस्तुतिहुतवहप्लोषितभिदाम्
विचित्रस्वस्फारस्फुरितमहिमारम्भरभसात्
पिबन्भावानेतान् वरद मदमत्तोऽस्मि सुखितः ।। 5 ।।

वास्तव में आचार्य अभिनवगुप्त की शिव–संवित्–साधना या रसानुभूति की प्रक्रिया जब आरम्भ होती है तो सहृदय के प्राण गणपति के रूप में, अपान बटुक के रूप में तथा समस्त इन्द्रिय रूप देवियां अपने अपने विषयभोगों की पूजा–सामग्री को लेकर हृदयकमल में स्थित आत्मलिंग रूप चिन्मय भगवान् आनन्दभैरव का अभिपूजन करने आती हैं तो योगी का अवधान या ध्यान ही अपनी 'धी' या धारणा–शक्ति के बल से सद्गुरु बनकर शिवपथ का द्वार खोल देता है। बुद्धि अपने निश्चयरूप कुसुमों को लिए हुए ब्रह्माणी शक्ति बनकर आनन्दभैरव–भैरवी

के आराधन के लिए पहुँच जाती है। अहंकृति शाम्भवी अम्बा बन जाती है और सदा विकल्प करने वाला मन कौमारी शक्ति, तथा शब्दरूपा वाणी वैष्णवी शक्ति में रूपान्तरित हो जाती है। रूप–रस–गन्ध–स्पर्श आदि की सभी शक्तियाँ आनन्द भैरव–भैरवी के पूजागृह में आकर सभी सहृदयों के हृदयों में सदा सन्निहित अनुभव के साररूप रस को आपस में मिलकर या समरस होकर अभिव्यक्त करने लगती हैं। आचार्य अभिनव की चेतना का रंगमंच रसानुभूति का पूजागृह है जहाँ प्रविष्ट होने से शैवीभावना के हिमस्रोत–जल से सर्वमलनिवारक स्नान करके श्रद्धानदी के विमल चित्तरूप अभिषेक–जल को लेकर और समाधिरूप कुसुमों का अञ्जलि–पुट बनाकर, रसानुभूतिरूप अपने ही स्वरूप–संवित् के साथ ऐक्यानुसन्धान के लिए हमें चलना होगा। क्योंकि आचार्य के मत में रसानुभूति के मधुपात्र में किसी भी प्रकार के ऐन्द्रिक बोध, मानसबोध एवम् अतीन्द्रियबोधों की वर्जना या निषेध का विधान नहीं है।

भारतीय जीवन–साधना में, कला–साधना में, रस प्रत्येक पदार्थ में प्रतीयमान होने वाला एक ऐसा सार है जो सदा ही एक नवीन से नवीनतर होती जा रही ऊर्जा को मधुर उत्तेजना या सौष्ठव–संपन्न रूप में परिणत कर देता है। आचार्य अभिनव कहते हैं कि यह आनन्दानुभूति, धनमद, मद्यमद, अंगनासंगमद जैसी नहीं है। यहाँ जो प्रकाश की भी कल्पना है वह प्रदीप, सूर्य या चन्द्रमा के प्रकाश जैसी नहीं है। अपितु जन्मजन्मान्तर से चले आ रहे मलिन सुख–भोग की सहस्रों वासनाओं के बोझ के उतर जाने का सुख है। इसके साथ ही अपने ही अज्ञान–तिमिर या मेघों में छिपे हुए अपने ही विस्मृत स्व के शरच्चन्द्र का किसी मौन वनान्तर के निर्मल निशीथ में आविर्भूत हो उठना है (दे० अनुत्तराष्टिका श्लोक 4)

वास्तव में आचार्य अभिनवगुप्त के अभिमत दर्शन के अनुसार शब्द की संपूर्ण सृष्टि प्रतिभा का ऐसा खेल है जो न तो लौकिक या भूत पदार्थों के संसरण या स्फुरण से निर्मित है, न ही अभौतिक या अतिभौतिक दिव्यता का रहस्यात्मक चमत्कार है; वह तो शब्द के भीतर से होकर स्फुरित होने वाली शब्द–संवित् की लोकालोकमयी सृष्टि है –

माये विद्ये मातृके मानिनि त्वं काये काये स्पन्दसे चित्कलात्मा।
..ध्यायेयं त्वा वाचमन्तर्नदन्तीम् ।।
(रहस्य पञ्चदशिका श्लोक 8)

वहाँ शब्दों का अर्थों से जो संबन्ध है वह भी वाच्य कोटि का भौतिक पद–पदार्थ सम्बन्ध नहीं, अपितु काव्यधर्मिता से स्फुरण होने वाला व्यञ्जक–व्यंग्य सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध सहृदय सामाजिक के अनुशीलन का विषय बनकर

उसके प्राण और मन को वाक् में प्रतिष्ठित कर देता है और वाक् सहृदय के मन–प्राण को जब अपने में अभिसूत्रित कर लेती है तो अभिनव कहते हैं – "कि समाधिकाव्य के कवि के मुख से जो भी शब्द उच्चरित होता है वह लोकोत्तर मन्त्र हो जाता है। सुख तथा दुःख के अनुभव से होने वाली संस्थितियां सुख–दुःख न रहकर मुद्रा का रूप धारण कर लेती हैं। अपनी स्वरसता में से उठता हुआ प्राणों का प्रवाह अद्भुत योग में परिणत हो जाता है। इस प्रकार शक्तितत्त्व के परमधाम यानी वर्ण, पद और मन्त्र का अनुभव करते हुए ऐसा क्या रह जाता है जो हमें प्रकाशमयी सृष्टि में नहीं ले जाता।"

उस प्रातिभ मन्त्र में वर्णक्रम या पदों का क्रम संलक्षित नहीं होता, संपूर्ण कायिकी या शरीर की क्रियाएँ विगलित होकर आनन्द–मुद्रा का प्रादुर्भाव हो उठता है। योग की वह अवस्था प्रकट हो जाती है जहाँ प्राण का समग्र प्रवाह ही चुक जाता है। अतः हे भगवति प्रतिभे ! तुम्हारे धाम में पहुंच जाने पर सुधी जन को कौन से वैलक्षण्य का अनुभव नहीं हो जाता (दे० अनुभवनिवेदनस्तोत्रम् ३,४)। इस प्रकार आचार्य अभिनव के स्तोत्रकाव्य के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि शैवसाधना में क्रमशः बाह्योपायसाधना से आन्तर उपायसाधना के चरम शिखर पर्यन्त यानी अनुपाय–पर्यन्त पूजन–सामग्री एवम् साधन–प्रक्रिया के अंग रूप विभावादिकों में शिवता की भावना, एवम् दृढ़ से दृढ़तर होते हुए समावेश के बल से जब अन्तःकरण में महासाहसवृत्ति का उदय होता है तो बिना किसी अवरोध के सहसा घटित हुए चमत्कार या उन्मेष से स्वरूपलाभरूप रस उच्छल हो उठता है। अतः शैवों और शाक्तों की दृष्टि से देखें तो वहाँ आपको मिलेगा कि साधना–मण्डल में जो कुछ भी सामग्री या क्रियाकलाप हैं वे सभी समावेश अथवा दृढ़तर भावना के बल से शिवदृष्टि का उन्मेष होने पर शिवरूपता में आप्लावित होकर रस–दीप्त होने या जगमगाने लगते हैं।

इसी महानुभव को एक लघुकायरूप भारतीय कलाएं अथवा काव्य जब अभिव्यक्त करने लगते हैं तो बात स्पष्ट हो जाती है कि शैवसाधनाक्रम शिव की विभिन्न कलाओं के माध्यम से अखण्डयोग प्राप्त करने की विधि या क्रम है। उसमें योगसाधनाओं की कठोरता एवम् इन्द्रियनिग्रह आदि अनावश्यक हो उठते हैं। क्योंकि जब सर्वसाधारण लौकिक सुखों का अनुभव करते हुए भी शिवता के उन्मीलन से आत्मानन्दकला का रस उठता है तो अभिनव कहते हैं कि अपनी शिवता में अधिक समादर हो जाने से इन्द्रिय–भोगलालसा में तब आदर विगलित होता चला जाता है, उसमें विरक्ति स्वाभाविक होती चली जाती है। उलटे बलपूर्वक इन्द्रियों का निग्रह करने से कई बार कई प्रकार की विकृतियाँ जन्म लेने लगती हैं –

अनादरविरक्त्यैव गलन्तीन्द्रियवृत्तयः।
यावत्तु विनियम्यन्ते तावत्तावद्विकुर्वते । (मालिनीविजयवार्तिक २–११२)

इस प्रकार शिवदृष्टि रसदृष्टि के समावेश से तरंगित हृदय वाले सामाजिक की द्वैत अथवा द्वैताद्वैत की सांसारिक वासनाओं को नष्ट करने का कुचक्र नहीं रचती, अपितु, 'सर्वं शिवमयम्' की अनुभूति से शेष समस्त अनुभूति–पुञ्ज को समरस कर देती है; जहां अन्य किसी वेद्यान्तर का स्पर्श संभव ही नहीं। इसी एक क्षण को पाकर रूपान्तरित होने के लिए पिछले सहस्राधिक वर्षों से भारतीय कलासाधनाएँ यत्नशील रही हैं तथा मूल कृतिकार की रसदृष्टि को उन्मिषित करने के लिए ही नट–नटी आदि पात्र तथा सहृदय सामाजिक अपनी अपनी सीमा–मर्यादाओं में रहते हुए भी ऐक्यसाधन के लिए प्रयत्न करते हैं।

(इस पत्र को प्रस्तुत करते समय मेरी दृष्टि इस ओर रही है कि प्राचीन वैदिक एवम् उपनिषद् सम्बन्धी मन्त्र–काव्य में रस शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है जिसका सम्बन्ध मूलतः आर्ष बोध से रहा है। भले ही वह कृतिकार में उठा हो या सहृदय में। आचार्य भरतमुनि ने जिस नाट्य अथवा काम के सन्दर्भ में प्रस्तुत रस शब्द का प्रयोग किया है वह सन्दर्भ पौराणिक है। इस पौराणिक सन्दर्भ को भरत ने संभवतः परम्परा की बाध्यता के कारण वैदिक परम्परा से जोड़ने का प्रयास निम्न पद्य में किया है

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतिमेव च
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।। ना० शा०१–१७।।)

छाया और भारतीय मन

मन में यूं हुआ कि "छाया", जो सभी भूमियों और सर्वकाल में एक शाश्वत रूप लिए है उसका भारतीय–मन से क्या कोई सम्बन्ध है? है, तो कैसा? क्या अधिभूत, अधिदैवत और आध्यात्मिक इन तीनों स्तरों पर एक साथ इस शब्द–रूप पर विचार किया जा सकता है या नहीं? संस्कृत के प्राचीन कोशकार अमरसिंह ने छाया शब्द के चार अर्थ दिये हैं।

"छाया सूर्यप्रियाकान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः"

पुराण–कथाओं में उसे सूर्य की प्रिया, सौन्दर्यशास्त्र में छाया को कान्ति या कमनीयता, दार्शनिक की मनःस्थिति में उसे प्रतिबिम्ब और आम व्यवहार के स्तर पर उसे अनातप यानी धूप का न होना कहा गया है। प्रथम तीन अर्थ छाया शब्द के भावपक्ष को और चौथा उसके अभावपक्ष को लेकर चलता है। बाद में लोगों ने छाया शब्द के प्रतिमा, पंक्ति आदि कुछ अन्य अर्थ भी किए।

सूर्यप्रिया के रूप में यह कहा गया कि सूर्यपत्नी संज्ञा के चले जाने के बाद सूर्य का सम्पर्क, छाया के साथ हुआ। उससे सूर्य की तीन संतानें हुई। नीलांजन समप्रभः'' काले या नीले अंजन जैसे शनि,मृत्यु–देवता यम और उनकी बहन श्यामछवि यमुना। सौर परिवार में नवग्रहों में से सूर्य से सर्वाधिक भिन्नता रखने वाले बल्कि प्रकाश, गति और दिशा में सूर्य से अत्यन्त विरोध रखने वाले शनि हैं जिन्हें छायागर्भ से पैदा हुए, चलने में अतिमंद होने पर भी दृढ़, पूर्व की बजाए पश्चिम दिशा में उदय होने वाले, पश्चिम में नीलमणि की तरह झिलमिलाते बताया है। मानवीय प्रवृत्तियों के रूप में वे मन की योग और भोग की संतुलित दृष्टि जो पीड़ा और अभाव में से धीरे धीरे उठ कर प्रौढ़ा दृष्टि में परिणत हो जाती है तथा अन्तर्मुखिता जिसका स्वभाव है, बाह्यकर्मो में अरूचि, पर अन्तर्जगत् मे जो सदैव जागृत है, व्यावहारिकता एवम् मेलजोल में संकोचशील मानसवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। धीमी पर अटल गति उनका वैशिष्ट्य है। इन्हीं के भाई यम आर्यों के प्रथम दल में से होते हुए भी यम–नियम एवम् धर्मपरिपालन के आदर्श होने पर भी दक्षिण दिशा में मृत्यु के नाम से प्रतिष्ठित हुए। प्रमाद और भय में डूबे हुए लोग जो गलत काम करते हैं उन्हें मृत्यु के अन्धलोक में तो रहना ही होगा। यम उन्हें अपने धर्मदण्ड से भयभीत कर पशु की तरह ठीक चलना सिखाते हैं। मौत का डण्डा बड़े बड़े जड़–बुद्धि लोगों को योग, ज्ञान और भक्ति की भूमिका में ले जाकर उन्हे उदात्त बना देता है।

छायाश्यामल यमुना नीलजल–प्रवाह वाली होने पर भी प्रेम, माधुर्य,

रहस्यानुभूति एवम् नील–ज्योति वैष्णवचेतना का महिमामण्डित रूप है। निराला को उसकी प्रत्येक लहर पर से पथिक–प्रियाओं, गोपिकाओं के उठते हुए मधुर गीत सुनाई पड़ते हैं तो मध्यकालीन अद्वैतवेदान्त के अद्भुत पण्डित मधुसूदन सरस्वती समस्त ध्यान, अभ्यास, समाधि से प्रकाशित मानसिकता को छोड़कर यमुना के किनारों पर दौडते हुए नीलश्याम बालअन्धकार (कृष्ण) से साक्षात्कार के आनन्द की मात्र कामना करते है।

अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं।
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं तमोधावति।।

बात यहीं तक नहीं रह जाती। वे अद्वैत–वेदान्त के ब्रह्म के विस्तार को देखने के बाद कह देते हैं कि "कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने" काले कृष्ण से परे कोई तत्त्व ही नहीं। हिन्दी के महाप्राण निराला अपने काव्य की परिणति के चरम क्षणों मे गाने लगेथे

जिधर देखिए श्याम विराजे,
श्याम कुंज वन यमुना श्यामा श्याम गगन घन वारिद गाजे।
श्रुति के अक्षर श्याम देखिए। दीपशिखा पर श्याम निवाजे।

वेद के उस पुरूष से लेकर भारती की कनुप्रिया के कनु तक एक विवरण लेने का हमारा प्रयास है। छाया शब्द का दूसरा अर्थ कान्ति किया गया है। यद्यपि कान्ति का मूल कमनीयता है तो भी संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने "कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः " कह कर यह स्पष्ट करना चाहा है कि कामभाव में से आप्यायित होने या निखरने के बाद जो शोभा सी उठती वही कान्ति या छाया है। लेकिन कविता के गुणों के वर्णन में जरा और ढंग से कहा गया है कि काव्य की प्रक्रिया के जरिए रस का जाग उठना ही कान्ति है–"दीप्तरसत्वं कान्तिः।" मगर यह दीप्ति प्रकाश की तीखी किरण सी नहीं है। इसमें प्रतीयमानता है, भावबोध है,रमणीयता है। आनन्दवर्धन को लगा कि यह कान्ति कभी कभी अंगनाओं के अंगसौष्ठव या अंगों के कसाव के अतिरिक्त अपना अलग थलग सा भावबोध पैदा करती है। वही लावण्य है। अर्थात् यह जो छाया या कान्ति है यह बहुत कोमल सा उजाला है जो अंगनाओं के अंगों से उठता है– कुछ–कुछ चांदनी सा, कुछ मोतियों की छाया या आब सा :–

"मुक्ताफलेषु यच्छाया तरलत्वमिवान्तरा"

यह सूर्य के प्रकाश की प्रखरता नहीं। बल्कि उपनिषत्कारों ने जिसे सूर्यान्तर्वर्ती छाया–पुरूष की एक झलक सी पाने को सूर्य से ही आग्रह किया है कि "हे सूर्य, आप अपनी सुनहरी माया को समेटो जो इन आंखों को कुछ भी नहीं देखने देती।

अपने रश्मियों के समूह को समेटिए। आपका जो हितकर रूप है उसी को सामने लाइए। उर्दूवाले शायद इसी को रोशनी के अंधेरे से बचने का उपाय मानेंगे। सूर्य का वह प्रकाश जो भौतिक प्रज्वाला के कारण असह्य था वही प्रकाश जब अत्यन्त सूक्ष्म होकर मानवमात्र की सांवली आंखों में समा गया तो ऋषियों ने माना कि भौतिक ज्वाला का पिण्ड सूर्य का रूपान्तरित सौम्य सार तो मेरे दक्षिण चक्षु में बैठा है, और वही ब्रह्म है। बाहर का सूर्य तो ताप या उष्णता का ढेर है। द्युलोक का ज्वालपुंज सूर्य और मानव देहस्थित चक्षु इन्द्रियरूप सूर्य के अतिरिक्त एक अन्य अतीन्द्रिय सूर्य है जिसे अध्यात्म पुरूष अथवा छान्दोग्य उपनिषद् में छायात्म कहा गया। वैदिक ऋषियों ने समानतामूलक अभिव्यक्ति का सहारा लेते हुए कहा कि ऋग्वेद की ऋचाएं चक्षु अथवा प्रकाश–धाराएं हैं, तो साम जो उनका छन्द एवम् लयात्मक संगीत है वह उनकी छायात्मा है।

चक्षुरेव ऋक्, आत्मा साम, आत्मेति छायात्मा।
तत्स्थत्वात्साम। 1–7–2 छान्दोग्य उ., शांकर–भाष्य

ऋचा या मन्त्रकाव्य–रूप धाराएं सूर्यचेतना का प्रकाशमय रूप हैं तो उस प्रकाश में मिश्रित नील–रश्मियां उन धाराओं का मधु है। वह यह नीलवर्णरूप साम इस श्वेत ज्योतिरूप ऋचा में अधिष्ठित हैं। अतः ऋचा में अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है। (दे0 वही –1–6–5) इसी उपनिषद् में छायात्मा का वर्णन करते हुए प्रतिबिम्ब वाला दृष्टान्त दिया गया है। एक बार देवताओं के प्रतिनिधि इन्द्र और असुरों के प्रतिनिधि विरोचन को आत्मज्ञान पाने के लिए प्रजापति ने कहा था कि यह जो पुरूष (चेतना) या द्रष्टा है, नेत्रों में दिखाई देता है, वही आत्मा है। प्रजापति का अभिप्राय उन्हें द्रष्टा–चेतना (या ओब्जर्वर) की ओर ले जाना रहा होगा। पर वे दोनों समझ नहीं पाये तो उन्होंने दृश्य को ही चेतन समझते हुए प्रश्न कर दिया कि जल में और शीशे में पड़ रहे प्रतिबिम्बों में कौन सा आत्मा है। प्रजापति ने यह सोचकर कि कहीं ये दोनों मूल–बिम्ब द्रष्टा को छोड़कर दृश्य प्रतिबिम्ब को ही या छायात्मा को ही आत्मा न मान बैठें इसलिए उन दोनों की प्रतिभा की परख के लिए उन्होंने एक पानी के सिकोरे में दोनों को उनकी परछाईं दिखा कर उन्हें कह दिया कि यह जो तुम दोनों अपने अपने सुसज्जित और सुअलंकृत शरीरों का प्रतिबिम्ब देख रहे हो इसी को आत्मा मान लो। थोड़ी देर के लिए इन्द्र और विरोचन ने तो अपने अनुयायी असुरों को प्रजापति की ओर से सन्देश भी यही दिया कि देह, जो कि द्रष्टा आत्मा की दृश्य छाया है या प्रतिबिम्ब है (वही सच्ची आत्मा है। पर इन्द्र प्रजापति के मज़ाकियापन को भांप गए और तुरन्त लौट कर कहा कि दृश्य प्रतिबिम्ब भला कैसे आत्मा हो सकता है? मन की सभी दशाओं का बरसों तक अध्ययन करने के बाद इन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति मन की तीनों अवस्थाएं आत्मचैतन्य नहीं हैं छाया–चैतन्य हैं। और छाया तो अस्थिर है नश्वर

है, परछाईं है, झांसा है। ये तीनों दशाएं तो छायापुरूष या मनश्चेतना का खेल है। यह स्वयंज्योतिः या स्वचेतन पुरूष का लक्षण ही नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शंकर चेतना की इस छाया को या दृश्य–भाव को माया या अविद्या मानकर अपने भाष्यों में चले हैं। उन्होंने छायापुरूष का अर्थ अपने भाष्यों में जानबूझकर प्रतिबिम्ब वाला अर्थ रखा है। संभवतः बौद्धदर्शन की पृष्ठभूमि जो निरन्तर जड़ें जमा चुकी थी उसे एक दम छोड़ा नहीं जा सकता था। किन्तु रामानुज ने छायापुरूष का अर्थ नीलकान्ति नीलमणि अथवा चिन्तामणि नारायण का सगुण सविकल्प रूप लिया। छायापुरूष या छायात्मा के इन दो परस्पर विभिन्न अर्थों के ग्रहण के कारण आचार्य शंकर को छाया–माया को मिथ्या मानकर ब्रह्म को निर्गुण निर्विकल्प सत्तामात्र एवम् अलक्षण मानना पड़ा। किन्तु वैष्णवों ने कहा कि यदि सत्ता को नहीं जाना जा सकता है तो वह न प्रेय न श्रेय इनमें से कुछ भी नहीं होगी। अतः उन्होंने अपने इष्ट नारायण को अशेष जलशायी अर्थात् संपूर्ण जीवन् के मूल में व्याप्त निर्मलता और व्यापकता मानकर नारायण को '' नीलाम्बुज श्यामल कोमलांगम्'' अथवा नीरदकान्तिं निरवद्यम्'' कहा। मन्दिरों में घण्टियों के स्वरों, शंखों के अनुनाद के बीच'' सांवरे राधेवरम्'' की आरतियां नीलयमुना के सन्दर्भ में उठतीं रहीं। गौरांग चैतन्य महाप्रभु की महाप्रतिभा ने अपनी भक्त–चेतना की धारा को राधा में पलट कर उसके गोरे रंग को श्याम रंग में अभिव्यक्त कर दिया। इधर गौर–श्याम की इस लीला की परस्पर अन्विति को गोस्वामी तुलसीदास ने भी जब देखा तो अवाक् रह गए।'' गौरश्याम किमि करौं बखानी'' सूरदास के श्याम भी गोरी राधा में उत्सुकता दिखाते बूझने लगे "बूझत स्याम कौन तू गोरी"। इस सन्दर्भ में वैष्णवों की छाया सीता या छाया राधा की कल्पना को भी गौर से देखना होगा। सूर और तुलसी की इस श्वेत–श्याम की लीला को देखते देखते मेरे सामने छान्दोग्य उपनिषद् का निष्कर्ष–वाक्य सजीव हो उठता है।

"श्यामाच्छवलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये................

मै श्यामब्रह्म से शबल ब्रह्म को प्राप्त हो जाऊं और शबल से श्याम को प्राप्त कर लूं। आचार्य शंकर को भी हृदयस्थित ब्रह्म को "श्यामो गम्भीरो वर्णः श्याम इति हार्दं ब्रह्म" कहना पड़ा। और शबल को उसी श्याम की बहुरंगी अभिव्यक्ति कहा –'' अनेककाममिश्रत्वात् ब्रह्मलोकस्य शाबल्यम्'' इन्हीं दो शब्दों में सम्पूर्ण उपनिषद् का विश्वदर्शन सिमट गया है। यह अभिव्यक्ति किसकी? कौन अभिव्यक्त होना चाहता है? क्यों होना चाहता है? जो मौन है वही अभिव्यक्त होना चाहता है। और जो अभिव्यक्त है वह मौन होना चाहता है। ये दो शब्द भी अपने द्वैत–अद्वैत को परे छोड़ कर एक ही शब्दमूर्ति में प्रकट होते हैं। यह शब्दमूर्ति की लीला है जो

द्वैताद्वैत– विलक्षण होने के साथ संपूर्ण भारतीय भक्ति–भावना का चरम बिन्दु है, पर समस्त रसों का सिन्धु है।

वस्तुतः भारतीय दर्शनों में सांख्य–दर्शन ने उपनिषदों के इस मूल प्रश्न को बड़ी गम्भीरता से सर्वप्रथम उठाया था। साथ में उसने योगसाधना की भी सहायता ली। किन्तु उसकी चरम परिणति को तत्त्व के दो पहलू मानकर व्यक्तावस्था को उसका सक्रिय रूप मान लिया गया जिसे आज के मनोविज्ञान की भाषा में चेतन मन और अव्यक्त दशा को अचेतन मन कहा जा सकता है। व्यक्त और अव्यक्त को दृष्ट मन और अदृष्ट मन यदि कहा जाए तो हिन्दी अनुवादकों के द्वारा किया जा रहा चेतन शब्द के साथ व्यभिचार कम हो सकता है। अव्यक्त शब्द सांख्य में महा–शक्ति की उस सुषुप्त दशा के लिए हुआ है जिसे अवस्तुता की सी दशा कहा जा सकता है। नासदीय सूक्त इसे तुच्छ आभु की सी अभव्य अवस्था कहता है। पर चित्पुरूष के संसर्ग से यह अचित् जैसे चित सा हो उठा। महादेवी वर्मा के शब्दों में कहें

"चुभते ही तेरा अरूणबाण,
बहते कण कण से फूट फूट मधु के निर्झर से सजल गान।"

जो पहले अबुद्ध था वह प्रबुद्ध हो गया। तंत्र कहता है कि उस एक में ही अहं के स्तर पर पुंभाव और स्त्रीभाव जाग्रत् हो गया। उसका इन दोनों में से किसी भी रूप में चिन्तन हो सकता है। पुंभाव उस अव्यक्त को बाहर की तरफ खींच कर व्यक्त करने लगा। स्त्रीभाव उसे भीतर की ओर उसके अपनेपन या केंद्र की ओर खींचने लगा। इसी से जड़ प्रकृति में एक द्वन्द्व का सृजन हुआ जो आकर्षक हो उठा। शाक्तों ने कहा–

"पुरूषं वा स्मरेद्देवीं स्त्रीरूपं वा विचिन्तयेत् ।
अथवा निःस्वरूपं वा"

वस्तुतः प्राचीन वेदों में जब यह विद्या और अविद्या वाली बात चल रही थी, उस समय अविद्या का अर्थ केवल "न जानना" रहा होगा। किन्तु इन्द्रियों में से प्रधान ज्ञानेन्द्रिय चक्षु को रूप–ज्ञान प्राप्त करने में रातों का उतरता अंधेरा अवरोधक बन जाता था। अतः न जानने की दशा अविद्या को अंधकार या तमस् के साथ जोड़ा गया। शास्त्रचिन्तकों ने इस तमस् के पचासों भेद किए। मानव मन के ऊपर इस तरह सात अन्धकारों, सात पातालों की धारणा ने भी जन्म ले लिया। कालरात्रि और अन्धरात्रियों का नृत्य यहां दिनरात चलता है। ये सात पाताल सात समुद्र बने जिनकी गहराई का उत्तरोत्तर बढ़ते जाना अधिकाधिक अदृश्य होने के साथ जुड़ते जाना था। इन सृष्टि के आदि–कारण जलों का सम्बन्ध नारायण पुरूष की सुषुप्ति से अथवा सोये हुए मन से था। भारतीय दृष्टि मनस् की संरचना और जल की संरचना में अन्तर नहीं मानती। वे जल के माध्यम से मन की व्याख्या

करते थे और उपचार भी। इसी से सृष्टि के आदि जलों एवम् पातालों के नीचे जो कीचड़ दलदल, महा– मत्स्य और महा जलचर शेष–नाग सब कुण्डली मारकर सुषुप्त अचेतन में निष्क्रिय दशा में पड़े थे।

उन आदिजलों के ऊपर अन्तरिक्ष में एक प्रकाशपुरूष का उदय होता है। नारायण या जल–पुरूष (नार का अर्थ ही जल है) के नाभिकेन्द्र में प्रथम स्फुरणा होती है और वहां से आदि कमलनाल अचेत निद्रा में से बढ़ता हुआ जलों से बाहर निकल कर अन्तरिक्ष में सूर्यचेतना की ओर मुंह करके जब खिला तो बीच में शिशु ब्रह्मा वेद की चतुष्कोण पूर्णता को लेकर जाग उठे । पर साथ ही आदि जलपुरूष के कानों की मैल छूटी तो उसमें से मधु–कैटभ दो असुर भी पैदा हो गए जो ब्रह्मा को खा जाना चाहते हैं। नारायण पुरूष इस सारी घटना से अचेत हैं। घोर निद्रा के वशीभूत उस नार पुरूष को जगाने के लिए असुर से डरे हुए ब्रह्मा ने कालरात्रि, मोहरात्रि या महारात्रिरूपा भगवती निद्रा को उस नार पुरूष के मन प्राण देह से निकलने को कहा और गिड़गिड़ा कर प्रार्थना के बल से उस अदृश्य नारशक्ति को जाग्रत् के स्तर पर लाए और वह पुरूष नारायण महाशक्ति सिद्ध हुआ।

ऊपर अन्तरिक्ष में जो प्रकाश–पुरूष उदय हुआ था वह विद्या या माया–पुरूष बन के आया था। अविद्या और माया का यही अन्तर है। अविद्या, अव्यक्त अदृश्य, अचेत कारणरूप है जब कि माया उस अविद्या या तमस् के ही भीतर का प्रस्फुटित हृदय और मस्तिष्क है जो बाद में विद्या बन बैठी। अचेतन के ही एक भाग का चेतन हो उठना विद्या या व्यक्त अवस्था है। वह माया इसलिए है कि उसमें प्रमाता प्रमाण प्रमेय की त्रिपुटी त्रिखण्डात्मक ज्ञान को लेकर चलती है। यह माया सुनहरी है। ऊपर प्रकाश की मोहिनी माया चेतन मन है तो नीचे उसी की छाया अचेतन। इन दोनों को एक साथ पकड़ने की बात श्रुति कहती है कि "विद्या और अविद्या को जो लोग एक साथ जानते हैं मानो एक ही तत्त्व के दो रूप, वे लोग महाशक्ति के दोनों ही रूपों का सही प्रयोग कर सकते हैं। अहंविहीन अविद्या से मृत्युभय का नाश तथा विद्या या माया से जीवन की ऐहिक और पारमार्थिक सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं– "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।"

भगवती की स्तुति में प्रयुक्त ये शब्द ''कि तुम व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी हो'' इस बात को सिद्ध करते हैं। कि अविद्या और विद्या, चेतन और अचेतन, प्रकाश और अन्धकार दोनों ही शक्ति–पुंज हैं। काश्मीरी शैव कहते हैं कि वह शक्ति इस मामले में स्वतंत्र है। वह मूढ़भाव में भी रह सकती है जिसमें शक्ति की कोई दिशा निर्दिष्ट नहीं। सब कुछ है उसमें, पर सब अंधेरे में अचीन्हा अबूझ। कभी वह चेतन या प्रकाश में रूपान्तरित हुए बगैर खुल जाए तो आत्मघाती ध्वसक हो उठे। शक्ति की इस दशा को तान्त्रिकों ने अपनी भाषा में महाकाली के माध्यम से देखा–

"करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुभुर्जाम्।
महामेघप्रभां श्यामां तथैव च दिगम्बरीम्।।
कण्ठावसक्तमुण्डालीगलद्रुधिरचर्चिताम्।
महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम्।" (श्यामारहस्य, जीवानन्द, भैरवतन्त्र से)

भयानक मुख, धोर रूप, खुले अव्यवस्थित केश, चारों तरफ फैली बाहें, महामेघ या प्रलय के बादल की तरह नीलकृष्णरूपा, निर्वसन, गले में कटे मुण्डों की माला, जिसमें से चू रहे लहू से जो लिप्त हैं, जो अपनी उग्रता के कारण अपने स्वामी महाकाल पर विपरीत रति में सवार, उसके इस रूप के आगे ब्रह्मा, विष्णु महेश की भी घिग्घी बंध जाती है। वे कृष्णा काली तिरस्करिणी या निगूढ़ शक्ति है।

किन्तु यदि उसी महा शक्ति–स्रोत को चेतन मन में रूपान्तरित करके उद्घाटित किया जाता है तो यही महाशक्ति बालात्रिपुरसुन्दरी, महात्रिपुरसुन्दरी, षोड्शी के रूप में धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप समस्त फलों की जननी एवम् जीवन में प्रतिपग सौन्दर्य का संचार करने वाली भोग–मोक्ष की मर्यादाओं की व्यवस्थापिका है। उसकी महिमा और प्रभुता से आन्दोलित कवि विह्वल होकर व्यक्तित्व के खुलते हुए अनन्त आयामों की अभिव्यक्ति के लिए प्रार्थना करते हैं–

श्रीमातस्त्रिपुरे परात्परतरे देवी त्रिलोकी महा
सौन्दर्यार्णवमन्थनोद्भवसुधाप्राचुर्यवर्णोज्वलम्
उद्यद्भानुसमस्तनूतनजपापुष्पप्रभं ते वपु :
स्वान्ते मे स्फुरतु त्रिकोणनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम्
श्रीत्रिपुरसुन्दरीमहिम्नस्तोत्रम्।। श्लोक 1, दुर्वासाकृत ।

हे मां त्रिपुरे, इन तीनों लोकों के सौन्दर्यरूप समुद्र के मन्थन से पैदा हुए अमृत सा तथा उदयकालीन सूर्य या जपाकुसुम की आभा वाला आपका कान्तिदेह हमारे हृदय में ज्योतिस्वरूप वाणी की अभिव्यक्ति करे। मै समझता हू कि इन्हीं किन्हीं दो रूपों के बीच में मानसी एवम् परामानसी शक्तियों के बीज संपुंजित हैं। तंत्र एवम् योग अथवा अन्य वेदान्त आदि शास्त्र एवम् ज्योतिष आदि विज्ञान, इन्हीं अज्ञात शक्तियों को रूपान्तरित करने में उपयोग में लाते रहे हैं। इनको उद्घाटित करने की सहस्रों विधियां ब्राह्मण, बौद्ध एवम् जैन सन्तों ने आविष्कृत कीं और आम आदमी के जीवन की अनगिनत और अज्ञात मानसिक व्याधियों एवम् आधियों का उपचार करते रहे। जिन लोगों को उनकी अभिव्यक्ति के संकेत समझ नहीं आ सके या जिन पण्डितों के बोध पर वैज्ञानिकता या बौद्धिकता का ग्लैमर हावी होने से उस भाषा को समझने की रूचि ही न हो वे उसे चमत्कार–मात्र या अपवाद मानकर चलें तो चलते रहें पर लोगों को भोजन कराने से, पशुपक्षियों को दाना खिलाने से,सांपों को दूध पिलाने से, मन्त्रजाप से, तप से, वृक्षों को सींचने से लोगों के अज्ञात मन या

ज्ञातमन में उठी व्याधियों की सफल मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की व्याख्या दी जा सकती है। यह दूसरी बात है कि आज के योगी, मांत्रिक, तपी, ज्योतिषी को अर्थोपासना की दौड़ एवम् अपनी लिप्साओं के कारण स्वयम् ही उन अज्ञात शक्तियों की संचार–प्रणाली का न पता हो। और दार्शनिकों को अपने यहां का सब कुछ छोड़ कर शेष सब कुछ पता हो। लेकिन यहां के लोगों की मानस यथार्थताओं को समझे बगैर आरोपित बोधों के जरिए न माया मिलेगी न राम। जीवन से असंपृक्त बोध आज के बुद्धिजीवी को भी उसी गधे की तरह बना देगी जो चंदन की गंध से अपरिचित केवल चंदन का बोझा ढोने वाला होता है। बीते इतिहास के अर्थोपजीवी नकली बौद्धिकों को उसने पहले भी ऐसे ही सिद्ध किया है।

यह निश्चित है कि मानव–मन का अनुसन्धान ही समस्त शास्त्रों कलाओं, विज्ञानों, दर्शनों एवम् धर्मों का लक्ष्य सिद्ध होता है। उसके अध्ययन की विधियां प्रकार–भेद से भाषा–भेद से या प्रतीक–भेद से कई प्रकार की हो सकती हैं। किन्तु सबसे अधिक औत्सुक्य जिसके प्रति रहा है जो अद्‌भुत चमत्कारों का स्रष्टा है वह मन है। यजुर्वेद के ऋषि ने मन की इन अद्‌भुत शक्तियों को देखकर पूरे शिवसंकल्प सूक्त में मन की जागृत अथवा निगूढ़ शक्तियों के रहस्य की चर्चा करते हुए जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति की तीनों दशाओं में उसे महाशक्ति मान कर कहा कि "जो भूत, वर्तमान, भावी सभी को लपेट में लेकर यज्ञों, महायज्ञों का विस्तार करता है, ऐसा मेरा मन कल्याणमय संकल्प वाला हो। कल्याणमय संकल्प उस मन की छोटी सी कला है जिसका सम्बन्ध चेतन स्तर के मन से है।

खैर, मन के सम्बन्ध में भारत भर के धर्म, दर्शन एवम् कला के ग्रन्थों में बेशुमार जिक्र है। बौद्ध और जैन मनोविज्ञान भी बहुत गहरा है। किन्तु यहां हम पातंजल योगसूत्र की ही बात करते हैं जो चित्त का ही दर्शन है। जिसमें चित्त, चित्त की वृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण, चित्तपरिकर्म और चित्त से ऊपर उठ जाने तक की प्रक्रिया का चिन्तन किया गया है। दूसरे पाद के सूत्र–

''क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः (2.12–13)

के भाष्य में संपूर्ण मानवमन को कर्माशय यानि कर्मों का सरोवर कहा गया है। और कहा गया है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश आदि पांच क्लेशों के आपस में जुड़ने पर चेतना में कर्म या क्रिया पैदा होती है। फिर क्लेश से कर्म और कर्मों से क्लेशों का जन्म होते होते अनन्त वासनाओं का उदय होता है। उनमें से जों वासनाएं तो कर्म–सरोवर के तल से ऊपर आकर फल देने लगती हैं वे तो दृष्ट हैं। उनकी क्रिया का पता चलता है। किन्तु जो वासनाएं सूक्ष्म रह कर केवल कर्म सरोवर के तल में ही पड़ी रहती हैं वे सभी अदृष्टजन्मवेदनीय हैं। वे कब फल देंगी, इसका किसी को कुछ पता नहीं चलता। इस प्रकार दो प्रकार का कर्माशय

मान लिया गया। जिसका एक रूप यह है कि जिसकी गति–मति का सबको पता चलता है। उससे होने वाले फलों को पहचाना भी जा सकता है। भविष्यवाणी भी की जा सकती है। किन्तु अदृष्ट या अज्ञात कर्माशय की गति क्या होगी यह कह सकना किसी व्यावहारिक मनोविज्ञानी के लिए तो असंभव ही है। हां कोई कोई ध्यान और समाधि में सिद्ध योगी उस अज्ञात मन या कर्माशय की कभी कभी कोई जड़ पकड़ लेते हैं तो भविष्यवाणी भी कर सकते हैं और उसका उपचार भी। किन्तु यह अत्यन्त ही दुष्कर कर्म है।

इस सन्दर्भ में योग के व्यासभाष्यकार ने कर्माशय के काम करने के ढ़ंग पर पूरा शास्त्रार्थ खड़ा किया है और स्पष्ट किया है कि मनुष्यों के कर्मों अथवा मानसिक गतिविधियों का फल देने का क्या तरीका है। फिर निष्कर्ष यह निकला कि कोई भी कर्म यदि एक एक करके फल देने लगे तो बहुत अव्यवस्था करनी पड़ेगी, और यह भी नहीं हो सकता कि मनुष्य का एक कर्म ही अनेक फल देने लगे। क्योंकि दोनों ही तरह अव्यवस्था हो जाएगी। उससे तो कुछ कर्मों को तो फल देने का अवसर मिलेगा कुछ वैसे ही बिना फल दिए पड़े रह जाएंगें। अतः मानवीय चेतना में इधर उधर पड़े हुए सारे कर्मों के टुकडे अन्त समय में मौत के हथौड़े की एक ही दुसह चोट से कुट पिस कर एक पिण्ड बन जाते हैं। यह पिण्ड जो बिखरे हुए विभिन्न कर्मों का समूहमात्र ही नहीं बल्कि एक स्वयं में नई रचना है। इसी के भीतर से अंकुरित होता हुआ जीवनतरू लहलहाने लगता है। उस पर नाना प्रकार के भोगों के फल लगते हैं। एक नई एवम् विचित्र सृष्टि जन्म लेती है जिसमें पता नहीं किस कर्म की गन्ध है किसका रस है, किसका रूप है, किस कर्म का स्पर्श और शब्द। इस पिण्ड में किसी विशेष कर्म का तब कोई स्थान नहीं रहता । सब सभी में समा जाते हैं। तो एक कर्माशय मन बनता है। उसकी गति एवम् स्वभाव को पहचानना बहुत कठिन हो जाता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते आए हैं कि ''अहो कर्मगतिश्चित्रा'', और आम आदमी की जुबान पर रहा ''ऊधो कर्मन की गति न्यारी। उज्ज्वल पंख दिए बगला को कोयल केहि विधि कारी।'' इस प्रकार मन और कर्म को एकाकार करके जब लोगों ने देखा तो व्यवहारवादी मनोविज्ञान उनकी समझ में आ गया। छाया और प्रकाश, ज्ञात और अज्ञात का द्वन्द्व भी उसकी पकड़ में आ गया। किन्तु जिस तरह मनोविज्ञान की क्लास में सभी छात्र मनोवैज्ञानिक नहीं होते वैसे ही भारतीय पण्डितों, सन्तों और योगियों में भी रहा। कुछ के लिए छाया अंधेरा बनी रही तो कुछ के लिए सौन्दर्य का आलोक।

भारतीय काम–चेतना

वर्तमान युग के एक सौ पचास वर्षों में योरूप के सांस्कृतिक जीवन में तब एक तहलका मचा जब सिग्मण्ड फ्रायड नाम के एक यहूदी विद्वान् डाक्टर ने अपने चिकित्सा–काल में लोगों के मानसविकृति एवम् स्नायुतंत्र की गड़बड़ी के कारण होने वाली हिस्टीरिया एवम् स्नायुरोग जैसी बीमारियों का समाधान ढूंढते हुए यह पा लिया कि इन सब रोगों के मूल में रोगियों के यौन–जीवन की विकृति ही एकमात्र कारण है। स्वप्नमनोविज्ञान् और नवीन मनोविज्ञान की आधारशिला का विन्यास जिस दिन से फ्रायड द्वारा किया गया उसी दिन से उसके चिन्तन को श्रद्वालुओं ने होहल्ले के बीच बहुत सा उल्टा सीधा करके प्रचारित कर दिया। कई तरह की कामग्रन्थियों की कल्पना ने जब किसी वहां के धार्मिक गुरू को भी पाश से मुक्त घोषित नहीं किया तो धार्मिकता एवम् ईसाई नैतिकता की जड़ें भी कांप उठीं। दरअसल बात कुछ इतनी जटिल नहीं थी। लेकिन पाश्चात्य मन किसी भी साधारण से तथ्य को भी जब अनुभव में स्फुट होकर आते देखता है तो एक विशेष प्रकार के धूमधमाके के साथ 'वण्डरफुल' (आश्चर्यजनक) 'एक्साइटिंग' (उत्तेजक) एवम् 'इण्टेरेस्टिंग' (मज़ेदार) के आवेश के साथ प्रचारण, प्रकाशन या विज्ञापन में तत्पर हो जाता है और यंत्रबल से उस तथ्य को समर्थित कर लोक में प्रस्तुत करने को पूर्ण परिणति मान लेता है। बात कुछ ठीक भी होगी। किन्तु उसी एक दृष्टि को अतिशयता का रूप दे देना भी मानवीय चिन्तन को असन्तुलित कर देता है।

भारतीय जीवन में काम शब्द को कई स्तरों पर प्रयुक्त किया गया था। वेद से लेकर आज तक काम को तत्त्व के रूप में कई जगह स्वीकार किया गया। काम शब्द दर्शन, कला, साहित्य, धर्म में बहुत गहरे में कहीं उतर चुका था। ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में काम को सृष्टि का आदि तत्त्व कहा गया था तो उपनिषदों में तीन एषणाओं में मूल शब्द 'एषणा' काम का वाचक बन कर व्याख्यात हुआ। बौद्धों और जैनों में भी कामधातु का निकट से निरीक्षण किया गया और देखा गया कि काम ने संपूर्ण चराचर जगत् को आच्छादित कर रखा है। लेकिन काम की योनि संकल्प को माना गया है। इसीलिए किसी भी यज्ञ कर्म के आरम्भ में पहले जल लेकर यजमान से संकल्प छुड़वाया जाता है। उस अर्ध्यपात्र के निर्मल जल को बेरंग नहीं छोड़ा जाता। उसमें चाहे तो दो दाने चावल या लाल रोली का रंग छोड़ दिया जाता है। जिसका अर्थ जल के साथ ठोस द्रव्य का मिश्रण अवश्य रहना चाहिए। ताकि सृष्टिकर्म में नीरूप काम रूपायित रचना में उतर सके। संकल्प बहुत ही तरल और सरल सूक्ष्मतत्त्व है उसे रचना में लाने के लिए कुछ स्थूल तो करना ही पड़ेगा। संपूर्ण यज्ञकर्म इसी संकल्प की स्थूलसृष्टि है जिसमें सर्वप्रथम संकल्प का प्रकाशन

योनिकुण्ड या अग्निवेदिका के रूप में सामने आता है। प्रज्ज्वलित कुण्ड के अग्नि में निरन्तर घी की आहुति का दान यजमान के ही उस आदि संकल्प की यौन अभिव्यक्ति है। छान्दोग्य (5–10) में पुरूष और स्त्री दोनों को ही अग्नि का रूप मानते हुए दोनों को ही सक्रिय यौनशक्ति मान लिया गया है। यह यौन शक्ति क्या है? चेतना का सूक्ष्म स्तरों पर से उठकर देह स्तर पर या इन्द्रियों के स्तर पर अभिव्यक्ति की खोज एवम् अभिव्यक्ति का छन्द। भीतर का छिपा हुआ सारा का सारा मन, प्राण, चेतना, जब बाहर की ओर उलटना चाहते हैं और सर्वाधिक धक्के के तीव्र वेग को जहां हम अनुभव करते है उसे योनि कह दिया। यह दो भागों में अभिव्यक्त हुई। स्त्रीयोनि और पुरूषयोनि के रूप में। यहीं पर साढ़े तीन कुण्डल मार कर सोने वाली कुण्डलिनी शक्ति क्या मूलतः यौनशक्ति ही तो नहीं? यह प्रश्न अविकृतभाव भाव से किसी ऐसे योगी से ही पूछना होगा जो इस यौन शक्ति के ही ऊपर और नीचे के संचार के खेल को समझता है। वह उस शक्ति के सुषुम्ना में प्रवाह का अर्थ यौनजीवन का सरल और ग्रन्थिमुक्त होना ही तो नहीं मानता?

यौन चेतना की अभिव्यक्ति मनुष्य और पशु के स्तर पर शायद अधिक सचेत है। क्योंकि इन्द्रियों का पूर्ण विकास इन्हीं दो सृष्टियों में हुआ। अतः इन्द्रियाकर्षण को ही यदि यौनचेतना मान लें तो वह पांचों ज्ञानेन्द्रियों में अभिव्यक्त होकर पंचमुखी बन जाती है। किन्तु अपने मूल स्थान में जब वही तीव्र संवेग या आंदोलन अनुभव करती है तो शेष इन्द्रियों की शक्तियां उसी एक शक्ति के साथ आत्मसात् हो जाती है। यही महाभोगात्मिका स्थिति है। अतः यह जो 'इन्द्रियग्राम' शब्द संस्कृत धर्मशास्त्रों में प्रयोग किया गया है उसके अनुसार जब घनीभूत यौनशक्ति समूहशक्ति बन जाती है तो बड़े बड़े समझदार आदमी को भी अपनी प्रवृत्ति में साधन बना लेती है। अतः विद्वान् होने पर भी समझदार आदमी को एकान्त में मां, बहिन, बेटी के साथ भी अधिक समय नहीं बैठना चाहिए। क्योंकि संबन्ध विवेक एवम् लोकनीति पर ही आधारित हैं। यौनशक्ति, जो व्यक्तिशक्ति है वह क्षुब्ध होकर लोकधर्म एवम् विवेक को डस सकती है। अपराधी व्यक्ति के जीवन के मूल में यह शक्ति फौरन् काम करने जा सकती है यदि इसे लोकमर्यादाओं से निगडित न किया जाए। लेकिन यही शक्ति यदि अनुकूल वातावरण पा ले एवम् समाजीकृत हो जाए तो अत्यन्त ही रचनात्मक हो उठती है। किन्तु समाजीकरण के चक्कर में यदि किसी ने इस शक्ति का उत्पीड़न किया तो वह विकृतियों में ध्वस्त भी हो जाएगा।

वस्तुतः यौनाकांक्षा को हमारे सन्दर्भ में देहप्राप्ति की निगूढ़ या प्रकट लालसा ही कहा जाता है। आध्यात्मिक स्तर पर भी यही कहा जाता रहा कि जीवचेतना जब किसी स्थूल देह को पाने का संकल्प लेती है तभी भोग होता है। चेतना द्वारा देह का सजीव उपभोग ही संभोग कहा गया। क्योंकि उस में तन्मयता और रसास्वाद की स्थिति की जो गहनता है वह किसी अन्य उपभोग में नहीं। जब हम किसी वस्तु को

सामान्यतः योग्य मानकर एक एक ज्ञानेन्द्रिय से उसका आस्वादन करते हैं तो उसमें प्रत्यक्षतः इन्द्रियों का सम–भोजन या सहभोजन नहीं होता। जैसे शब्द के श्रवण में या चक्षु के रूपास्वादन में घ्राणेन्द्रिय या त्वचा आदि इन्द्रियों का कोई विशेष सहयोग अपेक्षित नहीं होता वे सब भोगचेतना के एकांगी रूप हैं। हां, कभी कभी एक एक इन्द्रियप्रधान भोगानुभव में दूसरे इन्द्रिय से किए जा रहे भोग के साधारण बिम्ब जाग्रत् हो सकते हैं। क्िन्तु संभोग में बात दूसरी रहती है। वहां इन सभी इन्द्रियों के मूल आधार यौनकेन्द्र या मूलाधार चक्र पर वासना का धक्का लगते ही सभी इन्द्रियां सजग हो जाती हैं। त्वचा मादक स्पर्श के लिए, कान प्रिय के कामुक वचन सुनने के लिए, घ्राण प्रिय की देहगन्ध के लिए, आंखें प्रिय के रूप को अतिनिकट से देखने के लिए तथा रसना अधररसपान के लिए एक साथ विह्वल हो उठते हैं। अन्य सभी भोगों से पृथक् करने के लिए इस रतिक्रिया को संभोग अर्थात् सम्यक् प्रकार से सर्वेन्द्रियतृप्तियज्ञ के रूप में देवताओं ने, ऋषियों ने सिद्धों ने, योगियों ने स्वीकार किया। तथा धर्मग्रन्थों में आध्यात्मिक अनुभव की गहनता के अनुभव को अभिव्यक्त करने के लिए इसका प्रतीक रूप में सर्वाधिक प्रयोग किया। वस्तुतः शुद्ध रति में तो भोक्ताभोग्य का भी भेद नहीं रहता। क्योंकि दोनों ही इकाइयां सदेह होकर सचेत होकर लीलारत हैं जब कि भोग की अन्य दशाओं में भोग्य जड़ ही होता है। इस रतिकर्म में भोग्य की चेतना का ध्यान न करके जब केवल आत्मतुष्टि ही प्रधान होती है तो वह संभोग जैसे महापद का अधिकारी न होकर, बलात्कार या पाप पद का भागी हो जाता है। क्योंकि उसमें यज्ञभावना का लोप हो चुका होता है। अतः अशुचि या अमेध्य कह कर उस रतिकर्म की निन्दा की गई। वैष्णव आचार्यों ने मन्दिरों में इस रति को निगूढ़ भाव से साधना में प्रयुक्त किया। भोग लगाने या प्रसादप्राप्ति के काम में पर्दा खींचा जाना क्या कुछ अर्थ रखता है? भक्तों द्वारा प्रसाद लेकर प्रसन्नता प्रकट करना विश्वव्याप्त राधा–माधव की सचेत रति के अनुमोदन के सिवा और क्या हो सकता है। अतः संर्पूण वैष्णव साधना का केन्द्रीय भाव यौन रति में से दिव्य का अन्वेषण अथवा रतिभाव का पूर्ण अनुमोदन है।

लेकिन यह आवश्यक है कि जब इस देखने में स्थूल क्रियात्मक रतिकर्म को यज्ञभाव के रूप में लिया गया था तो यज्ञ के लिए उचित देह, काल, कर्म का संयोजन हुआ था। सही मुहूर्त, ठीक ऋतु, ठीक स्थान का चुनाव, सही लोगों का सही सहयोग, ये सब बातें उसमें स्वाभाविक रूप से आ गईं। भारतीय विवाह– विधि का आविष्कार इसी रतियज्ञ का विकास है। थोड़े विवेक और संयम वाला व्यक्ति भी बिना किसी प्रकार की हिंसा किए आनन्द ले सकता है। क्योंकि इस कर्म में यदि आपस में दोनों इकाइयों का पूर्ण सहयोग है तो संयोग का आनन्द बन जाता है। समभोग होने से हिंसा भी नहीं रहती। दोनों ही परस्पर रतिसंपन्न हों तो भोक्ता कौन और भोग्य कौन? समस्त हिंसा, द्वेष–दुख विषम रति के ही परिणाम हैं। शेष इन्द्रियों

के भोगों में एक को तो भोग्य बनना ही पड़ता है। अतः भोक्ता में हिंसा की भावना बलवती हो उठती है। न भी हो, तो भोक्ता का भोग्य को कुछ न दे सकना, केवल स्वयं ही उसे विषय मान कर प्रवृत्त होना, भोगवासना का एकमुखी विकास है। जबकि रतिकर्म में रति का द्विमुखी विकास हो जाता है। वहां भोग्य तो कोई भी नहीं रहता है।

आचार्य शंकर ने लोगों को आत्मज्ञान की बात सुझाते हुए कहा कि पांच इन्द्रियों के अलग अलग पांच भोग हैं। हरिण में श्रवणेन्द्रिय की लालसा, हाथी में मत्त हथिनी को छूने की स्पर्शेन्द्रिय की लालसा, पतंग या परवाने में ज्योति की रूपलालसा, भौरे में पुष्पगंध पाने की गन्धलालसा और मछली में जो कुछ भी खा जाने की अन्नलालसा आदि में केवल एक एक लालसा ही प्रधान है। उसी का दण्ड बड़ा कठोर मिलता है। किसी को मृत्यु, तो किसी को आजन्म कैद मिलती है। पर यह मनुष्य, जिसमें पांचों इन्द्रियाँ प्रबल हो उठती हैं, इसका क्या होगा? भोगविरोधी दृष्टिकोण वाले आचार्य ने निषेध की रीति से भी मानवीय रति के स्वरूप को कहते हुए सर्वेन्द्रिय-समन्वयरति या सन्तुलित रति की ओर संकेत कर दिया है।

किन्तु प्रश्न इस लालसा का है। यह क्या है? कहां से उठती है? कहां चली जाती है? ऐसे लगता है कि जैसे साधारण संकल्प भी जब चित्त में उठता है तो भोगे हुए विषयों के स्मृतिविम्ब या संस्कार एवम् चेतना के आनन्दांश का मिश्रण होने से सजीव हो कर देह से बाहर दौड़ने को उत्सुक, चित्त के आवेश का नाम ही लालसा है। इसकी योनि चित्त है। इसीका स्थूल अभिव्यक्ति-स्थान लिङ्ग अथवा योनि है। अपने अपने इस अभिव्यक्ति-स्थान की ओर सुख की तलाश में दौड़ते रहना ही यौन लालसा है, जिसे अधिक से अधिक सुरक्षित एवम् सुव्यवस्थित करने के लिए धर्म, मर्यादा, बुद्धि, विवेक सब हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। क्योंकि जीवन की मूल सक्रियता,रजोगुणात्मिका व्युत्थानशक्ति ही है। शैवों ने लिंगपूजा में इसी शक्ति के समरसीभाव को पूजा है।

योनि शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'यु मूल और 'नि' प्रत्यय से है। 'यु' के भिन्न रूपों के मूल अर्थ 'सम्मिलित होना या करना', तथा 'अलग करना तथा बांधना आदि मुख्य अर्थ हैं। भारतीय आस्था के अनुसार प्राणिमात्र में ही जो अरूपचेतना या ब्रह्मचेतना है उस में माया का मिश्रण करके, उसे किसी निश्चित स्वरूप में बांधकर उसका वर्गीकरण या व्यवस्थापन की क्रिया योनि ही करती है। अतः हम लोग प्रयोग में अक्सर कहते हैं कि अगले जन्म में पुण्य योनि की प्राप्ति होनी चाहिए। आत्मा की यह योनि-प्राप्ति की कामना का क्या कुछ यौनवासना से सम्बन्ध हो सकता है? भारतीय सन्दर्भ में यौनचेतना को उसके मूल रूप के साथ बृहत्तर आयाम अवश्य दिया जा सकता है। उपनिषद् कहते हैं कि उस जीवात्मा की पांच

योनियां या पांच कोश हैं। सबसे सूक्ष्म आनन्दमयकोश, उससे स्थूल विज्ञानमय, उससे भी स्थूल मनोमय–प्राणमय और सबसे स्थूल अन्नमय देह है। इस अन्नमय कोश या योनि को प्राप्त किए बगैर कुछ भी अनुभव या रचना की सिद्दि नहीं हो सकती। अतः आनन्दानुभव एवम् रचना की युगपत् उपलब्धि ही यौन सुख का मूल है। देह में आनन्द का केन्द्र–स्थान भी उपस्थ या योनि को ही शास्त्रों में कहा गया है। इस सुखभावना को यदि अहम् की विकृतियों का स्पर्श न हो तो इसका स्वच्छ प्रवाह नीरोग एवम् स्वस्थ ज़ीवनधारा को प्रवाहित करता है। यदि इस योनि या स्रोत को ही किसी अन्य अति अर्थलालसा आदि से अस्वच्छ कर दिया जाए तो रूग्ण जीवन प्रवाहित होगा। अतः व्यक्ति के या समाज के जीवन में रोग, शोक, दुखदारिद्रय का गहनतम सम्बन्ध उसके यौन जीवन की स्वस्थता अस्वस्थता से है। जहां कृत्रिम उपायों से ही हरदम यौन सुखभोग का अतिरेक कर दिया जाएगा वहां शेष जीवन का विकास क्षुब्ध हो उठेगा। क्योंकि धर्म,अर्थ और काम का मूल तो योनि ही है अर्थात् "भार्या मूलं त्रिवर्गस्य, भार्या मूलं तरिष्यतः।" (धर्मार्थकामरूप त्रिवर्ग की सिद्धि का मूल भार्या है और संसार से तारक मोक्ष की अभिव्यक्ति का मूल भी भार्या है) (महाभारत)। अथवा जहां कृत्रिम उपायों से नए साधुओं सन्तों की तरह इस यौन जीवन को खण्डित करने पर बल दिया जाएगा वहां भी लोग सन्तगीरी के नाम पर पागल हो जाएंगे। अतः दोनों प्रकार की विकृतियों से रक्षा करने वाले लोग ही जान पायेंगे कि स्वच्छ एवम् यौनसुख क्या है? संपूणता, सामाजिकता, परिवार, एवम् व्यक्तित्व की श्रेष्ठता सौन्दर्यबोध, विद्याएं, कलाएं सभी इस योनि का परिवार हैं।

इस विषय में पौराणिकों या तांत्रिकों का ज्ञान तो बहुत ही स्वच्छ रहा है। पौराणिकों ने तो संपूर्ण प्राणिजीवन को चौरासी लाख योनियों में बांट रखा है। प्रत्येक जीव को अपनी संस्कार–वासनावश आगे पीछे के क्रम से इन योनियों में से गुज़रना है। यानि बहुयोनि–प्राप्ति की प्रत्येक की परोक्ष या प्रत्यक्ष कामना स्पष्ट है। सुअर, कुत्ते, गधे आदि नाना शरीरों को धारण कर नाना प्रकार के यौन सुख भोगना प्रत्येक जीव की निगूढ़ वासना है। इसलिए मृत्यु के बाद भी देहान्तर–प्राप्ति विशुद्धरूप से यौनवासना के अनुरूप ही होती है।

यौन सुख की प्राप्ति के लिए मनुष्य सामाजिकला या नैतिक बन्धनों के भय से पशु के समान निर्द्वन्द्व काम–सुख नहीं भोग सकता। महाभारत के उपाख्यान के अनुसार पाण्डु राजा ने शिकार करते समय जब झाड़ियों के पीछे एक मृगी से संभोग करते हुए एक मृग को मारा तो वह मृग एक मायामृग निकला। वह किंदम मुनि था जो एकान्त में मृग योनि के भोग में डूबा हुआ था। उसने अपने इस यौन सुख को छीनने वाले पाण्डु को शाप दे दिया कि "आज के बाद तुम जब भी यौन सुख–प्राप्ति के लिए स्त्रीदेह का स्पर्श करोगे तो तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी। फलतः पाण्डु के दादा

परदादाओं का यौन–जीवन तो विफल था ही, पाण्डु, कुन्ती, द्रौपदी और पांचों पांडवों को भी यातना भोगनी पड़ी। सारे महाभारत में केवल श्रीकृष्ण को छोड़ कर शेष जितने पात्र सामने आते हैं सभी का यौन जीवन असंतुलित था। परिस्थिति की विवशता से विकृत था। ऐसा लगता है कि उससे पूर्व ऋषियों का दर्शन सारे का सारा स्वच्छ और सरल, तृप्तिप्रद भोजन और संभोग पर बल देता है। कुल, जाति या गोत्र में विभाजन कर उसे संस्कारित करता है। ययाति, दुष्यन्त, शांतनु, चित्रांगद, विचित्रवीर्य, अग्निवर्ण जैसे राजन्य, पशु के समान भी नहीं अपितु निरंकुश अहंभाव से भोगना चाहते हैं और उसे विकृत कर देते हैं। बुद्ध और जैन परम्परा उसको किसी अन्य सिद्धि या उपलब्धियों के चक्कर में उपेक्षित कर कामतत्त्व का तिरस्कार करती है। फलतः भारतीय जीवन के इतिहास में इन अनगिनत असंतुलनकारियों के बीच केवल कुछ ब्रह्मर्षि और कुछ राजन्य एवम् अधिकांश प्रजाजन ही इस यौन शक्ति के स्वच्छ एवम् अविकृत रचनात्मक भोग के मार्गदर्शन का बीड़ा उठाए रहे हैं।

तंत्र, मूलतः इसी शक्ति को उपासना एवम् विवेक के बल पर पहचान कर इसकी रचनात्मक संपूर्णता को पकड़ पाया है। वह योग और भोग, ग्रहण और त्याग के बीचों बीच रह कर इस तत्त्व को समझ सका है। फलतः उसने उपासना में भी केवल त्रिकोणरूपा शुद्ध योनि को बिन्दुरूप लिंग से संयुक्त कर दिया है। बिन्दुरूप वासना ऊर्ध्वगामी वासना का संकेत है तथा यौनवासना धरती के दोनों गुणों गुरूत्वाकर्षण एवम् गन्धाकर्षण का संकेत है। उसके गुरूत्वाकर्षण को देखकर ही तांत्रिकों ने योनि को पीठ कह कर स्थापित किया और लिंग को उसी के भीतर से प्रज्वलित होकर आकाशोन्मुख अग्नितत्त्व कहा, जो कुण्ड के अन्दर प्रदीप्त कामाग्नि है। इसी पार्थिव कामाग्नि का जब विकास होता है तब ज्ञानाग्नि या प्रेमाग्नि में इसी का रूपान्तरण हो जाता है। अतः यौनवासना देहाग्नि से भिन्न कुछ नहीं, जिसका ईंधन अन्य देह है।

यज्ञ में जब अग्नि–प्रज्वलन किया जाता है तो एक चपटी सी अरणि लकड़ी का खण्ड जिसकी ऊपरी सतह में ही गोल छेद सा रहता है उसे उर्वशी अप्सरा कहा जाता है। वह योनि बनती है। उसमें जब ऊपर से एक दण्डाकार अरणि लकड़ी डालकर मथानी की तरह घुमाई जाती है तो पहले अग्नि का धुआं उठने लगता है फिर धीरे धीरे अग्नि जल उठता है। इस अग्नि की स्तुति में मंत्रगान आरम्भ हो जाता है ताकि वह एक कुलीन बालक की तरह युवक होकर घर–परिवार लोक एवम् राष्ट्र की रक्षा करेगा। इस तरह यह सारा जीवन यज्ञ–भावना या यौन भावना का सुव्यवस्थित विकास है। इसके देवता विष्णु या शिव दोनों ही तंत्र में कामेश्वर कामेश्वरी के रूप में स्मरण किए गए हैं।

महाभारत में कामतत्त्व की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए भीमसेन ने शान्तिपर्व में

कहा है कि धर्म और अर्थ से काम कहीं अति श्रेष्ठ है जैसे कि दही या छाछ से माखन श्रेष्ठ है, तिलों की खली से तेल श्रेष्ठ है, पेड़ की लकड़ी से फूल और फल श्रेष्ठ हैं वैसे ही धर्म और अर्थ की अपेक्षा काम ही ज्येष्ठ है। क्योंकि काम ही धर्म और अर्थ की योनि है।

"नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः
श्रेयस्तैलं हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय उदश्वितः
श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात् कामोधर्मार्थयोर्वरः।
कामोधर्मोर्थयोर्योनिः कामश्चाथ तदात्मकः।।"

योनि को कमल कह कर साहित्यकारों ने, आधारकमल कह कर तान्त्रिक पौराणिकों ने कई प्रश्न उठाएं हैं। महाभारत में ही भरद्वाज ने भृगु से पूछा कि आप तो सृष्टि का आदि पुरुष ब्रह्मा को कहते हो परन्तु ब्रहमा का जन्म जिस योनिकमल से हुआ उस योनिकमल को ब्रह्मा से ज्येष्ठ एवम् श्रेष्ठ कहना चाहिए–

"पुष्कराद् यदि संभूतो ज्येष्ठं भवति पुष्करम्।
ब्रह्माणं पूर्वजं चाह भवान् संदेह एव मे।"

भारतीयों ने यौनभावना का चिन्तन कैसे किया इसको तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक संपूर्ण भारतीय दर्शनों में व्याप्त जीवन जगत् की चिन्तन–कड़ियों को खोलकर न देख लिया जाए। जैसे पृथ्वी के बारे में उनका मत है कि "गन्धवत्त्वं पृथिव्याः लक्षणम्" गन्धयुक्त होना ही पृथिवी का लक्षण है। आधुनिक भौतिकी या फ़िज़िकस इस लक्षण का क्या करेगी? अतः आवश्यक हो जाता है कि जिन आधारों से भारतीय दार्शनिक ने चिन्तन के सूत्र पकड़े तथा जिन दर्शनों के ठोस चिन्तन पर बादवाले साहित्य, विज्ञान, कला शिल्प की नींव पड़ी, उनको पहले समझा जाए। यह कहना ठीक नहीं कि स्वप्नमनोविज्ञान या यौनचेतना के बारे में बात करके फ्रायड ने कोई ग़लत स्थापना की। हां, यह संभव है कि उसके द्वारा यौन चेतना की वास्तविकता पर अधिक बल देने से ईसाइयत की अतिनैतिकता से पीड़ित लोग परेशान हो उठे हों। तथा कामचेतना को भी उसने विज्ञान के सांचे में कस दिया जो किसी भी चेतना के साथ बौद्धिक जबरदस्ती भी हो सकती है। क्योंकि अज्ञान यदि मानवचेतना को जड़ता में कैद करता है तो विज्ञान उन्हें अतिशयोक्तिपूर्ण विस्पष्टता या नग्नता में खींचकर भी ले जाता है। प्रत्येक चेतना या संवेदना को यदि इसी प्रकार वैज्ञानिकता का बन्दी बनना पड़ेगा तो एक दिन सारा जीवन बासी पड़ जाएगा। सड़ जाएगा। वैज्ञानिकता का मोह संपूर्ण मानवता के लिए घातक हो उठेगा। क्योंकि आज का वैज्ञानिक सत्य या वास्तविकता का साक्षात्कार कर वहां से हटना नहीं चाहता बल्कि उस सत्य का व्यवसाय करना चाहता है। उसे अपना बन्दी बनाना चाहता है। अपनी जेबों में भर लेना चाहता है।

स्मृति-दर्शन

हमारा सारा व्यक्तित्व जीवन–धारा के प्रवाह में अनुभव पाने, उन्हें स्मरण रखने, भूल जाने के त्रिभुज में सुरक्षित होकर चलता है। हमारा प्रतिक्षण का अनुभव हमारी इन्द्रियों के द्वारा रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श के विषयों के साथ मिलने से पैदा होता रहता है। बाद में उन अनुकूल–प्रतिकूल अनुभवों और विषयों को स्मृति द्वारा हम सुरक्षित कर लेते हैं। जो हमारी संवेदना और अनुभवों के लिए अनुपयोगी हों उन्हें विस्मृति के द्वारा निकल जाने देते हैं। इस प्रकार अनुभव, स्मृति और विस्मृति तीनों को हम उत्पत्ति, सुरक्षा और व्यय या विनाश की क्रियाओं के रूप में देखते हैं। सुरक्षा का दायित्व क्योंकि भगवान् विष्णु का रहा है। अतः हरिस्मरण के द्वारा वैष्णवों ने ज्ञानरक्षा और विश्व–रक्षा के भाव के साथ अपने को जोड़ा। प्रसिद्ध वैष्णव गीतगोविन्द के लेखक जयदेव की रचना को हरिस्मरण ही कहा गया है कि "यदि आपका मन हरिस्मरण में सरस होना जानता है तो आप जयदेव की कविता को पढ़िए जैसे कि वह स्मृति के तन्तुओं से ही बुना हुआ काव्य हो। विशेष करके कृष्ण भक्तिकाव्य और दर्शन में जो प्रतिष्ठा स्मृति को मिली है वह अद्वितीय है। संपूर्ण विरह का काव्य गोपिकाओं की स्मृति में ही तो प्रतिष्ठित है। उठते, बैठते, जागते, सोते, खाते समय समस्त व्रजबालाओं के चित्त पर कृष्ण की माधुरी मूर्ति चढ़ी रहती है।

काव्य–शास्त्रियों ने जिस स्मृति को एक क्षणिक भाव या संचारी मानकर छोड़ दिया था उसमें स्थायिभाव की गहराई ढूंढने का काम कृष्णभक्त कवियों ने किया। कृष्ण भले ही सामने नहीं परन्तु स्मरणपूर्वक उनकी कथाओं का गान तो कोई समाप्त होने वाली वस्तु नहीं है। कृष्ण–कथा या चरित्रगाान से स्मृति दृढ़ हो जाएगी और कृष्णरति में परिणत होकर साक्षात्कार या चरम अनुभव का हेतु बनेगी। वस्तुतः भक्ति का स्वरूप विश्लेषण करते हुए आचार्यों ने भी श्रद्धा और प्रेम के संयोग या मिश्रण को भक्ति का नाम दिया। स्मृति, जो भक्ति या प्रीति के अग्रसर होने के लिए 'बैड रॉक' या आधारशीला का काम करती है उसको महत्त्व नहीं दिया। कारण जो भी रहा हो, किन्तु इतना निश्चित है कि वैष्णव काव्य के सन्दर्भ में यदि आप भक्ति को देखना चाहते हैं तो स्मृति के बिना भक्ति की कल्पना संभव नहीं। यज्ञपरक कर्मकाण्ड की समाप्ति पर भी पण्डित लोग अन्तिम तौर पर यह बात करना नहीं भूलते कि "श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण यज्ञादि कर्मों के बीच यदि प्रमादवश कोई दोष हो गया हो या कोई कमी रह गई हो तो अन्त में भगवान हरि के एक बार नामस्मरण कर लेने से समस्त दोष नष्ट होकर कर्मों

में संपूर्णता आ जाती है – "स्मरणादेव तद् विष्णो सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः"।

यह बात भी सत्य है कि प्राचीनकाल में ही जब श्रुति की रक्षा का प्रश्न आया तो लोग ऐतिहासिक कारणों से वेदपरम्परा को भूलने लगे तो उत्तरकालीन ऋषियों ने स्मृति का ही आश्रय लिया। बाद में स्मृतिशास्त्रों में वैदिक धर्म का ही नए सन्दर्भों में पुनः स्मरण होने से मनु आदि के धर्मशास्त्रों को स्मृतिशास्त्र नाम ही दिया गया। फिर तो श्रुति के साथ स्मृति का सदा के लिए ही नाम जुड़ गया। क्योंकि हमारे सारे सही अनुभवों या संवेदनाओं के साथ स्मृति का बिल्कुल साक्षात् सम्बन्ध रहता है अतः प्रत्यक्षानुभवरूप हरि को पाने के लिए स्मृतिरूपा भक्ति को ही सही सही उपाय माना गया है। अतः शाक्तों ने भी अपनी भगवती के प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में भगवती को "श्रुतिस्मृतिरनुत्तमा" अर्थात् उन्हें दिव्य श्रुति और दिव्य स्मृतिरूपा एक साथ कह कर सम्बोधित भी किया है, स्मरण भी किया है। अतः पुराण, तन्त्र, आगम आदि भारतीय चिन्तन विधाओं में यह बात दृढ़ता के साथ कही जाती है कि श्रुति का जितना भी दुर्बोध या रहस्यज्ञान है वह सब स्मृतिशास्त्र या स्मृतितन्त्र में ही प्रतिष्ठित है।

वास्तव में मनुष्य–जीवन में शब्द या वाक् का उदय एक बहुत ही विलक्षण और महत्त्वपूर्ण घटना रही है। यह शब्द मूलतः उभयप्रकृतिक या उभयलिंगी रहा है। यह बोधरूप और ध्वनिरूप एक साथ रहा है। संभवतः शिवोपासकों ने अर्धनारीश्वर के विम्ब के द्वारा शब्द की इसी उभयमुखी अवस्था का संकेत किया है। इस तत्त्वरूप शब्द की प्राप्ति ने मनुष्य को ऋषित्व प्रदान किया और श्रवणपथ से मनुष्य की चेतना में उतर गया। अतः इस आदि और उभयमुखी शब्द को श्रुति कहकर सम्बोधन किया गया। इस श्रुति के प्रथम अनुभव के आधार पर उपजने वाली इस मानवी परम्परा को स्मृति के आधार पर ही विकसित किया जाता रहा है। अतः समस्त ज्ञानपरम्परा की रक्षा का दायित्व मानव–परम्परा की रक्षा का दायित्व स्मृति के ऊपर ही आ जाता है। उस स्थिति में स्मृति का स्वरूप केवल संस्कार–मात्र से पैदा होने वाला ज्ञान या किसी अनुभवविशेष का चित्त से न उतरने का नाम ही नहीं रहेगा अपितु ज्ञान–परम्परा की अविरल धारा या संतति–प्रवाह भी स्मृतिरूप ही कहा जाएगा। यदि यह प्रवाहरूपा स्मृति मनुष्य के भीतर रहने वाले सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण निर्मल होती जाए तो वह योगियों के अनुसार ध्रुवास्मृति बनकर तत्त्वज्ञान में ही ले जाती है। ध्रुवास्मृति का अर्थ है अखण्डाकार या अटूट स्मृति। सामान्य जीवन में तो यह स्मृति प्राप्त होती नहीं। अतः वहां इसके स्थान पर श्रुति या सत्य अनुभव के साथ जोड़ने का काम युक्ति करती है। स्मृति के अतीत–प्रधान या इतिहास–प्रधान रूप में से ही गुरु या उस्ताद की कार्य–प्रणाली को ध्यान करते करते ही शिष्य की स्मृति में युक्ति का स्फुरण होने लगता है। श्रुति और स्मृति के बीच की कड़ी यह युक्ति ही है।

अतः "युक्त्या पश्यति पण्डितः" की उक्ति बहुत सार्थक हो रही है। क्योंकि पण्डित वही है जो युक्ति या जुगति की आंख से देखता है। लेकिन सच्चे प्रेमी युक्ति की उपेक्षा कर देते हैं और शुद्ध स्मृति के द्वारा ही अनुभव के द्वार खोल लेते हैं। गोपिकाविरह में योग–जुगति का बहिष्कार और कृष्णस्मृति का अखण्ड उदय ही पते की बात है। यह कृष्णस्मृति सरस एवम् भाव–तरल है, जबकि शास्त्रज्ञ पण्डितों की स्मृति अधिकांशतः बहुत देर तक पोथीस्मरण के रूप में विरक्त ही रहती है। रजोगुणी–तमोगुणी लोगों की स्मृति राग–द्वेषरूपा होकर मीठी–कड़वी होती रहती है।

यहां तक तो हम स्मृति के उस रूप की ही बात करते आ रहे हैं जिसमें उसके शास्त्रीय ढंग से उपयोग की ही बात रही है। अब हम उसके प्रकृतरूप की विवेचना कर सकते हैं। मूलतः हम संस्कार और वासना को स्मृति का बीज मान सकते हैं। वास्तव में जब भी हम किसी भोग या क्रिया में प्रवृत्त होते हैं तो हमारी चित्त–चेतना पर भोगे हुए सुख–दुख का कोई न कोई मानसिक अवशेष रह ही जाता है। अतः संस्कार को अनुभव का अवशेष माना जा सकता है। लेकिन यह अवशेष तभी रहता है यदि हमारा चित्त भोग में विशेष रूप से सजग या ग्रहणशील रहा हो। चित्त की विशेष प्रवृत्ति के बिना केवल ऊपरी इन्द्रिय–व्यापार से हो रही क्रियामात्र से संस्कार–विशेष नहीं बनता। लोग हमारे आसपास से गुज़रते रहें और हम उस ओर केवल निरीह भाव से ही देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते रहे हों तो संस्कार की भूमिका नहीं बनती। सामान्य भोग या क्रिया से संस्कार नहीं बनते। उसके लिए कुछ विशेषता तो अपेक्षित ही है। उसके लिए हमारी रूचि या अरूचि का एक तीव्र झोंका तो मन में आना ही चाहिए ताकि सुख–दुख के संस्कार बन सकें। अतः क्रियानुभव या भोगानुभव में वासना–विशेष का होना आवश्यक है। तभी उसमें सम्यक् कृति या संस्कार का भाव आएगा।

तो जब हमें कभी कोई बोध–विशेष नहीं रहता तो हमारी चित्त–चेतना पर प्रकृति का अधिकार रहता है। वही उसका संस्कार ठीक वैसे ही करती है जैसे मां अबोध बालक को उठाने, बिठाने, खिलाने, पिलाने का संस्कार करती रहती है। इस प्रकृति द्वारा संपन्न संस्कार को ही हम सहजात वृत्ति या सूक्ष्म संस्कार अथवा सामान्य संस्कार कह सकते हैं क्योंकि उसमें हमारा ग्रहण अधिक सचेत या प्रधान नहीं रहता। प्रकृति द्वारा ग्रहण कराना प्रधान रहता है। लेकिन यही क्रिया जब हम मानवीय संस्कृति या सभ्यता के स्तर पर विवेकपूर्वक करते हैं अथवा हम किसी विशिष्ट सभ्यता या संस्कृति या जीवन–पद्धति को किसी को ग्रहण कराना चाहते हैं तो विशेष अनुभव या क्रिया के द्वारा ही उसकी चेतना का संस्कार करना चाहते हैं। संस्कार को और गहन करना चाहते हैं। भोग–क्रिया का शेष अंश है संस्कार, जो हमारी चेतना पर एक जूठन की तरह लगा रह गया है।

अतः हिन्दू–मंदिरों में जो भगवान् को भोग लगता है वह भगवान् की जूठन है पर भक्तों के लिए वह भागवत संस्कार है या संस्कारित किया गया अन्न है। उसको खाने से हमारा भागवत संस्कार बन सकता है। और भागवत संस्कार से भगवत्–प्राप्ति की वासना जाग्रत् हो सकती है और वह वासना उद्बुद्ध होकर भागवत स्मृति में पलट सकती है। अतः संस्कार, वासना, स्मृति ये तीनों ही उस भोग के अनुभव की अवस्थाएं है जो वर्तमान से उठकर हमारी अतीतचेतना में कहीं गहरे चल गए हैं फिर से लौट आने के लिए। पर उसी रूप में नहीं बल्कि किसी अन्य नए रूप में, नए–नए सन्दर्भों में।

हमारा प्रत्येक अनुभव भले ही नया कुमार सा कोरा बनकर आता है किन्तु संस्कारित होकर वह स्मृति बन जाता है। स्मृति में स्थायिता है। अतः स्मृति को स्थायीभाव मानने में आचार्य लोगों को संकोच क्यों रहा यह बात विचार का विषय है। जब रति, शोक, हास क्रोध भय आदि भावों में चमत्कार पैदा किया जा सकता है तो स्मृति में क्यों नहीं पैदा किया जा सकता। लोग अपने अपने माननीय पुरुषों, चरित्रों और महात्माओं के जीवनचरित को बार बार पढ़ सुनकर अपनी अपनी स्मृति को आंदोलित करते करते अभिभूत हो जाते हैं। वास्तव में साहित्य में जो श्रृंगार के मूल में रति नामक स्थायिभाव की कल्पना की गई थी उसमें संयोग और वियोग का भेद किया गया था। संयोग को रस मानने में कुछ आपत्तियां बड़ी उचित हो सकती थीं क्योंकि मंच पर या कहीं भी हंम यदि किन्हीं अन्य लोगों की रति का साक्षात्कार करते हैं तो हमें उसे निर्लज्जता इसलिए कहना पड़ सकता है कि उसमें कहीं सामान्य जन ही न मानसिक रूप से लिप्त हो जाएं। हम अपने सम्माननीय पुरुषों स्त्रियों की रति को देखकर भी उसका साधारणीकरण नहीं कर पाते। वियोग रति में इस तरह का कहीं भय नहीं रहता। अतः उसमें हमारी निर्लिप्ति हमारी तटस्थता को भी बनाए रखती है और हमारी पीड़ाभावना या सहानुभूति उसमें आसक्ति को भी पैदा करती रहती है। वियोग में स्मृति या प्रिय–स्मरण का विच्छेद एक क्षण के लिए भी नहीं होता। वियोग में नायकनायिका की रति हो या प्रेक्षक की, सर्वत्र स्मृति ज्ञाताज्ञात रूप में रहती है। कहीं पर हमें रसावस्था में ले जाती है तो कहीं रसरूप में रूपान्तरित हो जाती है। गोपिका–विरह–गीतों एवम् सूफीकाव्य में स्मृति स्वयम् रसरूपा हो जाती है। इस प्रकार हिन्दुसभ्यता के सभी क्षेत्रों में पुनर्जन्म, धर्म–कर्म–व्यवस्था का आधार स्मृति को माना गया। और इसी कारण से हिन्दुओं के समस्त व्यवहार जगत् या कर्म–अकर्म–सुकर्म आदि की व्यवस्था का सही निर्देश करने वाले समस्त धर्मशास्त्र भी स्मृतिग्रन्थ कहलाने लगे। क्योंकि वे हमारी एक सामूहिक या राष्ट्रीय स्मृति के जीवन्त प्रमाण हैं। उन स्मृतियों के आधार पर ही हम अपने को पहचानने का प्रयास करते हैं। भारतीय दार्शनिक श्रीमद्भगवद्गीता को ब्रह्मविद्या अथवा

योगशास्त्र (जिन्हें आज की शिक्षापद्धति में मेटाफिज़िक्स एवम् मनोविज्ञान से पर्याप्त आगे करके भी देखा जा सकता है) का स्मृति–प्रस्थान कहते हैं। यद्यपि आचार्यों के अनुसार गीताज्ञान उपनिषद् रूप कामधेनु के दोहन से प्राप्त ताज़ा दुग्धामृत है तो भी श्रीवेदव्यास और स्वयम् श्रीकृष्ण ने उसका दोहन स्मृति के आधार पर किया है। श्री कृष्ण कहते हैं कि यह दोहन उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ है। विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु को भी यह ज्ञान परम्परा–रूप स्मृति से ही प्राप्त हुआ। उपनिषद् के ऋषि भी "नमः पथिकृद्भ्यः" वंशऋषिभ्यः की बात करके अपनी स्मृति–परम्परा को उज्जीवित करते रहे।

उपरोक्त कुछ तथ्यों के आधार पर यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि अनुभव और स्मृति में वास्तविक विरोध वैसे ही नहीं जैसे कि नए और पुराने में। अनन्त सृष्टि–प्रवाह में नितान्त नया या नितान्त पुराना कुछ नहीं है। केवल ये वाचिक भंगिमाएं हैं, वाणी के अलंकार है। इन्हीं को परम सत्य मान लेने से भ्रमरूप अनर्थ की प्राप्ति होती है। नई नई मौलिकता की खोज का भ्रम आज के नवीनतावादी चिन्तकों को तथा अपनी प्राचीनतावादी मौलिकता का भ्रम साम्प्रदायिकों को स्मृति–परिशुद्धि न होने से बुरी तरह उलझाए हुए है। व्यक्ति और राष्ट्र दोनों को ही विधिवत् विस्मृति के गर्त में डुबोने का प्रयास किया जा रहा है। प्रत्यक्षानुभव के नाम पर संपूर्ण व्यक्ति और राष्ट्र को एक ओर धकेल दिया गया है। सर्वत्र स्मृति–भ्रंश की अवस्था हावी होने जा रही है। श्रीमद्भगवद्गीता का स्पष्ट मत है कि जिस किसी का भी (व्यक्ति हो या राष्ट्र) स्मृतिभ्रंश होता है उसकी बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धिनाश के बाद फिर किसी अन्य विनाश की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है।

किन्तु प्रस्तुत स्मृतिदर्शन का यह अभिप्राय नहीं होना चाहिए कि कुछ श्रेष्ठ वर्ग के लोग अपनी श्रेष्ठता का स्मरण कर कर के ऐसी दुष्ट व्याख्याएं पैदा कर लें और हीन लोग अपनी हीनता का स्मरण कर कर के दबे रहें या अनावश्यक प्रतिशोधवृत्ति जगाते जगाते परस्पर विरोध को ही पैदा करते रहें। कृष्णभक्ति का दृढ मन्तव्य एवम् निर्देश यही रहा कि ये दोनों ही स्मृति नहीं ये स्मृत्याभास हैं। मिथ्या स्मृति है जड इतिहासबोध है। यथार्थ स्मृति तो हरि–स्मरण है जो प्रतिक्षण नए नए प्रेम के, आनन्द के, सृजन के क्षण उपस्थित करती रहती है। उसी में सत्त्व का उद्रेक भी होता है और सभी राष्ट्र अथवा समाज की इकाइयां अथवा जीव अपने अपने सृजन से संतुष्ट होकर जीते हुए अतृप्ति में भी महा–तृप्ति का सुख लेने के अधिकारी हो जाते हैं। मैथिल विद्यापति का यह सूत्र कि जन्म जन्म भर से आ रहा रूप की दिव्यता को देखने और पाने का सुख आज भी अपने नए से नए उन्मेष के कारण समाप्त नहीं हुआ, स्पष्ट हो उठता है –

जनमि जनमि भरि रूप निहारिल
अजहूं न तिरपित भेल।

इस अतृप्ति में भी अपूर्णता में भी एक ऐसी दिव्य तृप्ति और पूर्णता है जो शाश्वत है नित्य नवीन है। इसीलिए उसका जीव में समावेश अतृप्तिकर है। लेकिन इस अतृप्ति में क्षोभ या विक्षेप नहीं है। यह तो नित्य चलने वाली ब्रह्मजिज्ञासा है जिसमें एक वैष्णव ने भावनाशक्ति के बल से अपनी स्मृति को परिमार्जित कर मांजकर 'तत्त्वमसि' के प्रत्यक्षानुभव में रूपान्तरित कर लिया है। उस की स्मृति कौंधने लगती है तो उसे एक प्रकाश की लहर में 'तत्त्वमसि' का अर्थ 'तुम उसी के हो' खुलने लगता है, तो दूसरी प्रकाश–लहरी में 'तुम वही हो, वही हो' की अनुगूंज सारे व्यक्तित्व को समेट लेती है। इस 'राधा माधव भेंट भई' की स्थिति में आराधना के बल से अखण्ड स्मृति ने ही राधा का रूप धारण किया है और श्रुत्यनुभवरूप तत्त्व–पुरुष ने माधव का।

इस प्रकार के पर्यालोचन से यह बात साफ होनी चाहिए कि प्राणी–मात्र में पाई जाने वाली एक सामान्य स्मृति–शक्ति, जिसकी जन्तुजगत् में सहजात संस्कार के रूप में प्राप्ति होती है तथा मनुष्य–जगत् में सामान्य इतिहास–बोध के रूप में प्राप्ति होती है उसका विकास करके ही मनीषी लोगों ने जप, भावना, प्रत्यभिज्ञा, अनुसंधान–चिन्तन की शक्तियों का आविष्करण शास्त्रमर्यादा के रूप में किया तथा लोकजीवन में उसके तीन रूपों की प्रतिष्ठा की। स्मृति का एक रूप है जो निष्प्रकारक है जिसको महाकवि ने अपने शाकुन्तल में शापग्रस्त स्मृति वाले दुष्यन्त के मुँह से यह कहलाकर व्यक्त किया है "कि कभी कभी व्यक्ति सुख के जीवन में रहता हुआ भी कारण सामने न होने पर भी, भीतर ही भीतर ही कुछ टटोलता है या अबोधपूर्वक स्मरण करता है (तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्)। भारतीय मूल के चिन्तकों ने इस अबोधपूर्विका स्मृति को या निष्प्रकारक स्मृति को पुनर्जन्म अथवा जन्मान्तर को सिद्ध करने के हेतुरूप में प्रस्तुत किया है।

स्मृति का एक रूप ऐसा सप्रकारक है जिसमें स्मृति भावुक होकर कभी स्वप्न में तो कभी जाग्रत् में उन्मिषित हो जाती है। उसमें स्मृति के आलम्बन और उद्दीपन विभाव दोनों ही स्मृतिशील व्यक्ति को स्फुट रहते हैं। व्रज की एक गोपिका के सामने एकाएक बादल छा गए हैं जिन्हें देखकर उसे कृष्ण का स्मरण हो आया है। लेकिन ये बादल श्याम के बिना ही उमड़ आए। वैसे इनके आने से पूर्व कृष्ण भी सपने में आए थे

स्याम बिना उनए ये बदरा
आजु स्याम सपने में देखे
भरि आए नैन ढरकि गयो कजरा।

स्वप्न में आने वाले कृष्ण और प्रत्यक्ष मेघों में उमड़ते हुए प्रतीयमान कृष्ण सूर के काव्य में दोनों ही प्रेमा स्मृति के यथार्थ हैं। उन्हें योगियों की अभावितस्मर्तव्या या स्वप्न में आनेवाली बेसिर–पैर की मिथ्यास्मृति नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्वप्न और जाग्रत् के एकीकरण हो जाने से गोपिका की स्मृति सम्पूर्ण है। स्वप्न में भी उसका स्मर्तव्य भावित है यथार्थ है। अतः यह स्मृति भावितस्मर्तव्या भावात्मिका अथवा महाभावात्मिका स्मृति है।

स्मृति का एक तीसरा रूप बोधात्मक रहा है जिसमें प्रज्ज्वलित जिज्ञासाओं के अग्निकुण्ड में स्मृति का निरन्तर हवन चलता है। और वह पुनःपुनः किए जाने वाले शास्त्रादि के अभ्यास–कर्म से प्रत्यवमर्श या तत्त्वज्ञान में अथवा शैवों की विमर्श शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। आरम्भ में यह स्मृति कर्मप्रधान होने से शिष्यों के लिए पर्याप्त कटुतापूर्ण होती है। पर एकबार शास्त्र का मर्म इसके बल पर पकड़ में आ गया तो व्यक्ति ब्रह्मवेत्ता होने या शिवयोगी होने की दिशा में मुड़ जाता है और वह तत्त्वानुभूति के क्षितिज के क्षितिज पार करता जाता है। अतः

"य एतत्स्मृतित्रयं वेद स अपहतपाप्मा
कर्मभक्तिज्ञानयोगेषु सिद्धिं लभते।"

अर्थात् जो मनुष्य स्मृति के इन तीन रूपों को जानता है वह निष्पाप होकर कर्म भक्ति ज्ञान और योग में सिद्धि पा लेता है।

जीवन–दृष्टि

भारतीय मानस और तर्क

भारतीय मानस का स्फुरण वैदिक परम्परा में जब भी हुआ तब उसके भीतर एक ऐसे तत्त्व का साक्षात्कार रहा जिसे वाक्तत्त्व कहा गया। संभवतः उपनिषदों के चिन्तकों ने इसी सत्य की ओर इंगित करते हुए यह शान्तिपाठ किया कि यदि मेरी वाक् मन में प्रतिष्ठित हो और मन वाणी में प्रतिष्ठित हो जाए तो जो सत् है उसका आविष्कार मेरे सम्मुख अवश्य हो उठेगा। ऋषिचेतना का यह विश्वास संकेत करता है कि मूलतः मनस् और वाक् एक ही हैं। किन्तु अभिव्यक्ति में आकर उभयमुखी हो उठे हैं। एक अपने मूल की दाईं ओर बढ़ रहा है तो दूसरा बाईं ओर। इस दाएं बाएं का प्रसार इतना बढ़ता गया कि बीच की रेखा दिखाई देनी बंद हो गई और दो ध्रुवों का पृथक् होने का बोध एक तीसरा बोध बन कर सजीव हो उठा। तत्त्व तो उभयमुखी अभिव्यक्ति में शान्त रहा किन्तु यह तीसरा बोध तत्त्व के विस्तार या प्रसार की निरन्तरता से सन्तुष्ट नहीं रह सका। फलतः वह अपने प्रसार की ओर उन्मुख हो गया। उसके इस प्रसार–कर्म में जो आगे आया वह तर्क नामक ऋषि था। यास्क ने प्रतीकात्मक संकेत करते हुए बताया है कि ऋषियुग की जब समाप्ति होने लगी तो पूर्ववर्ती ऋषियों ने अपने परवर्ती वंशजों की रक्षा के लिए उन्हें तर्क–रूप ऋषि प्रदान कर दिया। लेकिन तथ्यों से पता चलता है कि यह तर्क नामक ऋषि तटस्थ सत्ता का प्रत्यक्ष बोध तो नहीं करा सकता था किन्तु अपनी माया या तार्किकता की सीमा का बोध करवा सकता था। इसलिए उपनिषदों के ऋषियों ने अपने परम सत् को तो अतर्क्य ही माना और शुरू में ही घोषणा कर दी कि बाकी सब तो ठीक है अर्थात् कार्यकरण या ज्ञानविज्ञानवाद को तो तर्क समझा देगा किन्तु तत्त्व की तटस्थ सत्ता के क्षेत्र में उसका प्रवेश संभव नहीं। वह परा संवित् या परावाक् का क्षेत्र चरम सत्य की केवल अपनी विश्रान्ति की भूमिका है। वहां किसी अन्य का प्रवेश निषिद्ध है।

किन्तु इस निषेध से तर्क का अपने क्षेत्र में विचरण निषिद्ध नहीं करार दिया गया। वह निगम, आगम, पुराण, दर्शन, तन्त्र, धर्मनीति, अर्थनीति, कामनीति और मोक्षयुक्ति के रूप में सर्वत्र अपना योगदान करता रहा। उसका भरपूर उपयोग

भी किया गया। किन्तु उसकी स्वतन्त्रता को उसके क्षेत्र तक ही रखा गया। क्योंकि यह बहुत पहले अनुभव कर लिया गया था कि सही अन्तःप्रज्ञा के आगे आने में वह कतराता है। सांप्रदायिक ज्ञान के प्रसार में वह अहंकारी और हिंसक हो उठता है। प्रेम के निचले स्तरों में वह विच्छेद कराता है तथा उच्चस्तरों पर लुप्त ही हो जाता है। केवल गणितीय स्तरों पर ही वह कुछ कर पाता है। अन्यथा वहां पर भी वह गणितीय नियतिवाद का सृजन करता है या ऐसे भौतिकवाद का, जिसके दिग्भ्रम में से बचने के लिए फिर एक अतिभौतिक नैतिकता की खोज का संत्रास झेलना पड़ता है।

भारतीय संस्कृति के इतिहास में बुद्ध के उदय से ठीक पहले समाज का एक काफी बड़ा भाग चार्वाकों, यदृच्छावादियों, नियतिवादियों के तर्कों से आन्दोलित हो रहा था। किन्तु उसको जन्म देने वाले आचार्यों ने दायित्वहीन पिता की तरह उसे उच्छृंखलता की ओर धकेल दिया था। बुद्ध ने उसे एक दिशा में शृंखलाबद्ध करके जिस प्रकार उपयोजित किया उससे कई प्रकार के दार्शनिक एवम् मनोवैज्ञानिक सत्यों का उद्घाटन हुआ और तर्क को प्रतिष्ठा मिली। संस्कारित हुए तर्क ने बुद्ध को और बुद्ध ने तर्क को प्रतिष्ठा प्रदान की। लगता है कि परवर्ती बौद्धसाधनाओं में तर्क बौद्धों के "उपाय" में रूपान्तरित हो गया और बुद्ध प्रज्ञा में। प्रज्ञा और उपाय के सामंजस्य ने एक नई चेतना को जागृत किया जिसे संबोधि कहा गया। लेकिन इस संबोधि को प्राप्त करने से पूर्व तर्कना या परीक्षा का साधना में स्थान है। बुद्ध कहते हैं कि मेरे वचनों का मूल्यांकन तर्क की कसौटी पर कस कर ही किया जाना चाहिए न कि मेरे महत्व को सामने रखकर–

"तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।।
(दे0 ज्ञानसारसमुच्चय 31)

यहां तर्क को सम्यगालोचन और विचारों का घर्षण आदि रूप देकर उसे परीक्षा करने योग्य माना है। तपस्या के जरिए यह तर्क अन्तर्मुखी एवम् हठी हो जाता है जो अपने लक्ष्यचिन्तन से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होना चाहता और स्वयम् निरस्त हो करके भी तत्त्व की ओर उन्मुख रहता है। वस्तुतः कोई भी शब्द जब एक बहुत लम्बी यात्रा करने के बाद हमारे पास तक पहुंचता है तो उसके इतिहास के साथ भी उत्थान और पतन की घटनाएं जगह जगह जुड़ी रहती हैं। किसी व्यक्ति ने उस शब्दविशेष को कितना अपने जीवन में से अर्थ दिया है, इससे उस शब्द को गरिमा मिल जाती है। यदि उसी शब्द का प्रयोग किन्हीं ऐसे लोगों द्वारा किया गया हो जो स्वयम् निरर्थकता में भटक रहे थे तो वह शब्द भी निरर्थक हो उठता है। 'तर्क' शब्द की यात्रा भी बहुत लम्बी है। उपनिषद्[1] रामायण[2] महाभारत[3] मनुस्मृति[4] गौतमधर्मसूत्र[5] एवम् अर्थशास्त्र[6] जैन एवम् बौद्ध साधनाओं में से होता

हुआ यह शब्द भारतीय दर्शन में प्रमुख रूप से न्यायदर्शन के पुराने और नए ग्रन्थों में प्रतिष्ठित हुआ। कुछ विद्वानों ने उसे हेतु, किसी ने वाद, किसी ने ऊहा, न्याय,वाद, प्रमाण तो कुछ ने उसे तक्की या विमंसी आदि नाम दिए। इन सभी नामरूपों के पीछे सब ने अपने अपने संप्रदाय का ध्यान रखते हुए तर्क के रूप को कहीं संवारा है तो कहीं बिगाड़ा है। किन्तु इन संप्रदायदृष्टियों में जाने से पूर्व हम कोषदृष्टि से उसके स्वरूप को समझने का यत्न कर सकते हैं। अमरकोशकार ने तर्क के सन्दर्भ में तीन समानार्थक शब्दों का प्रयोग किया है। प्रथमकाण्ड के धीवर्ग या बुद्धिवर्ग में 'अध्याहार' तर्क और ऊहा पदों को समानार्थवाची माना है। किन्तु तीनों ही बुद्धि की एक जगह अन्वित तीन क्षमताओं का बोध कराते हैं। अध्याहार का अर्थ है कि कल्पना के बल से किसी छूटे हुए पद या विचार को पूर्ति की ओर ले आना। ऊहा है कल्पना या अनुमान के बल से सही अटकल लगाना। न कही हुई बात को भी बूझ लेना–'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः'। किन्तु तर्क शब्द इन दोनों पदों के अर्थों को साथ लेकर कहीं बहुत गहरे उतर जाता है। वह स्वभावतः एक गम्भीर विचारणा की प्रक्रिया है। एक अनुसन्धान है जो अध्याहार और ऊहा जैसी दोनों बुद्धिशक्तियों को अपने दाएं बाएं लपेटे रहता है। वह अविज्ञात या अर्धज्ञात तत्त्व की ओर बढ़ते समय कारण को पकड़ कर चलता है और तत्त्वग्रहण करने में बुद्धि की सहायता करता है। इसी से गौतम तत्त्वोलब्धि में तर्क की महत्ता को तटस्थ भाव से स्वीकार करते हुए कहते हैं कि जहां कहीं भी अनिश्चय की स्थिति हो वहां निर्णय तक पंहुचने के लिए तर्क का आश्रय ले लेना चाहिए। तर्क में ऐसी शक्ति है कि वह आपके ज्ञान के जितने भी साधन या प्रमाण हैं उनको पुष्ट कर सकता है। तत्त्वज्ञान की प्रक्रिया में वह तत्त्व के प्रत्यक्ष होने से पूर्व की सही भूमिका खड़ी करता है। अनुमान में वह सर्वदा साथ ही चलता है। शब्दप्रमाण यदि तर्क की उपेक्षा करके प्रवृत्त होता है तो ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान ही उगलने लग जाता है। अतः मनु ने वेदाध्ययन के सन्दर्भ में वैदिकों को स्पष्ट निर्देश दिया है कि जो व्यक्ति ऋषिवाक्यों या धर्मोपदेश का यदि अनुकूल तर्कों से अनुसन्धान नहीं करेगा तो उसे धर्म का बोध हो ही नहीं सकेगा। अतः परम्परावादियों ने भी 'तर्कश्चक्षुरपश्यताम्' की बात कहकर तर्क को ऐंद्रिक प्रत्यक्षवाद से कहीं ऊपर कर दिया। क्योंकि तर्क एक विचारसाधना है, एक मानस तप है, जो प्रज्वलित होकर जिज्ञासु को अभीष्ट की ओर अभिमुख करके स्वयम् निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। वह बुद्धि का तटस्थ धर्म है। उसमें निरपेक्षता की बात को भी स्वीकार किया है।

किन्तु उसकी निरपेक्षता या तटस्थता का विकृत अहम् वाले वैतण्डिकों या "मिच्छादिट्ठि" लोगों द्वारा अपप्रयोग कर लिया जाता है। तब वह मात्र 'वाक्छल' बन कर रह जाता है। विचारों का द्वन्द्व खड़ा करना सही तर्क का मूल धर्म नहीं है। वह निष्ठापूर्ण बुद्धि का आलोक है जिसका सही उपयोग उपनिषदों ने, बुद्ध ने, सुकरात

ने, शंकर ने और कई मनीषियों ने किया। अन्धधार्मिकों, अन्ध राजनीतिज्ञों और जड़ वैज्ञानिकों को इस उन्मुक्त विचार–क्षेत्र में विचरण का सौभाग्य कहां मिल सकता है।

वस्तुतः तर्क के हम दो रूप प्राप्त कर सकते हैं। एक तो साधना का तर्क है जिसमें जिज्ञासु अपने प्रयत्नशील तर्कों से किसी निष्कर्ष की खोज में रहता है। दूसरा सिद्धावस्था का तर्क है जिसमें वह विचारानन्द में रूपान्तरित हो जाता है। सिद्ध लोगों में वह एक सहजता के साथ उठता और लीलामात्र होकर आनन्द देता है। वहां यह मनन और निदिध्यासन का अंग बन जाता है। सांख्यकारिका (51) में आठ सिद्धियों के वर्णन में एक तर्कसिद्धता भी है। इसे ऊह कहते हुए वाचस्पतिमिश्र कहते हैं ऊह वह तर्क है जो किसी भी आगम के विरोध में न जाकर उस आगम के अर्थों की ऐसी परीक्षा करता है कि संशय और पूर्वपक्ष छन कर निकल जाते हैं और सिद्धांत–पक्ष की प्रतिष्ठा हो जाती है। और तर्क मनन ही हो जाता है–''तदिदं मननमाचक्षते आगमिनः।" लेकिन वाचस्पति ऐसे तर्क का भी विधान करते हैं जो बिना किसी आगम या उपदेश की वैसाखी के भी चलता है–

"विनोपदेशादिना प्राग्भवीयाभ्यासवशात्तत्त्वस्य
स्वयमूहनं यत् सा सिद्धिरूहः।"

अर्थात् बिना किसी उपदेश के किसी पूर्वकालिक अभ्यास के वश से तत्त्व का स्वयम् ही ऊहन कर लेना भी एक सिद्धि है। मेरे विचार में कारिका की सुबोधिनी टीका में जो "आगमा– विरोधिन्यायेनागमार्थपरीक्षणमूहस्तर्कः" अर्थात् आगम के विरोध में न जाकर आगम के अनुकूल रहस्य को ढूंढ लाना भी तर्क है, यह बाद वाली बात जो आई है वह एक हद तक तो सही है। किन्तु ऊहा या तर्क की ताज़गी का आनन्द तो वहीं मिलेगा जहां किसी के मन–मस्तिष्क में पदार्थों एवम् घटनाओं के संसर्ग से चिन्तन स्वयम् उभरने लगता है। इसी स्थिति में तर्क कला, काव्य और विज्ञान में नए आयाम तब लेकर उभरता है यदि मानसिकता निषेधात्मक न हो। लेकिन सामान्य जन या जिज्ञासु, क्योंकि कभी भी इतने गम्भीर या ईमानदार नहीं होते कि वे तर्क की स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकें अतः वे और तो कुछ नहीं पर बौद्धिक उच्छृंखलता के साथ तर्क को जोड़ कर उसे प्रतिष्ठाशून्य बना देते हैं।

लेकिन प्राचीन तर्कशास्त्रियों ने तर्क के औचित्यपक्ष को ध्यान में रखते हुए उसके कार्यक्षेत्र का निर्धारण किया। उससे इधर उधर जाने पर ही उसकी अप्रतिष्ठा हो सकती है अन्यथा वह समस्त विद्याओं का प्रदीप है। सभी कर्मों को करने का उपाय है। सभी धर्मों का आश्रय है। अतः न्याय–सूत्र (1–1–1) का भाष्य करते हुए वात्स्यायन ने न्याय या तर्क–विद्या का अपना क्षेत्र निश्चित कर दिया है। तर्क न तो शशशृंग जैसी असम्भव वस्तुओं के प्रतिपादन में उपयोग में आता है न ही निर्णीत

अर्थ यानि बिल्कुल ही स्पष्ट तथ्यों की सिद्धि के काम आता है। उसका प्रवेश संशय के क्षेत्र में होता है। निषिद्ध क्षेत्रों में या अगम्य क्षेत्रों में जाकर भला किसे प्रतिष्ठा मिली। अतः तर्क की इयत्ता के प्रति सचेत स्मृतिकारों ने बराबर कहा कि "अचिन्त्या खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्" अर्थात् तर्क का प्रयोग सांशयिक चिन्तन के क्षेत्र से बाहर नहीं होना चाहिए। अतः श्रुति या आगम के द्वारा संस्कार किया हुआ तर्क या किसी विषय के प्रति ज्वलन्त जिज्ञासा से युक्त ईमानदार सहज तर्क ही ज्ञान के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। अल्पज्ञता जड़ता एवम् मिथ्याअहम् से पैदा हुए तर्काभास वैतण्डिकों की सृष्टि करते हैं। फिर भला प्रतिष्ठा कहां?

वस्तुतः वेद के अन्तिम भाग और उपनिषदों में तर्क की प्रतिष्ठा तो दो रूपों में हो चुकी थी। श्रुतिसम्मत तर्क और स्वतंत्र तर्क। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त एवम् छान्दोग्य उपनिषद् (6.2.1) के सृष्टि–प्रक्रिया से सम्बद्ध ऊहापोह में स्वतंत्र तर्क का अस्तित्व स्पष्ट है। छान्दोग्य (7.1.2) में तो स्वतंत्र रूप में वाकोवाक्यरूपा तर्कविद्या का उल्लेख भी है। किन्तु बृहादारण्यक उपनिषद् (2–4–5) में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मदर्शन के लिए श्रुतिसम्मत तर्क को ही अपनाने की सलाह दी है "मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।" किन्तु इस पंक्ति में ऐसा तो नहीं लगता कि मनन या तर्करूपा मनःशक्ति को केवल श्रवण का पिछलग्गू ही होना चाहिए। सीधा अभिप्राय तो यही है कि मति, विज्ञान, अवलोकन और श्रवण जैसी पद्धतियों से ही आत्म को जानने में सुविधा हो जाती है। मनन, विज्ञान और दर्शन से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व दार्शनिकता में अनुलिप्त होता है क्योंकि तर्क का उदय उस व्यक्ति की अपने व्यक्तित्व की उपलब्धि है। लेकिन इस व्यक्तित्व को व्यक्तित्व के स्तर पर ही छोड़ दिया जाए तो तर्कान्धता की स्थिति पैदा हो जाएगी। अतः तर्क को दीक्षित कर किसी परम्परा के साथ जोड़ दिया जाता है। श्रवणपूर्वक मनन का विधान केवल तर्क को दिशा देने के लिए है। वाचस्पतिमिश्र जैसे आचार्य यह मानते हैं कि श्रुति में भी जब तात्पर्य आता है तो वह बलवती होती है न कि प्रत्येक श्रुति। अतः जिन लोगों का तर्क मर जाता है या दुर्बल होता है वे लाख श्रुति को दोहराते रहें कुछ बनने का नहीं। श्रुति सुषुप्त श्रुति रह जाएगी और मति, युक्ति या तर्क उन्मादग्रस्त हो जाएंगे। अतः श्रवणविधि और मननविधियों का संकलन ऐसा ही है जैसे योग्य का योग्य से संसर्ग। उसी से नई चेतना का प्रसव होता है। इसी कारण मीमांसा या वेदान्त के आचार्यों की वेद के ऊपर परम आस्था होते हुए भी तर्क को आत्मानुभव का अंग मानने में उन्हें घबराहट नहीं हुई। केवल शुष्क तर्क यानि अदीक्षित तर्क से आत्मलाभ होने की संभावना को नकारा है। "नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभःसंभवति। श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवांगत्वेनाश्रीयते।" (दे॰ ब्र॰ सू॰ शां॰ भा 2.1.6)। अतः ब्रह्मचिन्तन में भी काम तो तर्क का ही है, उसी को अग्रसर होना है। किन्तु श्रुति द्वारा पोषित होकर वह आत्मानुभूति में शीघ्र

रूपान्तरित होता है। चार्वाकों या उन जैसे मात्र प्रत्यक्षवादियों के तर्क इसी से कुछ देर बाद भोथरे होकर गिर पड़े। क्योंकि जिस अनुपात में उनके पास तर्क था उसी अनुपात में परम्परा से विद्रोह का आवेश भी था। अतः आवेशग्रस्त तर्क रूपान्तरित होने से पूर्व ही आवेश के गिरने के साथ ही गिर जाता है। बाकी लोगों ने चाहे वे नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु जैसे बौद्ध चिन्तक रहें चाहे उमास्वाति जैसे जैनचिन्तक रहे या ब्राह्मण दार्शनिक सभी ने अपनी अपनी तर्कशक्ति को अपनी अपनी श्रुतिपरम्परा या शब्दपरम्परा की शरण पर रगड़ कर उसमें उज्ज्वलता पैदा की और उसका पर्यवसान अनुभूति में ले जाकर स्वयं मौन में चले गए, मुनि बन गए।

आचार्य शंकर ने अपने भाष्यग्रन्थ (2.1.11) में तर्क के बारे में बहुत ही स्वस्थ चिन्तन उपस्थित किया है। उन्होंने तर्क की स्वतन्त्र सत्ता और उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसके स्वरूप का निर्धारण किया है। क्योंकि उनके लिए वह विचार के रूप में बहुत उपयोगी था। किन्तु उसकी सीमाओं का परिज्ञान उन्हें था। वे जानते थे कि तर्क का निरंकुश रूप किसी स्थिति में किसी वस्तु के प्रतिपादन में टिक नहीं सकेगा। वह एक संभावना या उत्प्रेक्षा जैसी मानसिक कल्पना बन कर ही रह जाएगी। प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि जिस प्रकार दूसरे व्यक्ति की बुद्धि से नितान्त भिन्न है और परस्पर एक दूसरे से बढ़कर या घटकर है वैसे ही बुद्धि पर आश्रित तर्कों की स्थिति है। एक तर्क दूसरे तर्क को तभी सहारा देता है जब दोनों के हित समान हों, सांझे हों। अन्यथा एक दूसरे को काटते हुए वे सभी कट जाते हैं और नए से नया द्वन्द्व खड़ा कर देते हैं। अतः इनका कहीं आधार–तत्त्व खोजना चाहिए जिस पर प्रतिष्ठित होकर ये उसका भी उद्धार कर सकें तथा स्वयम् भी पुष्ट होकर रह सकें। इसलिए आचार्य ने कहा कि ज्ञान के जिन विषयों को आगम परम्परा या श्रुति द्वारा निश्चित किया गया है उनके बिना अकेला तर्क अवस्थित नहीं हो सकता "यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति" अर्थात् आगम के आश्रय से रहित तर्क किसी भी पुरुष के द्वारा की जाने वाली संभावना या मानसिक उड़ान बन कर रह जाएंगे। क्योंकि आगम का अंकुश उसकी निरंकुशता को मर्यादित भी कर लेता है और समय के लिए उसमें गतिशक्ति का संचार भी कर देता है।

अथातो मृत्यु–जिज्ञासा

बहुत बचपन में इस शब्द का कतई पता नहीं होता, क्योंकि जीवन की संभावनाओं का इतना जमघट होता है कि यह शब्द सबसे अन्तिम पंक्ति का अन्तिम पद होने से दीख ही नहीं पाता। क्योंकि "अथ" शब्द का चमत्कार ही इतना विलक्षण होता है कि उस समय "इति" की ओर देखना ही अशुभ लगता है। पर बहुत से शास्त्र–पाठक तो ऐसे ही रहते हैं जो पाठशालाओं में "अथं" के प्रयोग पर "अथ शब्दानुशासनम्" "अथातो धर्मजिज्ञासा" या "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" की व्याख्या या भाष्य में डूबते उतराते रह जाते हैं। अनुशासन और जिज्ञासा तो साथ साथ चलते हैं। पर इति के बाद तो कोई पद नहीं। कोई जिज्ञासा भी नहीं।

प्राचीन दार्शनिकों ने अपने अपने दर्शन में जिज्ञासा पद का बहुत प्रयोग किया है। जिज्ञासा में ज्ञान और इच्छा दोनों शक्तियां आगे पीछे चलती हैं। ज्ञान आगे और इच्छा उसकी पीठ में धक्का लगाती है। दोनों में पूर्ण तालमेल ही जिज्ञासा है। यह जिज्ञासा, जिसे शास्त्रकारों ने संकल्प और दृष्टि का समन्वय माना है यही सचेत जीवन है। चेतना से अनुशासित काम को ही दूसरे शब्दों में सार्थक जीवन कहा गया है। ये यदि अलग रहें तो काम पशु रह जाता है और ज्ञान दम्भमात्र। अतः जिज्ञासा और जिजीविषा एक स्थिति में पर्यायवाची ही हैं। दोनों ही अनवरत हैं। अथ से इति तक उसी की अभिव्यक्ति है। अतः जीवन अपनी यात्रा के बल पर अपने चिह्न 'इति' के आगे के वर्जित प्रदेश में भी सार्थक चक्कर लगा आना चाहता है। इसी के परिणामस्वरूप ब्रह्मविद्या, परलोकयात्रा, पुनर्जन्म, परामानस, अनन्तजीवन एवम् मुक्ति आदि विद्याओं का आविष्कार होता गया। और हम 'इति' से आगे फिर बढ़े। मृत्यु पर भी जिज्ञासा का प्रश्नचिह्न लगाकर हमने जीवन की अनन्तता को ही स्वीकार किया। एक अन्तहीन गतिमयता के आदि और अन्त के दो सिरों को जिज्ञासुओं ने जब मानसिक कल्पना कह कर झटक दिया तो जीवन अनन्त हो उठा, सत् हो उठा, ब्रह्म हो गया। जीवन ही "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" हो निकला। ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानी की तो मृत्यु को ही मरना पड़ता है। वह नहीं मरता। लगता है कि कुछ लोगों को यह बात शायद समझ आ चुकी थी कि देहपात ही जीवन का अन्त नहीं कहा जा सकता। मृत्यु को तो जीवन की ही एक गति का मोड़ कहा जा सकता है।

किन्तु यह सब होने पर भी मृत्यु एक आवाहन या चैलेञ्ज के रूप में जीवन को संत्रस्त, खिन्न या परिम्लान तो आरम्भ से ही करता आ रहा है। ज्ञानी ऋषियों ने इसी से डर कर "मृत्योर्मा अमृतं गमय," "मृत्योर्मुक्षीय," "मृत्योर्मा पाहि" आदि प्रार्थनाएं

कीं। किसी पौराणिक ने मृत्युभय से बचने का आश्वासन देते हुए बच्चे को उपदेश किया कि "बच्चे! मृत्यु से क्यों डरता है। मृत्यु तो तेरे सिर पर खड़ी है। आज हो या सैंकड़ों वर्ष बाद। प्राणियों का मरना तो ध्रुव सत्य है।" कुछ लोग जीवन में मृत्युपीड़ा या संत्रास से कभी कभी इतने व्यग्र हो उठे कि उन्होंने यहां तक कह दिया कि हमें मृत्यु की ही शरण ले लेनी चाहिए। रवीन्द्र नाथ ठाकुर को जब जीवन में अंधेरा दिखने लगा, प्रकाशहीन दीप जैसा दिखने लगा तो उन्होंने कहा–

दीप है पर शिखा नहीं
हाय क्या यही मेरा भाग्य
तब मृत्यु ही वरणीय है।

निक्कोलस लेनौ नाम के पाश्चात्य विद्वान् ने कविता की भार्षा में ही कहा कि "जागने से नींद बेहतर है पर उससे भी बेहतर है मृत्यु। पर मृत्यु से बेहतर है जन्म न लेना।" मुझे लगता है कि उन पर निश्चय ही हमारे किसी ऐसे सांख्याचार्य का प्रभाव पड़ गया होगा जो ज्ञान के जरिये मां के गर्भ में कभी भी आने को तैयार नहीं थे। क्योंकि पैदा हुए व्यक्ति को मरना अवश्य पड़ेगा। अंतः जन्म का ही निषेध करो। संपूर्ण जीवन को ही गर्हित समझो। इस प्रकार का विचार अशिक्षित एवम् अर्धशिक्षित सन्तों द्वारा यहां बहुत प्रचारित होता रहा है।

गरूड़ पुराण, जिसकी कथा लोग अब भी किसी के मरने पर सुनते हैं, एक ऐसा पुराण है जो मृत्युपुराण ही कहा जा सकता है। हजार बिच्छुओं के एक साथ काट लेने से होने वाली पीड़ा के समकक्ष मृत्युपीड़ा का वर्णन, जीवन की अनित्यता, जीव की लोकान्तरयात्रा, पुण्यपाप, स्वर्गनरक, मृत्युभय से ही धर्म पर चलते रहने की सलाह आदि विषय इस पुराण में कई ढ़ंग से कहे गए हैं। इसके अतिरिक्त कुछ भारतीय नीतिविद् लोगों ने लोगों को जीना सीखने की सलाह देते हुए भी कहा कि भाई विद्यासंग्रह और धनसंग्रह करते समय तो अपने को अजर और अमर व्यक्ति की तरह मानकर संग्रह करो। लेकिन धर्म का आचरण करना हो तो यह समझो कि मृत्यु ने हर वक्त तुम्हें केशों से पकड़ रखा है– "अब मारा कि तब मारा।" यानि सम्पूर्ण सृष्टि में भयानकतम वस्तु कोई है तो वह मृत्यु है। उसका आतंक ऐसा, कि लोग श्मशान के पास गुजरने, भूत प्रेत की बात करने, किसी शुभ अवसर पर मृत्यु का नाम सुनने से बचने, यम की दिशा दक्षिण की ओर ध्यान तक न करने की बात ही सदा सोचते हैं। हालांकि यमराज को धर्मराज कहने वाले शास्त्रकारों ने उसे न्याय करनेवाला सत्यपरायण धर्मात्मा व्यक्ति कहा है। पर लोगों के सामने जो चित्र दिया गया तो उसमें, भयानक मूंछोंवाला, सांवला चेहरा, सिर पर मुकुट, एक हाथ में गदा, दूसरी मुठठी में किसी के प्राण एवम् अतिभयानक महिष (भैंसे) पर सवारी, आसपास दो चार भूत प्रेत, पिशाचों के प्रतीक नाचते हुए कुछ अस्थिपंजर, सामने

भूमि पर पड़ी हुई एक खोपड़ी और कुछ अस्थिखण्ड, यह सब कुल मिलाकर मृत्युदेव यम का रूप बनाया जाता है। सूखे काष्ठ और अग्नि उसके सहचर हैं। उन्हीं की मदद से वह जीवों की इस लोक से उस लोक जाने की यात्रा का प्रबन्ध करता है। अतः शव को चिताग्नि देने से पूर्व "यमोऽसि यमदूतोऽसि"वाक्यों के साथ यम का ही वहां आवाहन किया जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि हमारा सारा जीवन ही मृत्यु के चुम्बनों से आतंकित है। रसोईघर में गैस जलाते हुए, दिन में स्कूटर-साइकिल, बस, हवाईजहाज में जाते हुए, खाते हुए, पीते हुए सांस लेते हर समय सचेत या अचेत भाव से मृत्यु का अनुशासन मानते हुए ही हम सब काम करते हैं। जीवन इतना भंगुर है कि पता नहीं किस क्षण किस चोट से, रोग से, घटना से मृत्यु में बदल जाए। और मृत्यु का शासन इतना कठोर है कि 36 वर्ष के इस कांग्रेस राज्य में अनुचित तरीकों से सुविधाओं को भोगने के अभ्यासी लोगों को एक दिन वहां उनकी पोज़ीशन के अनुसार कोई बैठने तक को नहीं कहेगा। उल्टे जूते भी पड़ सकते हैं। विड़म्बित भी किए जा सकते हैं।

मृत्यु शब्द प्राणत्याग करने वाली मृङ्धातु से त्युक् प्रत्यय आकर निष्पन्न होता है। किन्तु इस शब्द के भारतीय भाषा में जो अर्थ हैं वे यमराज का, ब्रह्मा का विष्णु का, माया का, कलियुग का विशेषण एवम् कामदेव आदि कई अर्थ होते हैं। प्राणत्याग तो सर्वविदित अर्थ है। देखना यह है कि प्राण शरीर को त्यागते हैं या शरीर प्राणों को अथवा जीवात्मा। कुछ विद्वानों ने कहा कि बिल्कुल ही विलग विलग स्वभाववाले आत्मा और मन के संयोग का नाश ही मृत्यु है (विजातीयात्ममनः संयोगनाशः)"। कालिदास ने "प्रकृतिः मरणं शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः" कह कर यह बता दिया कि शरीरधारी प्राणियों का मरते रहना प्राकृतिक है जीना ही विकृति है अथवा मृत्यु तो स्वाभाविक है जीना ही अस्वाभाविक है (रघुवंश, 8-87)।

मृत्यु के बारे में चिन्तन तो सम्पूर्ण मानवजाति ने हीं किया है। किन्तु हमारे यहां लोगों ने मृत्यु-विज्ञान के अन्तर्गत बहुत सा चिन्तन निरन्तर किया है। और अपने आसपास के यथार्थ के रूप में उसे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, भूमि, जल, थल, आक़ाश में एवम् अपनी देह के भीतर भूख, प्यास, काम, क्रोध, लोभ मोह आदि मानसी स्थितियों तथा प्राण अपान आदि शक्तिकेन्द्रों में खोजा है। इससे ऐसा लगता है कि उनकी मृत्यु के प्रति जिज्ञासा बहुत गम्भीर रही है। उन्होंने ज्यों ज्यों इस प्रश्न को हल करने का यत्न किया त्यों त्यों प्रश्न अपने छोटे छोटे उत्तरों के साथ फैलते गए। प्रश्नों के इस प्रसार और सिमटाव का नाम ही विज्ञान हो जाता है। लोगों को जब उनके प्रश्न का उत्तर उनके मानस जगत् के इस पार नहीं मिलता तो वे उस पार दौड़ते हैं। जब उस पार की ओर दौड़ना महज़ एक रूढ़ि बन जाता है, तो

चार्वाक जन्म लेता है जो रोकता है, और यहीं पर जिज्ञासाओं को शान्त करना चाहता है। और चार्वाक जब बन्द कमरों में मद पीकर चार–यारी में बैठकर केवल इन्द्रियवाद में जड़ हो जाता है तो अध्यात्म उसकी कुण्डली को खोल कर, सीधे खड़े होकर, दूसरी ओर भी देखने को कहता है। जब जब ये दोनों दृष्टियां एक साथ परस्पर समंजस होकर उठीं तो समाधान सूझे। इसीलिए वैदिक ऋषिदृष्टि न तथाकथित आस्तिक है न नास्तिक। दोनों अद्वैतता में स्थित हैं। भूतवादी उसमें भूतवाद के बीज पा लेता है और आत्मवादी आत्मा के। मध्यम कोटि की बुद्धि का आदमी इसे असंगत या चमत्कार समझने लगता है। संपूर्णता या समन्विति का उसकी बुद्धि से तालमेल नहीं बैठता, अतः वह वास्तविकता का उपहास करने लगता है।

ऋग्वेद (10–18) में संकुसुक ऋषि ने मृत्यु की स्तुति में कहा कि "हे मृत्यु। आप देवयान मार्ग से भिन्न जो आपका अपना पथ है उसी ओर से जाएं। हमारी प्रजाओं और वीरों को क्षीण न करना। आप में देखने की भी शक्ति है और सुनने की भी।" ऋषि मृत्यु के देवता को चाहे कितना ही मस्का लगाएं पर वह तो दो रूपों से सारी सृष्टि पर अपना काम करेगा। संसार के पदार्थों को क्षण प्रतिक्षण जर्जर करते रहना, और कभी अकस्मात् एक ही चोट से तत्क्षण विनाश कर डालना उस का स्वभाव है। यानि क्षणरूप मृत्यु परिवर्तनशील है जो पदार्थों के जीवन में विभिन्न दशाएं या अवस्थान्तर पैदाकर उन्हें उपयोगी बनाता है। दूसरे रूप से पूर्ण उच्छेद या मार ही डालता है। इसी रूप को भारतीय मानस ने यम कहा है। वह जब आता है तो साथ ही ले जाता है। इस प्रकार के इन दो रूपों को देखकर ही सन्तों ने कहा होगा कि "जगत् चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।" काल का अर्थ यदि गति है जो सबको समेटती चलती है तो सृष्टि के उद्भव, विकास और लय तीनों का वही कारण है। कहते हैं कि शुरू शुरू में ऋषि लोग काल शब्द की जगह संवत्सर शब्द का इस्तेमाल करते थे। दिन और रात रूप दोनों भुजाओं के बल पर वह समस्त विश्व को अपने अधीन करके चलता रहा है। क्योंकि जो जो भी चलता है वह प्रतिक्षण मृत्यु की ओर बढ़ रहा है। अतः प्रत्येक गतिशील वस्तु को, चाहे वह ब्रह्माण्ड में ॠतुओं का स्रष्टा सूर्य हो, अग्नि हो, वायु हो, जल हो, तथा देहपिण्ड में प्राण हो, मन हो, सभी मृत्यु के प्रतीक हैं। वे सभी, चाहे मिलकर चाहे एक एक होकर, समस्त सृष्टि को नियमित करके चला रहे हैं। अतः वे सभी यम हैं। कलादृष्टि–संपन्न लोगों ने इस विश्व को काली का नृत्य कहा। उस अनंतप्रवाहिणी गति की देवी के चेहरे पर जब पसीने की बूदें छलकने लगती हैं तो नक्षत्र बन जाते हैं, साथ ही वह जब कुछ गुनगुनाने लगती है तो सारे विश्व में नाद का, छन्द का, वाणी का वितान तन जाता है। क्योंकि ये सभी नक्षत्र, छन्द, गीत सभी गतिशील हैं और नियमित होकर ही किसी लयताल में चल रहे हैं अतः सभी कालरूप मृत्यु की ही क्रिया को दुहरा रहे हैं।

भगवान् बुद्ध के क्षणिकवाद के मूल सूत्र "सर्वं क्षणिकम्" की पृष्ठभूमि में वैदिक प्रज्ञा का यही रूप था। अन्तर सिर्फ इतना था कि ऋषियों ने इसे ठीक से समझ कर स्वयं पर नैराश्य को हावी नहीं होने दिया था। प्रज्ञा में परिपक्वता आने पर ही नैराश्य जाता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि मृत्यु का यह रूप भावुक बौद्धिकता को बुरी तरह संत्रस्त करता है। संस्कार एवम् आसक्तियों से घिरी भावुक बौद्धिकता अपनी आसक्तियों और बिम्बों को स्थायित्व प्रदान करना चाहती है। जीवन के यथार्थ के साथ मिलकर चलना उसे आता नहीं। फलतः मृत्यु उसके सामने परिवर्तनशक्ति की बजाए नास्तित्व बन कर खड़ी हो जाती है। परिणामशक्ति को मन इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वह मृत्यु बन जाती है। कुछ तत्त्वचिन्तकों ने इसे जब आत्मस्थ होकर भांप लिया तो उन्होंने कहा कि "भयं वै मृत्युः" अर्थात् भय ही मृत्यु है। पर यह भय तो मनोविकार या भाव है। तो क्या मृत्यु मनुष्य के मन द्वारा प्रकृति के परिणाम या परिवर्तन का स्वकल्पित व्याख्यान हैं? हिन्दी कवि सुमित्रानन्दनपंत ने परिवर्तन पर कविता लिखते हुए कहा कि मृत्यु तो उस परिवर्तनरूप महाविषधर का एक विषैला दांत है। तथा युगों और कल्पों का आते रहना सांप की केंचुली के उतरते बदलते रहने की तरह है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद ने भी "मृत्यु अरी चिरनिद्रे तेरा अंक हिमानी सा शीतल" कह कर रोमानी भाषा में उसका एक ऐसा बिम्ब दिया है जिसमें मनुष्य अपने अस्तित्व को या तो शाश्वत नास्ति में डूबते देखकर, या भयावह दारूण उत्पीड़न या वेदना को सामने देखकर सिहर उठता है। मुझे ऐसा लगता है कि शब्दों के षड्यन्त्र ने मृत्यु को ऐसा भाव बना दिया है जो मूलतः हिंस्र न होने पर भी भयानक हिंसक, रूक्षकेश, गोल आखें, विकराल मुख, नग्न, लपलपाती जीभ, हाथ में महाखड्ग लिए है। ये सब आकृतियां मनुष्य के कल्पनाशील मन ने मृत्यु को प्रदान कीं। लोकमत को समादृत करके पौराणिकों ने मृत्यु की, या यम की दक्षिण दिशा में एक ऐसी नगरी बना ली जिसमें धर्मव्यवस्था के नाम पर छोटे से छोटे कुकर्म का भी भयानक से भयानक दण्ड, हवाओं मे तैरते मौत के सन्नाटे के ऊपर आकाश की ओर मुंह करके रोते हुए श्याम और शबल जाति के कुत्तों, और मुंह से आग उगलते मादा सियारों के झुण्डों, तथा अपराधियों के दारूण चीत्कारों एवम् करूण क्रन्दनों के बीच विचरती प्रेतछायाओं की कल्पनामात्र से मनुष्य का अस्तित्व भय से रोमाञ्चित हो उठता है। नरक का शासन ही जैसे धर्मराज यम के हिस्से आया। प्रकाश के देवता सूर्य के विरोधी छायापुत्र शनि, यम, यमी, यमुना सभी गहरे अंधेरों के साथ तब तक जुड़ते गये जब तक कृष्ण नहीं जन्मा।

मनुष्य की संवेदनशीलता में काव्यमूलक मनश्चेतना में व्याप्त भय के भाव ने बाहरी जगत् के अंधकार को उपादान सामग्री बनाकर एक ऐसे जगत् की रचना कर दी जिसका नाम मृत्युलोक रख दिया। और भय ने ही उस नगरी में धर्मदण्ड

हाथ में लेकर स्वयं को उस लोक का शासक अधिपति कहलवाना शुरू कर दिया। सारी नैतिकता, धार्मिकता भद्रता की शिक्षा का आरम्भ उसी एक के कारण संभव हो सका। पैदा होते ही बच्चे के अन्दर नानारूप भय के बीज बो दिए जाते हैं कि जिनके अंकुरित होते ही, घर में, बाहिर में, समाज में, पाठशाला में, धर्मगोष्ठी में, मित्रमण्डली में सब जगह बैठते उस बच्चे में ऐसा अनुशासन उतर आता है कि वह धर्मपुत्र युधिष्ठिर या महाभारत के विदुर की तरह दुविधाग्रस्त, ग्लानिग्रस्त, अपने ही कारण से उदास एवम् संशयग्रस्त होकर सामने आता है। ऋषिलोगों को जब यह बात पल्ले पड़ी तो उन्होंने मृत्यु को इस रूप में सर्वत्र नकार कर स्वयं को 'अमृतस्य पुत्राः' कहलाया और कहा कि जो इस रहस्य को जान लेते हैं वे अमृत हो जाते हैं "य इत्तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति"।

बहुत पहले लोगों को यह बात समझ आ गई थी कि सृष्टि में परिवर्तन एक तथ्य के रूप में सामने है। ऋतु या गतिमूलक सृष्टि में कुछ भी स्थिर नहीं। समस्त चराचर जगत् ही देवता का गतिशील काव्य है। उसमें से ही सब कुछ सीखना है। पर आम आदमी इसके विरोध में चलता है। वहीं से उसकी अपनी स्वप्नसृष्टि जन्म लेती है। उसी में से वह अपने एक तरफ स्वर्ग एक तरफ नरक खड़ा कर लेता है। यह एक भूल है कि वह अपने सामने के यथार्थ को सदैव पलट देना चाहता है। इस प्रक्रिया में वह अपनी सीमाओं को भी भूल जाता है। इसी को प्रमाद यानि गफलत कहा गया है। सनत्कुमार ने महाभारत में कुलनाश से सन्तप्त एवम् मरणासन्न धृतराष्ट्र को समझाते हुए यही कहा था कि राजन्! मृत्यु लोगों को शेर या भेड़िये की तरह नहीं पकड़ती। वह तो मनुष्य को भीतर से ही प्रमाद, मोह या भय के रूप में पकड़े हुए है "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि" अर्थात् मैं तो प्रमाद को ही मृत्यु कहता हूं। "मनु ने भी यम को विवस्वान् यानि सूर्यकुल का राजा कहा है जो हमारे हृदय में ही स्थित है "यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः"।

आशय यह है कि परिवर्तन की सत्ता को न स्वीकार करने का फल यह है कि मनुष्य ने परिवर्तन के धीरे धीरे क्रम–रूप में होने वाले परिणाम को या एकदम अक्रम रूप से होने वाले परिणाम को क्रमशः जरा, क्षय, मृत्यु के रूप में अपनी अनादिवासना संस्कार और अहंकारसमन्वित कल्पनाशक्ति के बल पर लोकातिरिक्त शक्ति बना लिया है। अब वह लोकातिरिक्त शक्ति बन गई तो फिर जिस मानसी शक्ति ने उसे खड़ा किया उसी ने उसका विज्ञान भी रच डाला। वैदिकों ने कहा मृत्यु 'मुच्च्यु' है क्योंकि वह मृत वस्तु को 'च्यावयति' गिरा देती है या गिरवा देती है अथवा अलग कर देती है। यह मृत्यु 101 प्रकार की है। मानवजीवन में बल या एनर्जी नामक तत्त्व ही उठाता गिराता है अतः मृत्यु उसी की सन्तान है। पर यह तत्त्व स्थिर है। अतः वह अमृत है। रस–तत्त्व समरस है समत्व है अतः चिरस्थायी है। उसी को आविष्कृत कर ऋषि लोग 'मृत्योःपदं योपयन्तः', अर्थात् मृत्यु के सिर पर पैर रख कर सौ वर्ष से

ऊपर तक चलते जाने की बात कहते आ रहे थे (ऋग्वेद 10–18–2)।

योगियों ने मृत्यु को मानव शरीर के सबसे नीचे या मूलाधार के चतुरस्र केन्द्र में स्थापित किया। वहां उसके वर्ग के तीन और साथी हैं– जरा (बुढ़ापा), जन्म, रोग, चारों ये ही मानव–सृष्टि के शत्रु हैं। इन चारों से बचने के लिए योगियों ने अपने देह में ही अमृतत्व की खोज करके उस अमृतकला को उपलब्ध किया जिसके ऊपरी या बाहरी स्तरों पर परिवर्तन, क्रिया या संकल्पविकल्प, तरंगायित होते रहते हैं, पर उसका अन्तरंग या अन्तस्तल सदैव प्रकाशस्थित या स्वचेतन, गतिआगतिरहित, निर्मल निर्विकल्प है। उनका प्रत्यक्ष और अनुमान कहता है कि अमृत और मृत्यु दोनों ही देह में प्रतिष्ठित हैं । मोह से मृत्यु और सत्य से अमृत मिलता है। सत्य क्या है कि निरेपक्ष दृष्टि से मनुष्य इस गति, परिवर्तन या मृत्यु की पहचान कर ले फिर दृष्टि स्थिर हो जाए (दृष्टि स्थिरा यस्य विनैव दृश्यम्) तो मृत्यु अमृत बन जाएगा। क्योंकि मृत्यु का अधिदेवता मृत्युञ्जय शिव ही तो है। मार्कण्डेय ऋषि मृत्यु के भय से अतिपीड़ित हुए। क्योंकि समस्त भयों का भय मृत्यु ही था (भयानां भयम् भीषणं भीषणानाम्)। तो वे मृत्युञ्जय शिव की शरण में चले गए तो उन्हें राहत मिली। और उन्होंने कहा कि मृत्युञ्जय शिव के आश्रय में चले जाने पर अब यम मेरा क्या बिगाड़ सकता है? अब बात इतनी ही है कि मृत्यु को मनुष्य स्थूल वासना या संस्कारवश भय के रूप में ही मानता है। यदि वह मृत्यु को ही मृत्युंजय मानकर स्वयं को उसके अधीन छोड़ दे तो वही अमृत बन जाएगा। क्योंकि यों भी तो जिस विष के छोटे से खण्ड से लोग मरते हैं उसी से योगी विष का उपचार करने की क्षमता ले आता है। भौतिक स्तर पर सर्पविष, विच्छुविष, आक, धतूरा, भांग आदि जो भी नाना विष मृत्युरूप हैं उन्हीं में अमृतसंचार की सामर्थ्य को आविष्कृत कर लेने से औषध का जन्म हुआ और मृत्युंजय शिव का नाम वैद्यनाथ या बैजनाथ रखा गया। सारा पारसविज्ञान या रसेश्वर–दर्शन भी इसी पर खड़ा है। रस की खोज में मृत्यु ने ही मनुष्य–मात्र को लगा रखा है। औषध में रसायन, काव्यनाटक में रस, भोजन में रस, अध्यात्म में आनन्द, जीवन में सुख एवम् यश, इस सम्पूर्ण खोज में हमें मृत्यु ने ही लगा रखा है। उपनिषदों ने 'रसो वै सः' का सूत्र ऐसा दिया कि "सः" या वह "के साथ हमारा आंखमिचौनी का खेल चलता ही आ रहा है। कवियों ने काव्यनाटक में रस को खोजने के अतिरिक्त यश में भी अमृतरस ढूंढ़ कर कहा" कि कालिदास जैसे कवियों के यशःशरीर में अब जरा (बुढ़ापा) या मृत्यु का भय नहीं रहा है। (काव्यप्रकाश, 1–1)

इस विषय में भक्तिवेदान्तियों और अद्वैतवेदान्तियों ने भी बहुत से रहस्य स्पष्ट किया है। भक्तों ने तो लीलारस को आविष्कृत कर मृत्यु शब्द को ही प्रायः लुप्त कर दिया। अद्वैतवेदान्तियों ने दृष्टि को जिस तत्त्व पर स्थिर किया वह है अद्वैत, पूर्ण अखण्ड एकरस। जिसका अर्थ यह हुआ कि वहां या तो मृत्यु नाम की

कोई वास्तविकता है ही नहीं या फिर शाश्वत मृत्यु के कारण कभी कुछ पैदा हुआ ही नहीं तो मृत्यु भी कहां होगी?

"न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि"
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्नपरः किंचनास (ऋग्वेद, नासदीयसूक्त, मन्त्र 2)

नानात्व या गति के बाहरी मोड़ों पर दृष्टि को केंद्रित करते रहना ही मृत्यु है। परिवर्तन के नीचे की परतों में एकतत्त्व या अद्वैत में स्थिति ही अमृततत्त्व है। "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" अर्थात् वह मृत्यु से मृत्यु के पास जाता है जो नानात्व के साथ स्वयम् को जोड़े रहता है। क्योंकि विविधता का जन्म ही तोड़ जोड़ से हुआ है। इन योगियों और वेदान्तियों के रस एवम् सूखे मेवों की चटनी तैयार करके संस्कृत के महान् नाटककार शूद्रक ने अपने नाटक की काम–कथा या प्रेमकथा की पृष्ठभूमि में ऐसे ढंग से लगा रखी है कि मंगलाचरण भी हो गया और जीवन–दृष्टि भी खुल गई। मृत्युंजय शिव निर्विकल्प समाधि में स्थित हैं। पद्मासन को पलंग की रस्सियों की तरह दुहरे.हुए सांपों ने कस कर जमा रखा है। अन्तर में प्राणवायु का पूर्ण अवरोध, समस्त मानस संकल्प विकल्पों का अन्त, इन्द्रियां अपने अपने गोलकों में रुकी पड़ी हैं, बाहर की खिड़कियां बंद, पर भीतर अपने में अपने को ही देखते हुए शून्य ब्रह्म में लीन शम्भु की समाधि लोगों की रक्षा कर रही है। इसी नाटक के दूसरे नान्दीपाठ में कहा कि नीलकण्ठ शिव का नीले बादल सा नीला कण्ठ आप की रक्षा करे जिस के इर्द गिर्द गौरी की बिजली जैसी कोमल बाहें लिपटी रहती हैं। इस पृष्ठभूमि में वसन्तसेना और चारूदत्त की प्रणयकथा के पट खुलते हैं। आप अनुमान कर सकते हैं कि निर्विकल्पक समाधि, सांप, विष, प्राणों का अवरोध, संकल्पों का अन्त, और शून्य, ये सभी सामान्य जन और शास्त्र की दृष्टि में अमंगल और मृत्यु के ही संकेतक माने जाते हैं। किन्तु प्रज्ञा इन्हीं में से मंगल, आनन्द और जीवन की सृष्टि करती रहती है तथा भय, मोह, प्रमाद, घृणा, राग,द्वेष, आदि भावों को ही रूपान्तरित करने में रत है। मृत्यु उसके लिए कभी कोई समस्या नहीं रही। तंत्रवित् लोगों की दृष्टि में संहार की देवी कालिका सर्जन की देवी महालक्ष्मी में, महासरस्वती और महालक्ष्मी की शक्तियां महाकालिका के रूप में रूपान्तरित होती ही रहती हैं। रूपान्तरण की यह प्रक्रिया मूढ़ व्यक्ति को भयावह, और सत्यधर्मा को अति सौम्य दिखाई पड़ती है।

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः।। – दुर्गासप्तशती, 5–78
अतिसौम्यातिरौद्रायै नमस्तस्यै नमोनमः ।। – दुर्गासप्तशती, 5–13

श्रीमद्भगवद्गीता की आधारभूमि : वैष्णव सांख्ययोग

सज्ञान कर्म और सक्रिय ज्ञान ही वैष्णवों की भागवत चेतना में प्रतिफलित हुआ था। वैदिक विष्णु अपने विक्रम अर्थात् अपने तीन डग भर कर चरणों से सम्पूर्ण जगत् को मापकर लोकमानस में स्वयम् को प्रतिष्ठित कर चुका था। किन्तु उसने इतना "महयाय्य कर्म" करके भी फलस्वरूप इन्द्रपद की प्राप्ति का विचार नहीं किया। उपेन्द्र रहकर ही इन्द्र और देवताओं के समस्त कर्मों का संचालन किया। यह बात महाभारत–काल के कृष्णचरित में अक्षरशः उतर आई। उत्पीडक कंस आदि राजाओं का अपने हाथों संहार करके तथा संपूर्ण महाभारत–युद्ध रूप महारथ को अहर्निश संचालित करके भी वासुदेव कृष्ण कहीं राज्यप्राप्ति के लिए उत्सुक नहीं दिखाई देते। यही गीता की पृष्ठभूमि है। वैष्णव जानते हैं कि संपूर्ण सृष्टि ही एक संतुलन पर खड़ी है। यह संतुलन अपने ज्ञान को क्रिया में ढालकर तथा क्रिया को ज्ञानान्वित करके ही स्थापित है। अपने शब्दों को सार्थकता प्रदान करना तथा अपने अर्थों को सही शब्दों का व्यवहार प्रदान करना व्रती वैष्णव–चेतना का महान् व्रत है। श्री रामानुज ने शाक्तों की दुर्गा के इस प्रण कि "इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति, तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्" अर्थात् (जब जब दानव लोक को पीड़त करेंगें तो मैं अवतार लूंगी) के साथ गीता के "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत .... धर्मसंस्थापनार्थाय" आदि श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा के साथ स्वर मिलाते हुए श्रीभाष्य के मंगलपद्य में श्रीनिवास विष्णु को "विनतसकलभूतव्रातरक्षैकदीक्षे" (विनम्र या दबे हुए सकल प्राणियों की रक्षा का व्रत लेने वाले) कहकर भगवान् को भी जैसे दीक्षित कर दिया। लेकिन यह सज्ञान कर्म अथवा सक्रियज्ञान तब तक संभव नहीं जब तक सेवाव्रत प्राणों के साथ एकमेक न हो जाए। और सेवाव्रत बिना प्रेम और भक्ति के कहां हो पाता है? अतः भक्ति एक प्रकार से ज्ञान और कर्म का अनुशीलन–मात्र है। चेतना के सौन्दर्य का स्फुरण है। वैष्णवों ने इसी सौन्दर्य–चेतना के बल से निरीश्वर या निरीह सांख्य को तथा आत्मकेन्द्रित योग को एकान्त की कन्दराओं से बाहर खींच कर लोक के बीच प्रतिष्ठित किया तथा स्वयम् उसके उपासक बनकर जिए। भावनाबल से मंडित होकर सांख्यज्ञान विष्णु बना तो योग क्रियारूप कृष्ण बनकर संपूर्ण गीता में व्याप्त हो गया।

प्रस्तुत लेख श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित सांख्ययोग की इसी पृष्ठभूमि का उद्घाटन करने की दिशा में एक लघु प्रयास है। इसमें मैने सांख्य को कोरा तत्त्वदर्शन न मानकर सम्यक् ज्ञान या सही सोच के अर्थ में लिया है। योग का अर्थ

समस्त ब्रह्माण्डीय पदार्थों में रहने वाला प्रकृतिपुरूष का नित्य–सम्बन्ध है। चित् और अचित् भगवान् का ऐश्वर्य है। ऐश्वर्य और ईश्वर का सम्बन्ध सांयोगिक नहीं समवाय है। किन्तु सांख्य और योग के बारे में कुछ एक धारणाओं और तर्कों को स्वीकार करके ही अग्रसर होने से संभवतः गीतादर्शन की पृष्ठभूमि कुछ और स्पष्ट होगी। इस दृष्टि से गीता के मन्तव्य तक पहुंचने का प्रयास करते हुए कुछ अन्य विचारणाओं का सार भी यहां ले लिया गया है।

बहुत संभव है कि इस सांख्य शब्द का मूल 'शंख' शब्द रहा हो। शंख ही लोकप्रचलित रूप में शंख और संख से सांख्य बना हो। क्योंकि वेदों में कहीं भी सांख्य शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। निश्चय ही मोहञ्जोदारो या हडप्पा के किसी कबीले का कोई पौराणिक मुनि शंख या शंखासुर रहा होगा जो शंख की हड्डी को अपवित्र न मानकर मुंह से बजाता रहा होगा। आर्यों की दृष्टि में अपवित्र शंखास्थि को उसने अपने श्यामवर्ण देवता विष्णु के हाथ में सौप दिया होगा। तभी विष्णु ने उसमें जो चेतना की फूंक भरी तो शंख नाद कर उठा। यह शंख विष्णुपुरूष की प्रकृति बना जिसके गर्भ से आकाशीय गुण नाद का उन्मेष हुआ। इसी से विष्णु के चार कर–कमलों में पकड़े हुए शंख, चक्र, गदा, पद्म में से पहला नम्बर शंख का है। दूसरे नम्बर पर अकुण्ठित गतिशक्ति वाले वायु के प्रतीक चक्र का, तीसरे नम्बर पर ध्वंसकारी वज्राग्नि की प्रतीक गदा का, तथा चौथे नम्बर पर जल और जीवन के प्रतीक कमल का है। इस कमल के चटखने में, खिलने में आकाश है, कोमल स्पर्श में वायु, रूप में तेजस्त्व की कान्ति, जलजात होने से मकरन्द (रस) है। और मूलतः पंकज होने से कीचड़ की धरती का मन्द सुगन्ध है। अतः कमल तक आकर पंचतत्त्व या सृष्टि की प्रक्रिया सम्पूर्ण हो गई। इसीलिए सृष्टि, स्थिति और लय (निमेष) की प्रक्रिया के पूर्ण प्रतीक कमल का संपूर्ण भारतीय मानस पर आधिपत्य जम गया। भगवान् विष्णु का नाम भी कमलनयन एवम् पुण्डरीकाक्ष हो गया। सभी इन्द्रियों में कमल का सा ही विकास और उपसंहार देखकर भक्तों ने अपने नेत्रकमल एवम् हृदयकमल अर्पितकर मानसपूजा की बात कहनी शुरू कर दी। इसी कमल के श्वेत, रक्त और नील वर्णों से भगवती श्यामा की 'श्वेत श्याम रतनार' दृष्टियों का कविमानस में उन्मेष हुआ। दार्शनिकों के सत्व, रज और तम इस त्रिगुण का तथा तान्त्रिकों की नीलवर्णा महाकाली, आरक्तवर्णा महालक्ष्मी और श्वेतवर्णा महासरस्वती के रूपों का बोध जाग उठा। इस प्रकार सृष्टि की संपूर्ण प्रक्रिया को देखते हुए लगता है कि शंख ही संपूर्ण भूतों की योनि है जो चेतन पुरूष की इच्छाचिति का गर्भ धारण करते समय पूर्ण गोलाकृति है और विसर्जन के समय त्रिक–आकृति, यानि ऊर्ध्वभाग में गोल, तथा विकासात्मक अधोभाग में त्रिगुणात्मक है। अतः यह शंखदर्शन ही सांख्य–दर्शन है जो समस्त दर्शनों की योनि है। श्रीमद्भगवद्गीता जो कि "वासुदेवः सर्वम्" की बात को तत्त्वतः स्वीकार करती है उससे पता चलता है कि

महाभारत–काल में विष्णु के नारायण और वासुदेव रूपों का लोक में आम प्रभाव था। गोवर्धन–लीला में इन्द्र की कृष्ण के हाथों पराजय, फिर शिवभक्त बाणासुर का कृष्ण के वंशजों के आगे घुटने टेक देना कुछ इसी प्रकार की अन्य घटनाएं हैं जो विष्णुपूजा की चरम लोकप्रियता की ओर संकेत करती हैं। महाभारत युद्ध के प्रारम्भ में सभी योद्धाओं के, अपने अपने शंखों का वर्णन है। श्रीकृष्ण के पांचजन्य शंख के अतिरिक्त सभी वीरों के शंखों का वर्णन है। 'शंखान्दध्मुः पृथक्–पृथक्' अर्थात् सभी ने अपने अपने शंखों को युद्धारम्भ से पूर्व बजाया। विचारने की बात यह है कि महाभारत से पहले या पीछे कहीं भी शंख का प्रतीक इतने जोर से प्रयुक्त नहीं हुआ।

महाभारत से पूर्व वैदिक काल में कौषीतकि ब्राह्मण–ग्रन्थ, कौषीतकि–गृह्यसूत्र के रचनाकार तथा ऋग्वेद की एक शाखा के संपादक शांखायन ऋषि का नाम मिलता है। शांखायन श्रौतसूत्र ऋग्वेद से सम्बन्धित अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। लेकिन कहीं कहीं पर सांख्यायन नाम के ऋषिगोत्र की भी चर्चा है। अब ये दोनों एक ही हैं या भिन्न, यह विचारणीय है। किन्तु यह निश्चित है कि अथर्ववेद के चतुर्थकाण्ड के दसवें सूक्त में पूरे का पूरा शंखदर्शन है। सात मन्त्रों में शंख से प्रार्थना की गई है कि वह अन्तरिक्ष, पवन, विद्युत् आदि शक्तियों का पुंज ज्योतियों से भी ऊपर का शंख हमारे पापों को दूर करे तथा हमारे शत्रुओंसहित रोगों को नष्ट करे।

शंखेन हत्वा रक्षांस्यत्रिणोविषहामहे।। 2।

अगले मन्त्रों में शंख को सूर्यचन्द्र एवम् वरूण आदि लोकों से भी ऊपर प्रतिष्ठित करते हुए कहा है कि "वह शंख समस्त देवताओं की अस्थि है। आयु, वर्चस्व और युद्धों में बल की वृद्धि के लिए और दु:साध्य रोगों की निवृत्ति के लिए हे शंख! मैं तुम्हें अपने साथ बांधता हूँ।" कहा जाता है कि रोगोपचार की नाना विधियों का वर्णन अथर्ववेद के शंखसूक्त में है तथा आयुर्वेद के प्रख्यात ऋषि चरक–रचित चरकसंहिता में भी सांख्य के अनुसार रोगनिदान किया गया है। लगता है कि शंखदर्शन की जडें खोजने पर बहुत दूर तक मिलेंगी। महाभारत युद्ध के अन्त में युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। यज्ञ की पूर्णता होने पर श्रीकृष्ण का शंख स्वयं ही पूर्णता की सूचना देने के लिए अवश्य बज उठता, किन्तु एक शूद्र वैष्णव, जो अभी अपने तप में लीन था, उसके यज्ञ में आकर भोजन न ग्रहण करने से शंख नहीं बजा। क्या यह शंखदर्शन किसी प्रकार की समाजरचना में भी योगदान कर रहा था। वैसे स्मृतिकाल में ही एक शंख नामक मुनि के समाजशास्त्री या धर्मशास्त्री होने का प्रमाण भी मिलता है। कहते हैं उसने शंखस्मृति की रचना की। याज्ञवल्क्यस्मृति के मिताक्षरा टीकाकार ने जगह जगह पर शंख मुनि के समाजदर्शन की उक्तियों और युक्तियों को उद्धृत किया है। पंचतंत्रकार ने शंख को एक ऐसी नैतिकता का प्रतीक कहा है जो मर कर भी अपने गुण नहीं छोडती। शंख अग्नि में भस्म होकर भी अपनी

श्वेतता नहीं छोडता– "न श्वेतभावमुज्झति शंखः शिखिभुक्तिमुक्तोऽपि ।। (चतुर्थतन्त्र श्लोक 76)।

ऐसा लगता है कि शंख–ध्वनि की मांगलिकता और युद्धों में उसका उपयोग कोई आकस्मिक लोकाचार नहीं कोई अर्थपूर्ण बात रही होगी। क्या शंखध्वनि का सम्बन्ध वैदिकों के ओंकार की ध्वनि में भी रहा। हिन्दुसमाज में यह प्रथा रही कि कार्य के आरम्भ में, बीच में, और अन्त में मंगल–ध्वनि करनी चाहिए ––– "मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते।" अतः पूजन, यज्ञ, विवाह आदि सभी मंगलकार्यो में शंखध्वनि की जाती है।

शिवपुराण में एक दानव शंखचूड का वर्णन आता है जो कि बहुत ही बलशाली और समझदार था। पहले जन्म में वह विष्णु का गोप था। शाप के कारण विष्णु की इच्छा से ही शिव द्वारा उसका वध हुआ। उसकी अस्थियों से शंख नामक जाति का आविर्भाव हुआ। शंकर को छोड़कर सभी देवताओं को विशेषरूप से विष्णु को शंखोदक से ही अर्ध्यदान किया जाता है। विष्णु–पुराण (1–12–51,53) में भी एक शंख–सम्बन्धी महत्वपूर्ण संकेत है। उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ने बचपन में जो तपस्या के जरिए भगवान् विष्णु से प्रज्ञा अथवा परमज्ञान प्रदान करने का अनुरोध किया तो भगवान विष्णु ने ध्रुव को अपने शंख के अग्रभाग से छू भर दिया" "शंखप्रान्तेन गोविन्दस्तं पस्पर्श कृताञ्जलिम्।" बस फिर क्या था कि उसे समस्त भूतों के अधारभूत प्रकृति–पुरूष का एकसाथ ज्ञान प्राप्त हो गया।

ध्रुव ने कहा–

"भूमिरापोनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
भूतादिरादिप्रकृतिर्यस्य रूपं नतोस्मि तम्।।''

इस प्रकार वैष्णव सांख्यदर्शन का रूप ही हमें पुराणों में और गीता में उपलब्ध होता है। सांख्य और योग के अधिपति होने के कारण ही श्रीहरि को योगेश्वर कहा जाता है। किन्तु वैष्णवसांख्य की प्रकृति पुरुष के द्वारा उपेक्षित नहीं है। बाद में तो वह प्रकृति श्रीकृष्ण की अभिन्न सहचरी बन गई है जो उसकी अन्तरंगा होने से कृष्ण के हृदय का प्राण है और बहिरंगा होने से विष्णुमय जगत् की देखभाल करती है। दोनों ही कृष्ण से अभिन्न हैं।

शैव सांख्य में पुरूष–प्राधान्य के साथ ही प्रकृति के सर्वप्रथम रूप पर अधिक बल रहा है। वहां स्पष्ट रूप से ही सहज कामतत्त्व के आधार पर नरनारी के सम्बन्धों के समान ही प्रकृतिपुरूष के सम्बन्ध में भी आनन्द ही प्रधान होगा। वहां 'सीदति राधा वासगृहे" वाले करूण–सम्बन्ध या रस की बात नहीं हो सकती। सिर्फ विवशता है कि शिव बिना शक्ति के कुछ नहीं कर सकता। सदा ही ध्यानसमाधि में

बैठे रहने की प्रवृत्ति बलवती है। शिवशक्ति के सम्बन्ध में अविनाभाव का नियम ही हावी लगता है। बिना शक्ति के शिव और बिना शिव के शक्ति कुछ नहीं कर सकती। जैसे दोनों ही इस नियम के अधीन से हैं। सम्बन्ध की अपरिहार्यता परमतत्त्व से भी ऊपर एक नियति सा लगता है। लेकिन तो भी प्रकृतिपुरूष के सम्बन्ध में एक आवेश है जो एक को दूसरे से लपेट देता है। वैष्णव सांख्य में यह आवेश नहीं नियति भी नहीं एक प्रेमौत्सुक्य है जो शाश्वत या समरस अथवा सहजिया है।

किन्तु सांख्य शब्द की मूल प्रकृति पर विचार करने वाले अधिकांश विद्वान् सांख्य को ज्ञानप्रधान दर्शन ही मानते हैं। संख्या शब्द के दो अर्थ सामने आते हैं, एक है गिनती या गणना, दूसरा है – "संख्या चर्चा विचारणा"। दूसरा अर्थ सम्यक् विचार करने का है, अर्थात् अन्तिम तौर पर किसी बात को सदा सदा के लिए समझ लेना। इस लिए सांख्य दर्शन की परिणति इसी ओर हो गई कि बुद्धि की निर्मलता के अन्दर यदि एकमेक होकर परस्पर संश्लिष्ट हुए प्रकृतिपुरूष की पूर्ण भिन्नता दृष्टिगत हो गई तो विवेकख्याति का उदय सम्यक्ख्याति में परिणत हो जाएगा। और उपनिषद् का यह वाक्य कि "आत्मा वा अरे प्रकृतितो विवेक्तव्यः" ही सांख्य दर्शन का अंकुर–वाक्य बन जाएगा। लेकिन संख्या या गणना से भी सांख्य के होने का विरोध नहीं होना चाहिए। अनुभव किए हुए तत्त्वों का गणना द्वारा निश्चित बोध कराने का मन्तव्य अर्थ हो सकता है। वैसे तो सभी दर्शन प्रायः मूलतत्त्वों को गिन कर बताना चाहते हैं। एक भी तत्त्व को कम या अधिक मानने में उनकी आपत्ति सार्थक मानी जाती है। पदार्थ सात हैं तो सात ही रहेंगे। सोलह हैं तो सोलह ही रहेंगे। क्योंकि उनकी वैज्ञानिकता का स्थिर निश्चय गणित से ही हो सकता है। संभवतः प्राचीनतम होने के नाते तत्त्वगणना से ज्ञान को निश्चित बनाने का दायित्व सबसे पहले कपिलमुनि के सांख्य ने ही शुरू किया हो–कि मूलतत्व दो हैं– एक प्रकृति दूसरा पुरुष । शेष सब प्रकृति के विकास की भूमिकाएं हैं। इसलिए गार्वे का यह कहना संगत होगा कि मूलतः सांख्य का सम्बन्ध गणनावादी संख्या शब्द से है। महामहोपाध्याय गंगानाथझा अपनी सांख्यतत्त्वकौमुदी की भूमिका में जयचन्द्र शर्मा के इस मत को उद्धृत करते हैं कि आदिपुराण के अनुसार सांख्य में जो पुरूष का चित्र अंकित किया गया है वह पुरुष कपिल या पिंगल, गहरे भूरे चेहरेवाला और मोटे पेट वाला है। उसके एक हाथ में दण्ड और एक हाथ में माला है जो गणना की प्रतीक है। उसके लम्बे नाखून और केश हैं। संख्या या गणना के पक्ष में महाभारत से भी एक उद्धरण दिया जाता है –

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्यं प्रकीर्तितम्।।

लेकिन सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति के मूल में और इन दो विप्रतिपत्तियों के

चक्कर में एक और बात भी सामने आती है जिसकी चर्चा मैंने कहीं नहीं देखी। वह यह है कि संस्कृत में एक 'संख्य' शब्द भी है जिसका अर्थ युद्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता में इस शब्द का प्रारम्भ में ही दो बार प्रयोग हुआ है –

"एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।" 1–47
"कथं भीष्ममहं संख्यें द्रोणं च मधुसूदन। 2–4

गीता की भूमिका में ही युद्धवाची संख्य शब्द का प्रयोग क्या गीता में और आगे पैर पैर पर आने वाले सांख्य शब्द या सांख्ययोग की ही प्रतिष्ठा है? क्या किसी महायुद्ध के होने से पहले वीर एक ऐसा विवेक–ज्ञान लेकर ही चलता है कि यह युद्ध भी प्रकृति का ही एक खेल है। अतः इसमें शत्रु और मित्र की पहचान जैसे स्पष्ट ही रहती है कि युद्ध में मित्र मित्र है शत्रु शत्रु। अथवा युद्ध दुहरी मनोवृत्ति या संशय की स्थिति में नहीं लड़ा जा सकता। निश्चयात्मिका बुद्धि का होना जैसे एक वीर के लिए अपरिहार्य है वैसे ही प्रकृति–पुरूष या चित–अचित् के सम्बन्ध में भी एक मौलिक स्पष्टता अवश्य होनी चाहिए। अर्जुन की कृष्ण से एक ही मांग है–

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयो ह्यवाप्नुयाम्।। 3.2.

व्यामिश्र या छल–कपट वाली बात में, जिसमें यही न पता हो, कि शत्रुपक्ष क्या है और मित्रपक्ष क्या, तो "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या "या "सर्वं दुःखम्" या 'सर्वं शून्यम्' के तर्क से युद्ध नहीं लड़ा जा सकता। एक बात और भी है कि सांख्य में जिसे विवेकख्याति या सम्यक् ख्याति कहा है, वह सम्बन्धों की स्पष्टता के अतिरिक्त और क्या है? प्रकृति के व्यवहार का अनुभव करके अपने कर्म का निश्चय या अपनी स्वतंत्रता का निश्चय कर लेना ही गीता का सांख्य है। लेकिन गीता से पहले भी सांख्य का संख्य या युद्ध के साथ सम्बन्ध दीख पड़ता हैं। सांख्य के प्रवर्तक महामुनि कपिल के आश्रम में साठ हजार राजा सगर के पुत्रों के ध्वंस की कथा क्यों जुडी हुई है? अन्य किसी भी ऐसे दर्शन की चर्चा नहीं मिलती जिसकी पृष्ठभूमि में युद्ध लड़ा गया हो। यही कारण रहा कि श्रीव्यास ने गीता जैसे पुण्य ग्रन्थ को अपने आश्रम में किसी कोने में बैठकर लिखते हुए जो सांख्ययोग की भूमिका बनाई या निष्काम कर्मयोग खड़ा किया उसका सन्दर्भ धर्म के नाम पर लड़ने वाले युयुत्सु कौरवों का युद्ध का मैदान है जहां पर प्रत्येक व्यक्ति या तो अधर्म को ही धर्म समझ रहा है या फिर बुद्धिवाद का कोरापन उसे स्वार्थ और अहम् में लपेटे हुए है। इसलिए विश्व में सर्वत्र फैले हुए प्रकृति और पुरूष के सम्बन्धों की अस्वस्थता के बीच या तनाव की स्थिति में पापपुण्य या स्वर्गनरक की दिशा बताने वाली पोथियों से काम नहीं चलता। कर्तव्य अकर्तव्य का उपदेश तो भोले भाले लोगों के लिए होता है। अपने को भोक्ता मानकर प्रचण्ड अहंकार के मूर्तिमान् रूप बने हुए तथा सूई की नोंक के

अग्रभाग बराबर भी धरती न छोडने की बात करने वाले दुर्योधनों या शकुनियों के लिए नहीं। ऐसे लोगों के विरूद्ध धर्माधर्म की देशसापेक्ष या कालसापेक्ष परिभाषाओं के आधार पर युद्ध लड़कर हमारे देश के राजपूत योद्धाओं ने बहुधा हानि उठाई। अतः सारी मनोग्रन्थियों से ऊपर उठ कर कर्म करने की जो बात गीता में कही गई है वह निष्काम कर्मयोग है यानि सांख्यप्रेरित सांख्यदर्शन या युद्धदर्शन है। कृष्ण इस दर्शन की पृष्ठभूमि में जिन नामों की सूची देते हैं उसमें विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु जैसे राजाओं का भी नाम है। फिर पांचवें अध्याय के प्रथम छः श्लोकों में जो संन्यास, सांख्य और योग को एक ही मानने की बात कही गई है उसका अभिप्राय भी यही है कि सम्यक् ज्ञान से पैदा होने वाला कर्म ही सम्पूर्ण कर्म होगा। शेष कर्म तो प्राकृतिक जड़ता के धक्के में से हो रहा है। इसलिए गीता का सांख्य वह सांख्य है जो कर्म में, ज्ञानं में और भक्ति में किसी जड़ता–पूर्ण अतिवाद को नहीं बल्कि एक सहज समता को एवम् चैतन्य–साक्षात्कार से होने वाली कुशलता को जोड़ देता है। समत्व के बिना कर्म में कौशल नहीं और कौशल के बिना समत्व नहीं। श्रीकृष्ण का सारा जीवन इसी समत्व और कौशल का निर्देशन रहा। युद्ध में, प्रेम में, कर्म में, ज्ञान में इसी कौशल के कारण श्रीकृष्ण योद्धाओं में अतिरथी, प्रेमियों में रसिकशिरोमणि, कर्म करने वालों में कर्मयोगी एवम् ज्ञानयोगी माने जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि, सांख्यदृष्टि मूलतः एक भारतीय दृष्टि है जिसका विकास भारतीय सन्दर्भों में हुआ। यही कारण है कि उससे भारत के आस्तिक–नास्तिक दर्शन ही प्रभावित नहीं हुए अपितु समस्त कला, संस्कृति, साहित्य एवम् समाजशास्त्र सांख्यचेतना के प्रतिनिधि के रूप में उदित हुए। किन्तु समस्या वहां खड़ी होती है जब सांख्य के मानी ईश्वरकृष्ण–कृत सांख्यकारिकाओं की 70 कारिकाओं को ही बस सांख्यदर्शन मान लिया जाता है। उनकी इतने बड़े दर्शन को समेटने की क्षमता को दृष्टि में नहीं रखा जाता। और फिर उन कारिकाओं में भी कुछ लुप्त कारिकाओं की टूटी कड़ियों को जोड़ने का भी प्रयास अभी तक चल रहा है। वहां अभी भी यह समस्या खड़ी है कि 11वीं तथा 18वीं कारिकाओं में पहले तो एकवचनान्त 'पुमान्' शब्द का प्रयोग पुरूष को एक ही मानता हुआ दृष्टिगत होता है बाद में पुरुष–बहुत्व कहा गया है। संभावना यही लगती है कि ऋग्वेद में भले ही सांख्य शब्द कहीं रहा या नहीं, लेकिन दशम मंडल के पुरूषसूक्त का सहस्रशीर्षा पुरूष अवश्य रहा और वह बहुदेववाद में से निकल कर आया था। अतः उसके पूर्वभाग में पुरूषबहुत्व खड़ा था तो उत्तरभाग में पूर्णतावादी एकत्ववाद। वह पुरूष अनेक भी है और एक भी। यजुर्वेद का यह मन्त्र एक बात को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है कि रूद्र एक ही था दूसरा नहीं। लेकिन फिर भूमि पर हजारों असंख्य रूद्र हो गए

"एक एव रूद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः असंख्याताः सहस्राणि ये रूद्रा अधिभूम्याम्" (दे0 यजुर्वेद 16–54)

सांख्यकारिका की 17वीं कारिका में पुरूषों के बहु होने की बात के पीछे वैदिकों की संभवतः वही दृष्टि काम कर रही है जो प्रत्येक सत्ता को तत्त्वतः एक और व्यवहारतः अनेक मान कर चल रही थी। सांख्य की प्रकृति का जन्म भी उसके साथ ही हो चुका था। ऋग्वेद के ही दशम मण्डल के सूक्त 82 मन्त्र 6 में यह बात खुलकर सामने आ गई कि उस (पुरुष) के गर्भ को पहले 'आपः' या जलों ने धारण किया जिसमें से सभी देवता समन्वित होकर उठे। उस अज अथवा अजन्मा प्रधान की नाभि में ही व्यक्त समस्त भुवन स्थित होकर रह गए।

'तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः।।

इस अज अथवा अजन्मा प्रधान प्रकृति के अव्यक्त होने की बात भी ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में मिल जाती है कि "सृष्टि से पूर्व सब कुछ तमस् या अव्यक्त के अन्दर ही निगूढ़भाव से अज्ञात सा हो कर पड़ा था"।[1] इसी अव्यक्तवाद से सांख्य का सत्कार्यवाद भी निकल आया। सत्कार्यवाद की भूमिका उपनिषदों में जाकर स्पष्ट रूप में उभरी।[2] सर्वाधिक प्राचीन उपनिषदों में से छान्दोग्य में ही प्रकृति के एक अद्वितीय तथा सत् होने की बात आ गई। इतना ही नही बल्कि आग्रहपूर्वक प्रश्न भी उठाया गया कि भला असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है।[3] इसलिए सत् का परिणाम या विकृति ही सत् कारण से उदय होकर उसमें लय हो जाती है। अतः घट की कारणरूपा मृत्तिका ही सत्य है।[4] छान्दोग्य तो व्यक्त सृष्टि में तीन भूतों के माध्यम से भी प्रकृति के त्रिगुणरूप का भी स्पष्ट संकेत दे देती है। कि अग्नि का जो रोहित या लाल रूप है वह तैजस है, जलों की शुक्लता और भूमि या अन्न की कृष्णता ये तीनों रूप ही सत्य हैं।[5] छान्दोग्य के इस प्रकृतिवाद का रूप ही परवर्ती कठ, मुण्डक, प्रश्न और श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में उभरा। जिसमें एक ऐसे तत्त्व की ही बारबार चर्चा की गई है कि "वह अजन्मा होने के साथ-साथ एक होते हुए त्रिवृत या त्रिगुणाकृति होकर सृष्टि के रूप में फैल जाता है[6]। महत् तत्त्व उसका सूक्ष्म रूप है। किन्तु अव्यक्त तो उसका पर अथवा सूक्ष्मतम रूप है[7]। वह एक पीपल के पेड़ की तरह है जो फलों के रूप में तो व्यक्त है किन्तु बीज में अव्यक्त है। एक पुरूषरूप पक्षी उस पेड़ पर निरीह भाव से बैठा है तो दूसरा उसके फलों में रस लेता है[8]। निश्चय ही इनमें से एक प्रकृतिपुरूष है जो प्रकृति के संग से भोक्ता है और दूसरा शुद्ध या मुक्त पुरूष है जिसके बारे में बृहदारण्यक में असंग शब्द का प्रयोग हुआ था। जो जाग्रत् स्वप्न एवम् सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में से होकर भी वैसे का वैसे ही अकलुष निकल जाता है[9]। इस निसंग पुरूष को उपनिषदों ने प्रकृति की तीन मात्राओं या तीन गुणों से सर्वथा अस्पृष्ट माना है और उसे इसी लिए त्रिगुण से सर्वथा भिन्न चतुर्थ या तुरीय माना है। वस्तुतः उपनिषदों का सारा दर्शन ही मूलतः सांख्यपरक लगता है। इस तर्क में क्या रखा है कि उपनिषदों में केवल सांख्यदर्शन

का प्रयोग श्वेताश्वतर के केवल एक मन्त्र में ही हुआ है– "तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम् 6–13"। यूं तो भगवद्गीता में भी वेदान्त शब्द का प्रयोग शायद एक दो ही बार हुआ है और सांख्य का सात बार, वेद का पन्द्रह बार और योग का 44 बार। लेकिन भगवत्पाद् शंकर ने सारी गीता को अद्वैतवेदान्तपरक बना लिया।

वस्तुतः अद्वैतवेदान्त का विरोध शुरू शुरू में खूब हुआ। विद्वानों को लगा कि सांख्य और बौद्धदर्शनों की धारणाओं को ही यथावत् ग्रहण करके अद्वैतवेदान्त ने अपनी मौलिकता पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया। सांख्य जिसे प्रकृतिपुरूष का संयोग कह रहा था, जिसके कारण चेतन अचेतन के धर्मों से भासित होने लगता है और 'अचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्' के अनुसार जड़ चेतन की तरह व्यवहार करने लगता है क्या वही अद्वैतवेदान्त के अध्यास की भूमिका के मूल में ही 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य'[10] को लेकर खड़ा है? क्या सांख्य का संयोग ही शंकर का मिथुनीकरण नहीं है? केवल मौलिकता यह है कि बौद्ध प्रभाव के अन्तर्गत प्रकृति को अनृत या मिथ्याभास कह दिया है। अद्वैत–वेदान्त ने जिस माया एवम् अविद्या को अनिर्वचनीया कहा फिर उसका बाद में भावरूपा मानने के पीछे क्या सांख्य का परिणामवाद नहीं था? अविद्या की आवरण और विक्षेप शक्तियों के पीछे सांख्य का तमस् और रजस् नहीं तो क्या था? अतः भाषा–भेद या भंगीभेद को ध्यान में रखकर ही अद्वैतवेदान्त के गुरू स्तम्भ आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने भी दबी जुबान में सांख्योक्त प्रकृति की सत्ता को स्वीकार करते हुए कहा कि किसी बाधक ज्ञान के द्वारा जब तक प्रकृति का अस्तित्व न खंडित कर दिया जाएं तब तक उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता।[11] संक्षेपशारीरककार ने भी इसी प्रकार से माना कि शंकर के विवर्तवाद की पृष्ठभूमि तो सारी ही सांख्य के परिणामवाद की है "विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिः वेदान्तवादे परिणामवादः" संक्षेपशारीरक 2–61।

उपर्युक्त विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सांख्य ही अपने विभिन्न आयामों को लेकर भारत के लोकमानस पर छाया रहा। यह वैशेषिकों के असंख्यपरमाणुवाद, नैय्यायिकों के विचारसंप्रेषणा, योग के आत्मदर्शन, पूर्वमीमांसा के कर्मवाद, उत्तरमीमांसा के अध्यात्मवाद एवम् बौद्ध, जैन, चार्वाक मतों के क्रमशः बुद्धिवाद, दुखवाद, अनेकान्तवाद तथा भूतवाद की आधारभूमि बना रहा है। श्रीमद्भगवद्गीता की वैष्णव पृष्ठभूमि इसी व्यापकता को एक मुट्ठी में बन्द करके तितिक्षा, सहिष्णुता और युद्ध, तथा अनवरत ज्ञानानुपाती कर्म को कृष्णार्जुन के प्रेम और सख्य की भूमिका में प्रतिष्ठित करने का जीवनदर्शन प्रस्तुत करती है। और शंख, चक्र, गदा, पद्म उस कृष्णसांख्य की चतुर्धा अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करते हैं जिसमें व्यापकता, अविश्रान्त गतिशीलता, मुखर तेजस्विता और शोभनगन्धिता का अद्भुत सामंजस्य है जो अपने चारों ओर सौन्दर्य की सृष्टि करता है। वह निरीह सांख्य नहीं है। उसमें सम्पूर्ण निरीहता होते हुए भी पराई पीर

जानने की उत्सुकता है और उस पीर को निवृत्त करने के लिए "परदुखकातरता" के साथ निरभिमान होकर कार्य करने की क्षमता भी है। उसी की जीवन–शैली का नरसी मेहता ने चित्र प्रस्तुत किया है –

सकल लोक मा सहुणे बंदे निन्दा करे न केनी रे।
वाच काछ मन संजम राखे धन धन जननी तेनी रे।।

---

1. "तम आसीत् तमसा गूह्ळमग्रेऽप्रकेतम्" ऋग्वेद 10–129–3
2. "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" छां॰ उपनिषत् 6–2–1
3. "कथमसतः सज्जायेत" छांदोग्य उ॰ 6–2–2
4. छान्दोग्य उ॰ 6–1–4
5. छान्दोग्य उ॰ 6–4–1
6. "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्....." दे॰ श्वेताश्वतर 4–4
7. "इदं महद्भूतमनन्तमपारम्" बृहदारण्यक 2–4–12
   "महतः परमव्यक्तम्" दे॰ कठोपनिषद् 3–2
8. मुण्डक उपनिषद् 3–1–1
9. "स वा एष एतस्मिन् संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च.......
   असङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेतद् याज्ञवल्क्य" बृहदारण्यक उ॰, 4–3–15
10. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के प्रारम्भ का अध्यासभाष्य
11. "प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुम्"
    सांख्यतत्त्वकौमुदी का॰ 9

कालिदास के काव्य का पुरूष

द्रष्टव्य यह है कि हमारे काव्य नाटक आदि के रसपक्ष, अलंकार, गुण, रीति एवम् शैली आदि की विवेचना की केन्द्रीय धुरी कहां है? युधिष्ठर का राजसूय यज्ञ हो गया। बड़ा भारी आयोजन था। बड़े बड़े ऋषि, मुनि, पण्डित, शूर, राजा इस यज्ञ की पूर्ति तनदेही से कर चुके थे। सारे कर्मकाण्ड की औपचारिकताएं पूरी हो चुकी थीं। किन्तु कृष्ण का पांचजन्य (शंख) पूर्णाहुति का आदेश नहीं दे रहा था। सब हैरान थे। उसे किसी शूद्र के आने की प्रतीक्षा थी जो सदैव उपेक्षा का शिकार होता रहा था। जिसकी सेवा के कारण ये ज्ञान, विज्ञान, कला, आदर्श और यथार्थ के ढेर लगे हुए थे। जो जन्म से शूद्र था शिल्पी था पर संस्कार से उसे उच्चवर्गीय लोगों में स्थान प्राप्त कर बड़ा बनने को कहा जाता रहा है। उसे मिट्टी के साथ नही खेलना होगा। उसे नालियों में हाथ नहीं डालने होंगे, गन्दगी स्वयम् नहीं औरों से उठवानी होगी। बहुत सी कन्याओं के पिता और उतने ही दामादों के ससुर, वस्त्रमयी सभ्यता और संस्कृति के महनीय पुरूष प्रजापति के दामादों में सर्वोच्च पद के प्राप्त करने की इस (आफर) प्रस्तुति को एक औघड़ ने यह कह कर लात मार दी कि उसे शूद्र ही रहना है। उसे वे सब विष पीने तो स्वीकार हैं, किन्तु उसे अपनी दिगम्बरता को त्याग कर या कैलाश की हिमानियों से उठी ठण्डी लूओं को झुठलाकर संस्कृति के प्रतीक कोमल कोमल मृगशावकों के बालचर्मों से अपनी नग्नता को आवृत नहीं करना है। आवश्यकता होगी तो कोई भक्त सूखा गजचर्म दे जाएगा। इस पौराणिक अनावृत शूद्र को यक्षों में उपस्थित होने के लिए न न करने पर भी बाद में संस्कृत कर लेने के यत्न चालू रहे हैं। यह शूद्र ही अपने अघोर रूप में महाकवि कालिदास के काव्य की प्रतिभा का वरणीय पुरूष है। आम जीवन में जो उपेक्षित है। शाब्दी माया के आडम्बर में जिसे नकारने का यत्न सदैव होता रहता है उसी चैतन्यार्घ्य से समाराध्य, शक्ति के अधिष्ठानभूत पुरूष को कालिदास की लेखनी ने अपना केन्द्रबिन्दु बनाया है।

अत्यन्त प्राचीनकाल में जब कि मानवसमाज का रूप मातृसत्ताप्रधान था तब आदिम लोगों को पुरूषतत्त्व के महत्त्व का आभास नहीं था। स्त्री के नेतृत्व वाले समाज में पुरूष का अस्तित्व समाज या कबीले में स्त्री के कामसुख में उपयोगी होना और उसी में से अपने पौरूष के सुख को भी प्राप्त करना था। नृतत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि उस काल में लोगों को यह पता ही नहीं था कि स्त्री–पुरुष की रति–प्रक्रिया ही सन्तानोत्पत्ति में एक मात्र कारण है। वे उस मिथुनक्रिया को केवल आनन्द का स्रोत मानते थे, प्रजनन का नहीं। क्योंकि रतिक्रिया और सन्तानोत्पत्ति में काल का व्यवधान इतना अधिक था कि आदि मानव का मस्तिष्क उन दोनों

घटनाओं में कार्यकारणभाव स्थापित नहीं कर सकता था। फलतः अभी सचेत रूप से मानवसमुदाय में दाम्पत्यभाव की कल्पना स्पष्ट नहीं हुई थी। मां की सत्ता तो उत्पत्ति में प्रत्यक्ष कारण होने से स्वतःसिद्ध थी, किन्तु पुरूष का सन्तति से संयोग प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रजनन की प्रक्रिया में ग्राह्य न होने से महत्त्वपूर्ण नहीं था। अतः अभी तक समाज प्रजनन के देवता के रूप में योनिपूजा ही करता था। दैवी सत्ता का प्रतीक उसके पास अकेली योनि ही थी, वही ईश्वरी थी।

किन्तु सभ्यता का दौर बदला, और उस काल में एक ऐसा धमाका हुआ जिससे मानव सभ्यता का पूर्ण रूपान्तरण हो गया। मात्तृसत्ता को जिस दिन यह आभास स्पष्ट हो गया कि वह पुरूष, जो अब तक केवल उसके और अपने कामानन्द में एक सहायक था, साधनमात्र माना जाता था, वह पुरूष ही उस कुटुम्बिनी को अपने शुक्रारोपण से मातृत्व प्रदान करता है, तो सभ्यता के इतिहास के उसी दिन मानवमस्तिष्क आलोकित हो उठा। मातृसभ्यता का आसन आन्दोलित हो उठा और तब योनिपीठपूजकों को लिंगप्रतीक की प्राप्ति हुई। समाज में पुरूष का स्थान एक क्षण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो गया। क्योंकि स्त्री को मातृत्व प्रदान करने की योग्यता का पता चल चुकने के बाद वह पुरूष उसका भी ईश्वर हो गया था। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से उसी दिन व्यक्तित्वों का सर्जन होना शुरू हुआ था, और पुरूष को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा की प्राप्ति हुई। प्राचीन मानव के मस्तिष्क में इस विचार की स्पष्ट प्राप्ति एक लोकोत्तर चमत्कार था। इस दिन एक साथ कई घटनाएं हुई थीं।

यह पुरूष–प्रतिष्ठा का दिवस था। और स्त्री को प्रथम बार सौभाग्य की प्राप्ति हुई थी। इसी घटना के दिन से लेकर आर्यों ने स्त्री–पुम्भाव के जहां कहीं भी मिलन के भाव को, पूज्य एवं दिव्य मान लिया। कुमारसंभवम् काव्य की रचना महाकवि के इसी साक्षात्कार का फल है और यह मंगलकाव्य मानव की इन्हीं महती उपलब्धियों को लेकर निबद्ध किया गया है जो उसके आदिम और वर्तमान जीवनक्रम की बहुत बड़ी कड़ियां है। स्त्री, जो कि समाज में अकेली ईश्वरी थी उसे ईश्वर मिला था। बच्चों को पिता की प्राप्ति और पुरूष को अपना दबा हुआ स्वरूप प्राप्त हुआ था यानि आत्मलाभ।

भारत के सभी वैदिक दर्शन सुदूर अतीत की इस खोई घटना के इतिहास को ढूंढने में किसी न किसी रूप में लगे रहे हैं क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि जीवन की चार फलनियतियों को स्वीकार करने के साथ साथ समाज के हर पक्ष में प्रभुत्व और व्यवस्था का प्रश्न महत्वपूर्ण होता जा रहा था और वैदिक मानवसमुदाय पुरूष के सुप्त पौरूष की गहन अतिगहन तहों को खोलने में व्यस्त हो गया था। वैदिक साहित्य पूर्णतः जागरणशील एवं उसी उदीयमान पौरूष की एक महनीय गाथा है। स्त्रीतत्त्व भी उसी पौरूष के संवर्धन में योगदानरत है। यजमान और

यजमान–पत्नी दोनों ही ''संतानप्राप्ति–यज्ञों'' में प्राथमिकता पुरूष सन्तानों को दे रहे हैं। पुत्रेष्टियों का वर्णन तो मिलता है किन्तु पुत्रियों की प्राप्ति के लिए यज्ञ नहीं होता था। ब्रह्मवर्चस् एवं राजन्यभावयुक्त शूर, इषव्य, अतिव्याधी पुरूष सन्तानों की कामना करना वैदिक राष्ट्र का मुख्य संकल्प है। साथ में 'पुरंध्रि' एवम् सशक्त स्त्रियों की भी कामना है।

पुरूषतत्त्व को प्रधानपद पर स्थापित करने के साथ साथ उसके पौरूष के अधिकाधिक उन्मेष की संभावनाओं का बार बार परीक्षण वैदिक ऋषि करते थे। समाज या राष्ट्र को गतिशीलता या अग्रसरता की ओर निरन्तर ले जाने के लिए जिस ब्रह्मबल या मेधाबल की आवश्यकता होती है तथा ब्रह्मबल को सदा बनाए रखने के लिए सुरक्षामूलक जिस क्षात्रबल की अपेक्षा होती है इन दोनों बलों का एकत्र विन्यास कर जिस पुरूष की कल्पना की गई वह पित्तृबल और मातृबल दोनों का एक साथ प्रतिनिधित्व करता था। वह उसके देह की बलिष्ठ एवं वीर्यवती गरिमा का प्रतिनिधित्व करता था। उसके व्यक्तित्व के तीन स्कन्ध थे–यज्ञ, अध्ययन और दान। ऋग्वेद के पुरूषसूक्त–काल में उस पुरूष ने सृष्टि–रचना के लिए देवताओं को पूर्ण आत्मदान कर दिया था। अपनी देह और आत्मा का एक एक अंश देकर विश्व की उत्पत्ति में योगदान किया था। जिस की परम्परा का निर्वाह दधीचि आदि ऋषियों ने आगे तक किया था। चेतना के स्तर पर यह पुरूष अपने स्व के प्रति सचेत होते होते जब स्वातीत हो गया तो यह मन्त्र जागृत हुआ होगा ''पुरूष एवेदं सर्वं यद्भूंत यच्च भाव्यम्'', अर्थात् यह सब विश्व जो विद्यमान है और जिसके प्रस्फुटित या अंकुरित होने की संभावना है वह सब पुरूष ही है। यह पुरूष सदैव अंकुरित होते रहने की प्रवृत्ति के रूप में वेद का ऋत, पौराणिकों का धर्म, उपनिषदों का बृंहणशील ब्रह्म और शैवों एवम् वैष्णवों का शक्तिसिद्धान्त है।

वैदिकों ने जिस ऋत में जीवन का मधु देखा था पौराणिकों ने उस में ही परमपुण्य स्वर्लोक, उपनिषदों ने मुक्ति का आनन्द और अर्वाचीनों ने मिलन के आनन्द की भूमिका का साक्षात्कार किया था। जिस पुरूषत्व को सारी सृष्टि का केन्द्र–बिन्दु मानकर समाज–रचना चल रही थी उसमें भौतिक रूप से समस्त बलों की सम्पन्नता एवं अध्यात्म की उच्चतम सीमाओं का मिलन था। वाल्मीकि अपनी रामायण में राम के चरित्र के रूप में कुछ इसी तरह के पुरूष की अवतारणा कर चुके थे जो अपने आन्तर जीवन के प्रति प्रबुद्ध होते हुए भी समाज–चेतना को प्रमुखता देता है और इसी से जो नारायण होते हुए भी नर के रूप में ही आत्मपूर्ति देखता हैं ''नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।''

महाभारत में यह पुरूष कृष्णचरित के रूप में और पुराणों में शिवचरित के रूप में सभी बाह्य आन्तर विरोधों को अपने पर झेलता हुआ कभी समाज–रूप समुद्र–मन्थन के कार्य में कछुआ होने की यातना को भोगता है, तो कभी प्रलय की

अकेली मछली हुआ जाता है, तो कभी आधा नर और आधा सिंह बनता है, अनन्तशक्ति का स्वामी होते हुए भी बौना बनता है, तो कभी क्रोधाकुल रूद्रधर्माविष्ट परशुराम। वैष्णवों, शैवों और शाक्तों ने सांख्यों और वेदान्तियों का खुर्दरापन, जो कभी अतिवाद की तरफ बढ़ने लगता था उसे काटकर पुरूषतत्त्व को पुनः समंजस करने का व्रत लिया हुआ था। वह प्रकृति को कठोर माया नहीं मानता था अपनी ही नानार्थ–प्रयोजिका अभिन्न शक्ति मानकर समाजरचना की विशाल छत के बीच में केन्द्रीय स्थूणा की दृढ़ता का वाहक बना था। वह लोकधर्म की दृष्टि से उतना ही प्रणिमात्र के जीवन के पास था जितना कि वह दिव्य चेतना को धरती पर उतार कर जीवनमात्र को सुखी कर सके। ऐसा यह पुरूषतत्व अपनी उदारता आदि महनीय गुणों का स्रोत निकलने के कारण समस्त प्रकृतिराज्य के राजा के पद पर अभिषिक्त हुआ। महाकवि कालिदास ने ''राजा प्रकृतिरंजनात्'' कहकर इसी पक्ष का उद्घाटन किया है। प्रत्येक पुरूष तो जन्म से ही राजा है। वह किंग या रूलर नहीं।

राजन् शब्द की कालिदासीय व्युत्पत्ति संस्कृत के अन्य निर्वचनकारों से एक कदम बढ़ कर ही है। राजृ धातु के मूल में जहां आलोक, दीप्ति और दमकने का भाव है वहां रंजन के साथ जोड़ देने से लोकभावना के प्रति अधिक सक्रियता का भाव आ जाता है। स्वयम् में प्रकाशित होने में और प्रकाशित करने में जो सूक्ष्म अन्तर है वह संस्कृतियों की धाराओं के इतिहास को बदलता रहा है। ''राजा अपने लिए नहीं लोक के लिए है'' कहने से युग पलट जाते हैं। निष्कर्ष लिया जा सकता है कि प्रत्येक पुरूष राजा है स्वयं में आलोक–चैतन्य का पुंज है। पर यह आलोक आत्मसीमित होने के लिए नहीं, चराचर जगत् के रंजन के लिए है। यहां शायद हमें बौद्धों और शैवों के चिन्तन का सन्धिस्थल भी मिल जाए। क्योंकि कालिदास को दोनों ही पक्षों का सान्निध्य प्राप्त था। एक ओर बौद्ध धर्म के रूपान्तरण की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म के वे अग्रणी थे जो ''पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'' को मानकर चिन्तन की व्यापकता को छूने का साहस कर रहे थे। इसी से भारतीय लोकदृष्टि उनके साथ अपनापन अधिकाधिक अनुभव करती है जैसा कि दिलीप, रघु, अज, राम आदि चरित्रों के साथ है। किन्तु जड़ प्रकृति भी उनके पुरूष के बहुत समीप है। इसी से धूम, ज्योति, सलिल और मरूतों का सन्निपात मेघ यहां की सहज मानवी पीड़ा में सहभागी बनने को तत्पर है। पुरूष–व्यथा से प्रेरित होकर गतिशील हुए मेघ की यात्रा, वियोग श्रृंगार के वर्णन के माध्यम से महाकवि के उस आशय को ध्वनित करती है जिसमें पुरूष अहंवेदना से विमुख हो अपनी मानवी की वेदना के विषय में भी अधिक सचेत है। प्रेम में उसकी पूर्ण निष्ठा है और संबंधों के प्रति पूर्ण प्रतिबद्धता है।

अतः कालिदास का पुरूष प्रेम में व्यभिचारी नहीं हो सकता। उसके पास सामाजिक जीवन में पूर्ण शक्तियां केन्द्रित हो जाने पर भी, उद्दाम व्यभिचार का सामर्थ्य होने पर भी वह प्रेम में ब्रह्मचारी हैं। ब्रह्मचर्य और रति, जो दो विरोधी ध्रुव

माने जाते रहे हैं, उनमें से विरोधदृष्टि का परिहार करके कालिदास दोनों को पूर्णत्व की ओर उन्मुख कर रहे थे। प्रेम में एकनिष्ठता और समर्पण का तत्त्व ही ब्रह्मचर्य है। और ब्रह्मचर्य की कठोरता भंजित कर उसमें सरसता एवं अंतर्दृष्टि का उन्मेष करना ही रति है। दोनों ही भाव शाश्वतिक हैं। दोनों ही स्थूल जगत् के स्त्री–पुंभाव के प्रतिनिधि हैं। इन्हीं दो भावों का अन्तःपटल पर साक्षात्कार करके महाकवि ने जिन पुरूषपात्रों का सर्जन किया वे न तो कोरे ब्रह्मचारी है न ही व्यभिचारी हैं। वे अपनी उदात्तता में इस देश के लोकजीवन के प्रेरणास्रोत हैं। वे सहज मानव हैं। कालिदास के काव्य की चिरनवीनता का रहस्य भी यही है कि उन्होंने जिस प्राचीन विरोध ापरिहार वाली ऋषिदृष्टि का नूतन आविष्कार किया वह इतनी निष्प्रतिघ थी कि उसमें तत्कालीन समाज की विरोधी दृष्टियां समाती चली गई हैं। लोकमानस पर से कालिदास के काव्य की पकड़ ढीली न होने का यही सबसे बड़ा कारण है। शृंगार पर तो दुनियां भर के सभी कवियों का लेखन का अधिकार रहा है। किन्तु विश्व–कुतूहली शृंगार जो ''यत्किंचित् शुचिमेध्यमुज्ज्वलम्'' को अपने में समेट रहे वह महाकवियों का ही होता हैं।

वस्तुतः कालिदासीय काव्य का पौरुष, भारतीय इतिहास के शताब्दियों पर्यन्त विदेशी आक्रमणों के परिणामस्वरूप बाह्य संघर्ष और आन्तरिक रूप से धर्म और काम में द्वन्द्व के फलस्वरूप जन्म ले चुका था। सुदीर्घ परम्परा से तो उसे जो कुछ मिला था सो तो उसके पास था ही किन्तु उसमें अपनी ओर से संवर्धन करने के लिए भी वह सचेष्ट था। वेद को केवल पोथी न मानने वाले आर्य ऋषियों ने जब ''अनन्ताः वै वेदाः'' और ''एकं सत्'' के बीच की ग्रन्थि को सुलझा लिया था तो परवर्ती पीढ़ियों को यह बात समझ में आ गई थी कि वेद के रूप में हमारे पास एक ऐसी सनातन निधि प्राप्त है जो किसी काल या देश में यथावसर नए नए समाध ाान देती रहेगी। इसी से नई दृष्टियों का उन्मेष इस देश में बराबर होता आया है।

महाकवि कालिदास के उदय से कुछ पूर्व जो बौद्ध हलचलें हो रही थीं उससे लगता है कि लोग जीवन में नश्वरता, वैराग्य और क्षणिकता से इतने आंतकित होने लग गए थे कि उन्हें जीवन में रस ही न रह गया था। कुछ लोग तो इस जगत् से एकदम ही भिन्न किसी परलोक में जाने की कल्पना से सुखी और दूसरे 'शून्यवाद' वा 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के फेर में जीवन की यथार्थता को परम निर्वाण या चरमशून्य ही समझने लगे थे। तीसरा जनवर्ग ऐसा भी था जो परलोक या चरमशून्य आदि की गूढ़ बातों को पकड़ न पाने से निरूत्साहित होकर क्षुद्रसत्त्वता को ही अपना जीवन मानकर जी रहा था। जातीय जीवन के मानस के इस त्रिकोण में कालिदास पौराणिकों की ''पुरा नवं भवति'' वाली शैवदृष्टि लेकर अवतरित हुए। इस शैव दृष्टि में पुरूष की कल्पना भिन्न थी। यह पुरूष त्र्यम्बक था, त्रिनेत्र था, सिद्ध था। यह न रागी था न वैरागी। यह महारागी सर्वकलाकलापवित् था और चरम विरागी भी था। यह पुरूष अनुन्मत्त होते हुए भी उन्मत्त की तरह आचरण करने वाला

विलक्षण अवधूत था। इसकी सहजता या मौजमस्ती का, आनन्दभावना का, शुष्क ज्ञानवादी या कठोर नैतिकतावादी पुरूष से औपम्य नहीं था। कुमारसंभव के इस पुरूष ने अपने तीसरे नेत्र के बल पर ही सभी विरूद्ध विचारधाराओं के सर्पों और वृश्चिकादिकों को आराम से अपनी कन्था में डालकर आत्मसात् कर लिया। यह यज्ञों का भी अधीश्वर बना तो शून्यवादियों का अलख निरंजन भी –

मौने मौनी गुणिनि गुणवान् पण्डिते पण्डितश्च
दीने दीनः सुखिनि सुखवान् भोगिनि प्राप्तभोगः
मूर्खे मूर्खो युवतिषु युवा वाग्मिषु प्रौढवाग्मी
धन्यः कोऽपि त्रिभुवनजयी योऽवधूतेऽवधूतः।।

जीवन की सरस एवं प्रवहमान दृष्टि ही इसकी प्रतिभा[1] की मानक शक्ति थी जिसके बल पर वह सब कुछ अपने हस्तगत ही समझता था। उसकी समाधि में एक एक अभिधेय असंख्य रूपों, रसों, गन्धों, स्पर्शों और स्वरों को अभिव्यंजित कर उठता था। उसकी इच्छा भी परम थी। उसका ज्ञान भी चरम था। उसकी क्रिया विश्व के सृष्टि, स्थिति, संहार के रूप में अनवरत गतिशील थी। वह परिपूर्ण सिद्ध था। किन्तु उसकी यह सिद्धता सर्वजनगम्य है। कहा जा सकता है कि कालिदासीय काव्यों के पुरूष का रूप प्रतिभासंपन्न पुरूष का है। रघुवंश के वसिष्ठ निष्प्रतिघ चक्षु[2] को प्राप्त किए हुए ऐसे ही पुरूष हैं जिनके लिए ज्ञानदृष्टि के आदर्शों और यथार्थ जीवन के संघर्षों का कोई विरोध नहीं। इसी तरह कालिदास का पुरूष एक ओर तो दिलीप, रघु और राम जैसे उदात्त चरितों के कर्मयोग की गरिमा को करस्थ किए है तो दूसरी ओर वह कामदेव की छेड़छाड़ करने वाली शालीन उद्दण्डता भी लिए हुए है। कहीं पर वह मेघदूत के यक्ष की तरह इच्छाहत होकर सिसक रहा है, और अज की तरह करूण क्रन्दन करता है, कहीं पर उसे तत्त्वान्वेषण का काम बड़ा मंहगा लगता है, और वह सौन्दर्य को भोग कर ही कृती होना चाहता है।[3] इस अनेकरूप पुरूष के अन्तर और बाह्य सुखों और दुखों के रहस्य का पर्दा उठाने के साथ उसके मानवरूप का साक्षात्कार ही कालिदास की काव्यप्रतिभा का मूल है। यह पुरूष अन्ततः किसी एक लिंगविशेष का प्रतिनिधि न रहकर लिंगातीत चेतना, जो नरनारी और चराचर में व्याप्त है तथा वह उन सब संवेदनों का साक्षी भी बनता है और सहभोगी भी। यही महामानव पुरूष कालिदास के महामानस का प्रतिनिधि है।

---

1. सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते
   येन साक्षात्करोत्येषभावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः।।
   दे० व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट 3
2. स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा, त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति।। दे० रघुवंश 8–78
3. वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।। दे० अभिज्ञान शाकुन्तल 1–21

शाक्तों का स्त्री–तत्त्व

अपनी बात कहने से पहले मैं स्पष्ट करके चलता हूँ कि मेरे लिए स्त्री कोई विवाद का विषय नहीं रहा है। न ही यौन लिंगों के नाम पर धड़ेबन्दी का मेरे से सम्बन्ध है। न ही ऐसे लोगों से कोई सम्बन्ध है जो यह समझते हैं कि स्त्री कोई समझने की चीज़ ही नहीं केवल प्रेम की चीज़ है। क्योंकि ऐसे लोग प्राय : वे हैं जिनके पास न प्रेम है न समझ है। जहाँ प्रेम होता है वहां समझ होती ही है। जहां प्रेम होगा, समझ होती ही वहीं है। स्वार्थी व्यक्ति का मन तो हमेशा भाषा के स्तर पर ही जीता है। और भाषा तो लिंगों के आधार पर विभाजन मानकर ही चलती है, जो एक ऐसा युद्ध का मैदान बन जाते हैं, जिसमें लोग मिलते तो हैं, पर एक दूसरे का गला काटने के लिए। अतः स्त्री को यदि स्वयं को समझना है या पुरूष को भी यदि स्त्री को समझना है तो दोनों को ही प्रेम और ज्ञान में दीक्षित होना पड़ेगा। अन्यथा स्त्री बड़ी या पुरूष बड़ा के चक्कर में हम तोता–मैना के किस्से कहने या लिखने से ऊपर नहीं उठ पाएंगें। किस्से की भाषा सड़क–छाप हिन्दी से उठकर ऑक्सफोर्डियन इंग्लिश जैसी भी हो सकती है।

मेरा स्त्री से प्रथम परिचय गन्ध के माध्यम से हुआ। गन्ध धरती का ही गुण है और था। मै गन्ध के आधार पर ही एक स्त्री का दूसरी स्त्री से अन्तर कर सकता था। रूप के आधार पर और आवाज़ के आधार पर स्त्री की पहचान ज़रा बाद में हुई। लेकिन यह पहचान यहीं तक रह जाती यदि स्त्री ने ही एक चैलेंज के रूप में चेतना के सोपानों पर चढ़ने की प्रेरणा न दी होती। इस 'स्त्री' को मैने सहस्र नाम दिए। उसके पास बैठकर बोलना सीखा तो मेरी वाणी को भी मातृका कहा गया। देखना शुरू किया तो दृष्टि कहा गया। सुनना शुरू किया तो श्रुति कहा गया। वर्णमातृका, दृष्टि और श्रुति तीनों स्त्रीवाची शब्द मेरे जीवन का यथार्थ बन गए। वाङ्मातृका यानि संस्कृत वर्णमाला, दृष्टि–यानि मेरा अपनापन और श्रुति मेरी परम्परा बन गई। इस त्रिकोण के बीच बैठकर जो कुछ समझ में आया वह मेरे सम्मुख है।

केवल ऐतिहासिक दृष्टि से स्त्री का अध्ययन द्वन्द्वात्मक संघर्ष को हवा देने की बात है। अतः उस विषय में मुझे अधिक नहीं कहना है। वैदिक काल में स्त्री का जो रूप सामने आया था वह अतिमहनीय था। किन्तु बाद में जब आर्यों की स्त्रीसम्बन्धी मान्यता में और आर्येतर जातियों– जैसे कि ग्रीक, यूची, शक, कुषाण, हूण, अरब, मंगोल, अंग्रेज जातियों की स्त्रीसम्बन्धी मान्यताओं का मिश्रण होता गया तो परिवर्तन होता गया। इन जातियों के घरों में रहने वाली स्त्रीसम्बन्धी धारणाओं

का अध्ययन करके ही भारतीय स्त्री का इतिहास हम समझ सकते हैं।

यह दृष्टि ठीक नहीं कि बाहर से आई जातियों के प्रभावों को हर श्रेष्ठता के साथ जोड़ दिया जाए और दूषित प्रभावों को रामायण, महाभारत और मनु के साथ जोड़ दिया जाए। इतिहास तब एक तोता–मैना का किस्सा बन जाता है जब वह मरे हुए तथ्यों को जीवित तो कर नहीं सकता पर लिस्ट (सूची) छाप देता है कि इतिहास में इतनी औरतें बेवफा निकलीं और इतने पुरूष बेरहम निकले। बेवफा औरतों को तलाक़ मिलना चाहिए और बेरहम आदमियों को मौत के घाट उतार देना चाहिए। अतः मैं उस दृष्टि को लेना चाहता हूँ जो स्त्री को भूत और भविष्यत् के चक्कर से मुक्त करके उसको वर्तमान में देखती है, यथार्थ रूप में देखना चाहती है। उसकी धरती को भी पहचानना चाहती है और उसकी दिव्यता को भी।

यह ठीक है कि समाज में नारी की स्थिति को लेकर एक विवाद रहा है कि मूलतः भारतीय विचारधारा में नारी के प्रति एक नकारात्मक रूख रहा है। इस आरोप का कारण संभवतः इसलिए भी उचित हो क्योंकि संस्कृति, साहित्य और कला में उसका जो रूप रहा है वह धीरे धीरे लोकजीवन में विकृत होता रहा है और समय समय पर शास्त्र को भी विकृत करता रहा है। आर्थिक, राजनैतिक एवम् सामाजिक दुर्दशा के कारण नारी के प्रति दृष्टिकोण के बाहरी स्तरों पर बहुत विकृति आई है। किन्तु मूल या केन्द्रीय दृष्टि में परिवर्तन के स्थान पर विकास भी मिलता है। उसी दृष्टि की एक झलक हम कालिदास से शुरू करते हैं।

महाकवि कालिदास की जब बात शुरू करते हैं तो उसके जीवन के दो पक्ष सामने आते हैं। पहला पक्ष जड कालिदास का, जो जड़ता और अज्ञान का ऐसा रूप है जिसमें चालाकी, धूर्तता या दम्भिता का लेश भी नहीं। व्यवहारबुद्धिशून्य एक आदमी, जो पेड़ की जिस शाखा पर बैठा है, उसी को काट रहा है। आत्मनाश या आत्मरक्षा कि सहजभावना से भी अपरिचित। लोकदृष्टि में निपट महामूर्ख, जिसकी दीक्षा का दायित्व स्त्रीशक्ति ने अपने पर लिया। क्योंकि शक्ति के अवतरण का इससे बढ़िया माध्यम दूसरा हो नहीं सकता था। छोटी मोटी व्यावहारिक समझदारी, जिसे आम लोकजीवन में बड़ा उपादेय या अपरिहार्य माना जाता है, उसका दिव्यता के जीवन से इसलिए घोर विरोध रहा है क्योंकि हमारी व्यावहारिकता की आधारभूमि छोटे छोटे स्वार्थ या अहंकार ही हैं। फलतः हम व्यावहारिक जीवन में परम सत्ता या पराशक्ति का जो भी चिन्तन करते हैं उसे अपने क्षुद्रस्वार्थों की पूर्ति में ही साधन बनाना चाहते हैं। अतः कहा जा सकता है कि मुक्त जीवन ही परमशक्ति के निवास का स्थान हो सकता है। अतः कभी कभी मुझे अपढ़ कालिदास और रामकृष्ण परमहंस में बड़ी समानता लगने लगती है। दोनों ऐसे व्यक्ति जिनका चुनाव आद्या महाशक्ति कालिका स्त्री के द्वारा स्वयं किया गया। और लगता है कि जड कालिदास के संस्कार और दीक्षा का दायित्व भी एक स्त्रीदेह के माध्यम से

अपने पर स्वयं ही ले लिया। फलतः दीक्षा के होते ही कालिदास के मन, प्राण, चेतना में स्त्री एक तत्त्व के रूप में व्याप्त हो गई। जिसकी अभिव्यक्ति ही उनका साहित्य है।

स्त्री क्या है? यह पहेली जितनी उलझी हुई है उतनी ही सरल है। शायद यह सरलता अतिबुद्धिवादिता के कारण अधिक उलझ जाती है। कहते हैं महाज्ञानी शंकराचार्य से एक स्त्री भारती ने सवाल कर दिया कि तुमने ब्रह्म, माया, जीव, जगत् की सब ग्रन्थियां समझ रखी हैं। पर यह बताओ कि वह स्त्री की कौन सी कला है जिससे वह आकर्षण करती है। कहते हैं कि ज्ञानी शंकर को भी इस सवाल को हल करने के लिए राजगृह की स्त्रियों के बीच छः महीने रहना पड़ा। संभवतः शंकर के मठों में महामाया त्रिपुरसुन्दरी की साधना और बौद्धों, जैनों में तारा आदि देवियों की उपासना के मूल में इसी स्त्रीतत्त्व को यथार्थतः ग्रहण करके ही संन्यास की पूर्णता की जाती रही है। कहा जाता है कि प्राचीन भारत के लोग संभोगव्रत को धर्मांग मानते थे। स्त्री के साथ एकान्त में रहते हुए भी रति–सुख में प्रवृत्त नहीं होते थे। इसका कारण नपुंसकता नहीं, सामाजिक आवश्यकता थी। लोग जानते थे कि इन्द्रियों के आवेगों को परितृप्त करने के लिए यदि किसी भी वस्तु को केवल भोग के सुख का माध्यम बनाया जाएगा तो भोग्य या वस्तु का उपभोक्ता की दृष्टि में अवमूल्यन हो जाएगा। पहले अवमूल्यन हो चुका था। अतः अवमूल्यन से बचने का एक ही रास्ता रहा है कि लोग कामसुख को इन्द्रियद्वारों तक ही न बुझ जाने दें उसे अन्तरात्मा के स्तर तक भी पहुंच जाने दें। वहां पहुंचकर वह आनन्दानुभूति में रूपान्तरित हो सकेगा। अन्यथा वह कामसुख रोग, शोक एवम् विपत्ति का कारण बनेगा। मिलन को नहीं विभाजन को पैदा करेगा। क्योंकि महासुख के प्रतीक तत्त्व या धातु को क्षणिक संवेदनाओं के स्तर पर भोगने का परिणाम व्याधियों एवम् नरपशुओं की सृष्टि ही होगा।

शास्त्र और अनुभव दोनों ने कहा है कि पराशक्ति जब खेल में प्रवृत्त हुई तो स्वयं को मिथुनभाव में पाया। इस मिथुनभाव का प्रादुर्भाव ही शिव–शक्ति, राधाकृष्ण आदि के रूप में हुआ। इस अनन्त सृष्टि में तब से निरन्तर शिव का शक्ति में शक्ति का शिव में, राधा का माधव में और माधव का राधा में रूपान्तरण होता रहा है। पर बाहर से यह रति द्विमुखी दिखाई देने पर भी अन्दर से पराशक्ति की आत्मरति या आत्मक्रीड़ा रही है। संभवतः रतिक्रीड़ा की भी अन्तिम परिणति यही है। शाक्त कहते हैं कि इस दो के मिथुन में तीसरे का तो अस्तित्व ही नहीं है। यह अतिरहस्य लीला, जिसका बाह्य रूप कोई है ही नहीं, उसे तीसरे बनकर नहीं तादात्म्य या आत्मविसर्जन के स्तर पर देखा जा सकता है। दो के खेल में जो तीसरा होना चाहता है वह असुर बन जाता है। असुर को अपने में समेटना शक्ति का अपना काम है। शुम्भ और निशुम्भ नामक दो असुरों ने शिव की आराधना में लीन देवी को सन्देश भेजा कि "देवी तुम अप्रतिम सुन्दरी हो। हम त्रिलोकी में अप्रतिम

बलशाली हैं। हमारी अर्धांगिनी बनो।" देवी ने असुर को यह कहकर अस्वीकृत कर दिया कि "जो मुझे युद्ध में जीत सकता है, जिसमें मेरे स्त्रीतत्त्व के दर्प को दमित करने की शक्ति है, जो मेरे ही समान पराक्रमशील है, वही मेरा भर्ता हो सकता है।" स्त्रीतत्त्व का यह दर्प ही उसकी कान्ति, बल, नीतिबल या धर्मबल रहा है। यहीं उसकी सर्वाकर्षिणी, सर्वोत्कृष्टा, सर्वानन्दमयी कला का उन्मेष है जिसे शिव बनकर ही देखा जा सकता है पशु बनकर नहीं।

वस्तुतः आगमों में जब यह कहा गया है कि "हे मां तुम न तो मात्र पुरूष हो, न ही स्त्री। तुम तो चित्रूपिणी हो, तुम्हारे में नपुंसकता भी नहीं।" तो उस समय इस बात को ध्यान में रखा गया है कि स्त्री, पुरूष या नपुंसक आदि तो भाव हैं। भाव मानी कलाएं, रूप या पक्ष, जिनमें स्त्री समय समय पर अभिव्यक्त होती रहती है। और कला क्योंकि स्वयम् अनन्त शक्ति से उठी है अतः अनन्त की ही प्रतिनिधि होती है। क्योंकि प्रत्येक कला में अन्य कलाओं का भी समावेश रहता है। अतः जब एक कला यानि स्त्री–कला का आवि र्भाव होता है तो उसके अन्दर ही पुरूष–कला मातृकला, पितृकला, पुत्री–कलाएं भी समाविष्ट रहती हैं। इन्हीं कलाओं के कारण स्त्री होते हुए भी उसे संस्कृत में कभी नपुंसक–लिंगी 'कलत्र' पद द्वारा कभी पुरूषलिंगी दारा शब्द द्वारा बोधित किया गया है। क्योंकि स्त्री में भी क्रिया के स्तर पर पुरूषत्व या नपुंस्त्व आदि भाव जागृत होते रहते हैं अतः भावसृष्टि सारी ही इतनी संसृष्ट या मिश्रित है कि इसमें कुछ भी स्वतन्त्र नहीं। जो स्वतन्त्र है वह इन सब का सार है जो अनेक भी नहीं एक भी नहीं, युगपत् है। स्त्री में पुरुष, पुरुष में स्त्री अथवा नपुंस्त्व आदि भाव तीनों गुणों की तरह 'सर्वे सर्वत्रगामिनः' हैं। सभी एकसाथ रहेंगे। हां कभी कोई आगे कोई पीछे। अर्धनारीश्वर में नर और नारी, नटेश में कला और कलाकार के युगपद्–भाव की ही अभिव्यक्ति हुई है। किसी महाकवि की दृष्टि जब परमशक्ति के इन कलाभावों का साक्षात्कार कर लेती है तो परमशक्ति के साथ उसके संसर्ग का तुरन्त फल जो होता है वह है दृष्टि का पूर्ण रूपान्तरण, अपूर्णता का पूर्णता में पर्यवसान, जिसके आगे निष्कल या निर्गुण तत्त्व भी सकल हो उठता है। और यहीं, इसी जगत् में रहते हुए ही उसका जगत् अपने में होने वाले क्षण प्रतिक्षण नए उन्मेषों के कारण रमणीयता या सौन्दर्य में पलट जाता है। कविदृष्टि के आगे रमणीयता या सौन्दर्य का यह नित्य नर्तन अनन्त कलारूपों में अखण्ड संबोधों में जाग्रत् हो उठता है। वह उसी के अधीन होकर या उसी में तन्मय होकर जीता है। अतः एकत्व में अनेकत्व का संचार करने वाली, भू धातु को भव में परिणत कर देने वाली, निष्क्रिय को गति देने वाली पराशक्ति की इस लोक में अभिव्यक्त क़ला को स्त्री कहना चाहिए। संस्कृत भाषा में स्त्री शब्द की व्युत्पत्ति में कहा जाता है कि यह शब्द 'स्त्य' मूल के आगे ड्रप् और ङीप् प्रत्यय लगाकर बनता है। मूल 'स्त्य' का अर्थ है पहले व्यर्थ को समेट कर एकत्रित करना (यानि आकर्षण करना)। फिर उस

एकत्रित पुञ्ज को क्रम से फैलाना या विखेरना। वैसे "स्तृ" धातु का अर्थ भी विस्तार देना ही है। वेदान्तियों की माया–सम्बन्धी इस धारणा का क्या होगा यदि हम स्त्री को ब्रह्म की बृंहणशील विस्तारयित्री शक्ति मान लें। यदि हम ब्रह्म के बृंहण या विस्तार को अविद्या ही मान लेंगे तो यह ब्रह्म मात्र अविद्या के और कुछ नहीं रह जाएगा।

वस्तुतः स्त्री–कला के सृष्टि में दो ही मुख्य कार्य नज़र आते हैं। एक तो आकर्षण करना दूसरे विकर्षण करना। इनमें भी दूसरा रूप मातृत्व के अन्तर्गत आता है जिसके माध्यम से ब्रह्म की "एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय" वाली संकल्पना पूरी होती है। स्त्रीत्व का जो आदि रूप है वह है आकर्षण करना। देह और काम के स्तर पर भी इसी भाव की प्रबलता को देखते हुए संस्कृत–कोषकारों ने स्त्री शब्द के "स्त्य" मूल का अर्थ "स्त्यायेते शुक्रशोणिते यस्याम्" अर्थात् जिसमें वीर्य और रज का पहले सम्पुञ्जन फिर विकिरण होता है। अतः स्त्री का प्रथम रूप या आदि रूप चरम आकर्षण का है जिसको वैष्णवों ने भगवान् की अन्तरंगा शक्ति कहा है। जो धारारूप प्रवाह या लोकमातृत्व के रूप में आने से पहले राधा हैं। स्वयं भी कृष्ण–पुरूष के प्रति आकृष्ट हैं, और उसको आकर्षित कर भी रही हैं। पर जब कृष्ण भी आकर्षक हो जाते हैं तो राधा ही हो जाते हैं। देहस्तर पर भी वे मोहिनीरूप ही हो जाते हैं। चाहे असुरों के चंगुल से अमृत आकृष्ट करना या छीनना हो, चाहे शिव की सोमकला से जमकर बर्फ हुए शुक्र को धरती पर प्रवाहित करना हो, विष्णु को अपनी कामाकर्षिणी कला से वामा या मोहिनी स्त्री बनना ही पड़ेगा। यह आकर्षण–शक्ति या सौन्दर्य आराधना या तप से प्राप्त है। भगवान् ने भी तप किया और भगवती ने भी। उसने तप में उसकी आराधना की उसने उसकी। फलतः दोनों ही एक थे एक हो गए। इस स्थिति का साक्षात्कार करने वाले वैष्णव कवि के मुख से अकस्मात् बोल फूट पड़ा –

"राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई।।"

मानव–चेतना के स्तर पर से लेकर भौतिक सृष्टि के स्तर तक अर्थात् चन्द्र, सूर्य, वन, पर्वत, नदी, नाले, तृण, अणु, परमाणु सब में राधामाधव की ही भेंट हो रही है। आकर्षण ही आकर्षण, फिर कर्षण और विकर्षण। आगम–शास्त्र ने सृष्टि के प्रत्येक स्तर पर चल रही इसी लीला को अनुभूत कर भगवती को अनेक नामों से संबोधित करते हुए उसको कामाकर्षिणी ही नहीं बुद्ध्याकर्षिणी, अहंकाराकर्षिणी, रसाकर्षिणी, स्मृत्याकर्षिणी, नामाकर्षिणी, बीजाकर्षिणी नामों से भी उसे अभिहित किया है। उपनिषद् की शैली में कहा जा सकता है कि यह आकर्षण ही तो सब कुछ है। यह विश्व उसी का उपव्याख्यान है। "कृष्णोपनिषद् में कहा गया कि भगवान् विष्णु को देवता–समुदाय ने आकृष्ट होकर वैकुण्ठ में कहा कि हम आप से आलिंगन

करेंगे। उन्होंने कहा– अभी जरा रूको। तुम लोग ब्रजभूमि में गोपिकाओं के रूप में जाकर उतरो। फिर यह मिलन–विरह का खेल होगा।" कृष्ण ने धरती पर सब देवताओं का आकर्षण कर लिया। यह कृष्ण कौन था? भक्तों में अभी भी बहस है कि यह कृष्ण वृन्दावन में राधा से अतिरिक्त कुछ और तत्त्व नहीं। और वैकुण्ठ में यह विष्णु परमेश्वरी ललिता से भिन्न भी कुछ नहीं। यह बात बढ़ते–बढ़ते यहां तक बढ़ गई कि आकर्षण का मूल क्योंकि सौन्दर्य एवम् लालित्य है, और वह सौन्दर्याकर्षण स्त्री पद का वाच्य अर्थ है। अतः पौराणिकों एवम् मूर्तिकारों ने विष्णु एवम् शिव को अखण्ड एवम् अक्षय सौन्दर्य का प्रतिमान मानते हुए सदा के लिए दोनों की दाढ़ी मूंछ आदि पौरूष चिन्हों का अपहरण कर लिया। दोनों को चिरकुमार बना दिया। वे दोनों ही भाव–पुरूष हैं। संभवतः कलाविदों ने मानव–मन में व्याप्त पितृबिम्बों को जीवित रहने देने के लिए ही छूट दे दी हो।

स्त्री–तत्त्व को सृष्टि की श्रेष्ठतम कला मानते हुए आगमाचार्यों ने विधान किया है कि "सर्वं शाम्भवीरूपम्"। सब जगत् शांभवी अर्थात् शभुंस्त्री का ही रूप है। अतः कौलमत की आचारमीमांसा में चेतावनी दी गई कि "स्त्रीन्न निन्द्यात्" अर्थात् स्त्रीलोक की निन्दा न करें। मनु आदि धर्मशास्त्रकारों को भी यदि विकृत किए बिना, अपने स्व में स्थित होकर देखा जाए तो स्त्रीत्व की गरिमा को वहां भी मुक्तहृदय से स्वीकार किया गया है। स्त्री के स्थान पर 'जामि' शब्द का प्रयोग करते हुए मनु कहते हैं कि ये जामियां (स्त्री, माता, पुत्रवधू, पुत्री, बहिन आदि) अनादृत होकर जिन घरों को शाप दे देती हैं वे कुल सम्पूर्णरूप से नष्ट हो जाते हैं। अतः वे सदा ही पूज्य हैं। स्त्री के रोचमान अर्थात् प्रसन्न होने से ही सारे कुल में प्रसन्नता रही है। (दे. अध्याय 3 श्लोक 56–62)।

किन्तु समाज में परिवर्तनशील उपयोगितावाद के स्तर पर जैसे प्रत्येक विचार या धारणा विडम्बित होती है कुछ वैसी ही विडम्बना इस स्त्री–सम्बन्धी धारणा के साथ भी उतरवर्ती काल में हुई। कुछ एक ऐतिहासिक कारणों से ही विकृत चिन्तन इस रूप में उभरा कि दर्शन, स्पर्शन और मैथुन में पुंशक्ति का सर्वथा अपहरण करने के कारण नारी को प्रत्यक्ष राक्षसी तक कहा। मध्यकालीन सन्त भी अपनी परम्परा से विच्युत होकर कुछ समकालिक रूढ़ि के विकृत प्रभाव के कारण पतनशील समाज में किसी प्रकार पतनशील रूढ़ियों का आश्रय लेकर जीने लगे थे। और वैसे भी स्वरूप–चिन्तन की समाप्ति और रहस्यवादी गोपनीय प्रवृत्तियों का उदय मध्यकाल की पृष्ठभूमि में पनपना शुरू हो गया था। अन्यथा वैदिककाल की पुरन्ध्रि योषित् का स्थान भारतीय लोक में कम कमनीय नहीं रहा होगा। आज भी पूंजीवादी या समाजवादी व्यवस्थाओं में स्त्री और पुरूषवाली बात तो गौण हो गई है। क्योंकि दोनों ही व्यवस्थाएं मूलतः अर्थ–सीमित हैं। अर्थ–प्रधान हैं। जीवन के अर्थ खोलना उनके बस की बात ही नहीं। अतः वहां यदि स्त्री को नौकरी, पद या

आर्थिक सुविधा देकर उसको उपलब्धियों का घृणित माध्यम या व्यावसायिक साधनमात्र ही बना लिया जाता है तो वहां स्त्री–तत्त्व आज भी उतना ही उत्पीड़ित है। भले ही प्रचार कैसा भी होता रहे।

प्राचीन परम्परा में कुछ शाक्तों और वैष्णवों के आगे ये धाराएं पूरी तरह से खुलीं। शैवों में कालिदास ने स्त्रीतत्त्व का जो ध्यान किया तो उसे लगा कि शकुन्तला का सौन्दर्य और आकर्षण प्रत्येक युग की अपनी उपलब्धि तो है ही। पर शकुन्तला के भी अखण्ड तप एवम् पुण्यों का फल ही नारी देह के रूप सें आविर्भूत हुआ है। हिमपुत्री पार्वती के प्रकरण में कालिदास ने स्त्रियों की चारूता की बात करते हुए कहा कि सौभाग्यरूप फल को प्राप्त करना या प्रिय को आकृष्ट कर लेना ही चारूता का लक्षण है। वैष्णवों में चण्डीदास और विद्यापति 'स्त्री' की इस रूपाकृष्टि को देख पाए तो प्राणों में ऐसी ज्वाला भर गई कि बुझ ही न सकी–

"जनमि जनमि भर रूप निहारिल
अजहूं न तिरपित भेल"

समाज में, व्यवहार में लोगों ने इस स्त्रीत्व को चाहे जैसे भी समझा हो किन्तु पुण्यशील चेतना वाले संवेदनशील महात्माओं को स्त्रीत्व का साक्षात्कार हुआ तो उन्हें पता चला कि सृष्टि के मूल में तत्त्व रूप एक ही स्त्री है, जो आकर्षण भी करती है विकर्षण भी। वह केवल लिंगों तक सीमित नहीं। अतः स्त्रीसमुदाय के प्रति मार्कण्डेय मुनि की यह श्रद्धा एवम् अभिनन्दन मिथ्या औपचारिकता नहीं –

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियःसमस्ताः सकला जगत्सु ।।[2]

वस्तुतः सारी प्राचीन दृष्टि में एक बात अवश्य परिलक्षित होती है कि तत्त्व के रूप में तो स्त्री का सर्वत्र अभिनन्दन ही हुआ है। किन्तु व्यक्ति स्त्री के रूप में उसमें गुण और दोष वाली दृष्टि को यथार्थ मानकर पक्ष और विपक्ष में दोनों तरह की बातें कही गई जाती रहीं।

---

1. पुरंध्रिः – पुरं गेहस्थजनं धारयति पुरंध्रिः।
   "पुरंध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति"। उत्तर रामचरित 4–12

2. अर्थात् हे देवि ! समस्त विद्याएं और जगत् की समस्त स्त्रियां तुम्हारे ही अनेक रूप हैं। दे० दुर्गासप्तशती 11–6

रूद्र से साक्षात्कार

अत्यन्त प्राचीन काल से इस देश के धरातल पर जहां एक ओर अनेक सरिताओं के समूह को साथ लेकर गंगा जैसी महानदी प्रवाहित होती आई है उसी प्रकार यहां लोकचेतना के धरातल पर ब्राह्मण–चिन्तन की धारा प्रवाहित हुई है। यह धारा जहां वैदिक काल में संभूति और असंभूति, विद्या एवं अविद्या, ऋत एवं सत्य के दोनों किनारों को अपनी दांई बांई मुठ्ठियों में बन्द करके बहती हुई दृष्टिगत होती है ठीक उसी प्रकार यह धारा देश काल एवम् आकार के भेद से धर्मशास्त्रों, पुराणों एवम् तन्त्रों में क्रमशः स्वार्थ एवम् परमार्थ, ईश्वर एवम् जगत्, योग एवम् भोग के साथ एक साथ आत्मीयता स्थापित करके प्रवाहित होती आ रही है।

ब्राह्मण शब्द वस्तुतः हिन्दुओं में सत्य, त्रेता, द्वापर एवम् कलि चारों युगों में श्रेष्ठतम, महनीय, विश्वात्मक, एवम् आर्य मानसिकता के लिए सदा प्रयुक्त हुआ है। फिर जिन लोगों ने सृष्टि के सार इस परमसत्य को अपने एवम् लोकजीवन में अवतरित करने का सत्य संकल्प किया वे लोग भी ब्राह्मण कहलाए। वैदिक साहित्य में मन्त्रसंहिताओं का सार एवम् विस्तार जिन ग्रन्थों में प्रस्फुटित हुआ वे ग्रन्थ भी ब्राह्मण भाग का ही चरम उत्कर्ष हैं। ऋग्वेदोक्त पुरूषसूक्त के अनुसार देखा जाए तो यज्ञ के माध्यम से परमसत् जब प्रादुर्भूत हुआ तो ब्राह्मण उसका मुख था।

इस प्रकार ब्राह्मण एवम् वैदिक साहित्य पर्यायवाची शब्द बन गए और समस्त हिन्दु–परम्परा इस अनन्त काल–परम्परा एवम् विराट विस्तार में एक क्षण के लिए भी यह कल्पना नहीं कर सकती जब ब्राह्मण इस सृष्टि में न हो। क्योंकि ब्राह्मण इस सृष्टि के सत्ता, चेतना एवम् आनन्द के परमस्रोत ब्रह्म की ही उपासना करता है उसी में निवास करता है, अतः ब्रह्म ही हो जाता है। क्योंकि वह नितान्त उस ब्रह्म का, जो पवित्र ज्ञान है, आस्तिकता है, सृष्टि का उन्मेष है, उसी का होकर रह गया है। शेष लोग जो उस ब्राह्मण को आधार मानकर बल वीर्य, ऐश्वर्य–समृद्धि, विज्ञान एवम् कला की सर्जना करने लगे वे लोग क्षत्रिय क्रमशः वैश्य एवम् शूद्र कहलाने लगे। ब्राह्मण इन सबका आधार होने के कारण अथवा इन सब की अपनी अपनी श्रेष्ठता मात्र होने के कारण इन सब की सर्जना एवम् उपलब्धियां भी ब्राह्मणत्व में ही अन्तर्भूत हो गईं। परवर्तीकाल में सामाजिक एवम् आर्थिक वैषम्य के कारण ब्राह्मण चेतना या वैदिक चेतना के बाह्य स्तरों पर जो भी दोष उभरे उन को लक्ष्य करके जो क्षत्रियचिन्तन प्रवृत्त हो रहा था उसकी परिणति अन्ततः बुद्ध एवम् जैन महावीर के शिष्यों में वैदिक साहित्यचेतना को नकार देने के रूप में हुई। क्योंकि वैदिक चेतना एवम् ब्राह्मण चेतना एकीभूत थे। उसे वे अलग नहीं कर पा रहे थे।

कालक्रम से जैसे जैसे ये परवर्ती चिन्तनधाराएं ब्राह्मण के प्रति काफी बड़े जन–समुदाय की प्रतिक्रिया के रूप में जब उभरीं तो बहुत गहरी थीं। तो भी बहुत से लोग बुद्ध–लहर के सामने लगभग 1000 वर्ष तक खड़े प्रतीक्षा करते रहे कि यह लहर कुछ न कुछ सौम्य, महनीय एवम् अप्रतिम गरिमा छोड़ जाएगी। इस बीच में ब्राह्मण एवम् ब्राह्मणेतर विचारधाराओं के ऊपरी संघर्ष से भी दर्शन, साहित्य कला एवम् विज्ञान के क्षेत्र में अपरिमेय सिद्धि इस देश को ही क्या विश्व को प्राप्त हुई।

गुप्तकाल के आते ही यह लहर प्रायः अपना अतिवादी एवम् दुःखवादी रूप समेट कर उतरने लगी। फलतः इस लहर के साथ आए मणिमुक्ताओं को समेटकर ब्राह्मणचेतना फिर से भागवत धर्म एवम् शैवचिन्तन के रूप में जाग उठी। महायान मत का उदय भंग्यन्तर से बौद्ध चिन्तन एवम् अन्य भारतीय मतों को आत्मसात् करके ही हुआ था। अतः यह विचार–लहरी हीनयानी दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक व्यापक होती गई। अन्ततः सातवीं आठवीं शताब्दी तक अध्यात्म, कला साहित्य एवम् विज्ञान के सभी क्षेत्रों में ब्राह्मण विचारधारा अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादन करती जा रही थी। कालिदास जैसे शैव कवि का उदय, आर्यभट्ट एवम् वराहमिहिर जैसे भौतिकी एवम् नक्षत्रविद्या के प्रकाण्ड विद्वानों का नूतन सिद्धान्त–प्रतिपादन, बड़े बड़े बौद्ध विद्वानों को अपनी उपलब्धियों से प्रभावित कर रहे थे।

जो लोग केवल यह समझते हैं कि ब्राह्मणधर्म केवल कर्मकाण्डपरक रूढ़िवादी परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करता है वे लोग पूर्वाग्रह के कारण उस महान् परम्परा की उपलब्धियों को अपनी आंखों से ओझल कर देते हैं। अन्यथा सत्य यह है कि ब्राह्मण–विचारधारा प्रत्येक काल में अपने ही भीतर से उठी विकृतियों या प्रतिक्रियात्मक विचारधाराओं के साथ जूझी है और फिर कभी उसने अपने को स्वस्थ किया तो कभी अपने ही भीतर से उठी चिन्ताधाराओं को स्वस्थ किया। उसमें कभी नैराश्य नहीं आया। क्योंकि जीवन की शाश्वतता पर उस की आस्था और वह उसी का सर्वत्र प्रतिपादन करती है। दूसरी पद्धतियां जो जीवन की नित्यता में विश्वास नहीं रखती थीं अनित्यता एवम् शून्य का प्रतिपादन करती थीं वे उसी में समा गईं।

शैवदर्शन वस्तुतः उसी वैदिक ब्राह्मण–धर्म का छठी सातवीं शताब्दी में प्रतिनिधि बन कर उठ खड़ा हुआ मूल रूप था। उसकी समरसता, आनन्द एवम् समन्वय वह प्राचीनतम स्वर था जो वैदिकों में समन्वय का प्रतीक 'मधु' था। और यह 'मधु' गतिशील एवं निरन्तर जागरूक व्यक्तियों का प्राप्य था। कर्मयोग एवम् सांख्ययोग में बौद्ध अथवा अन्य विचारधाराओं के कारण जो गतिरोध पैदा हो गया था वह इसमें दूर हो गया था। वैदिकमधु जो यज्ञ करने वालों को हवाओं में, समुद्रों में, नदियों में तैरता दिखाई देता था वही शैव दर्शन में "सर्वं शिवमयं यतः" में

प्रस्फुटित हुआ। इससे बहुत पूर्व ऋग्वेदकाल और यजुर्वेदकाल में रूद्र का बभ्रुवर्ण, आरक्त वर्ण एवम् उग्र रूप को शिवत्व में पर्यवसित करने के लिए वैदिक चेतना सचेष्ट एवम् सफल प्रयास कर चुकी थी। रूद्र के भारतीय रूप को यदि इस दृष्टि से देखा जाए कि जीवन में उत्कटता एवं उद्दण्ड शक्तियों का उदय वीर्यवत्ता वा प्राणवत्ता का वह अत्यन्त स्पृहणीय रूप ही नहीं है, उसमें तमस् या मृत्यु के अन्दर सोई हुई जीवनीशक्ति द्वारा अपने गुरू आवरण का उग्र विस्फोट अराजकता का ही सूचक है जिसके बगैर जीवन का पदसंक्रमण हो ही नहीं सकता। अतः यह विस्फोट अत्यन्त ही उग्र, विद्रोही एवम् भयावह एवम् प्रचण्ड रजस् तत्त्व का ऐसा रूप है जिसके चेहरे पर अपने ही आवरण के ध्वंस की राख एवं चिथड़े चिथड़े हुए तमस् की बिखरी अस्थियों का श्मशान एवं लहू में स्नान के छीटों की बहुलता ही उसका अभिषेक है। इस रहस्य को आप मातृगर्भ में स्थित शिशु के उन दोनों रूपों को सामने रख कर समझ सकते हैं। प्रथम रूप में गर्भ–स्थिति एवम् भ्रूण के संरक्षक जरायु का अधिक से अधिक दृढ़ होना अत्यन्त आवश्यक, फिर प्रसवावस्था में शिशु का किसी समय अपने रक्षक रहे उस जरायु एवम् गर्भस्थिति से पूर्ण विद्रोह करके उसे भेद कर रक्तस्नात होकर प्रकट होना तथा चारों तरफ के ही रक्तालुप्त भयानक प्रसूतिगृह में श्मशान का सा दृश्य, जिसे देखने से साधारण चित्त वाले लोगों को वर्जित किया जाता है।

यह सारा घटनाचक्र रूद्र के ही उस महोग्र एवम् उद्दण्ड रूप का परिचायक है जो अपने चतुर्दिक् फैले अमंगलरूप श्मशान में मंगल रूप शिव के रूप में तब पूर्णतः स्थित होता है जब संस्कारित होता जाता है। मिट्टी पत्थर आदि सकल जड़ सृष्टि को छोड़कर जीवन का वहन करने वाली मानव आदि पूर्ण चेतन, एवम् तरू–लता तथा पशु आदि अर्धचेतन सृष्टियों में यही प्रक्रिया विराज रही है। श्मशान में भस्मविभूषित, चन्दनचर्चित, सर्पवेष्टित, विषचिह्नयुक्त रूद्राक्षधारी रूद्र का स्वच्छ एवम् संस्कारोपेत होकर मुस्कुराता हुआ रूप ही शिव है। संक्षेप में, त्रिशूलधारी एवम् त्रिकोणस्थ योनि में स्थित शिव का योनि या त्रिक धारण करने का यही रहस्य है कि प्राणतत्त्व स्पन्दनरहित अवस्था में, गतिहीनता की दशा में इसलिए सुप्त है कि वहां वह धीरे धीरे गति को प्राप्त करने के लिए शक्ति संचय कर रहा है। इस दशा में तमस् उसका महान् उपकारक है, एवम् उसे पूर्ण सन्नाटा प्रदान करता है ताकि उसे गति के लिए शक्तिसंचय करने में बाधा न पड़े। जैसे ही वह शक्तिसंचय कर लेता है तो दूसरी दशा जो पूर्ण विक्षोभ एवम् घोरातिघोर विक्षेप की है उसमें तमस् की नीरवशान्ति में महोग्र विस्फोट के साथ ऐसे महानाद का उदय होता है जो सम्पूर्ण तमस् के भग्न खण्डों के रोम रोम में व्याप्त होकर दहाड़ता है, रोता है, रूलाता है। परेशानी और बेचैनी का यह रूप ही रूद्र है यह प्राचीन ब्राह्मण साहित्यकारों का अपरोक्ष मत है। यह बात नैरूक्तों को भी पता थी और सायण को भी। यह अशौच

की अवस्था थी।

यही रूद्र धीरे धीरे अब परिमार्जन के साथ एक ऐसी शान्त अवस्था की ओर बढ़ रहा है जिसमें उग्रता एवम् विक्रान्त प्रचण्डता स्वयम् अपना संस्कार कर रही हैं। अब शरद् की निर्मलता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। महाउग्रनाद जो पहले महाराव (ध्वनि) के रूप में उठा था अब श्रवणसुभग संगीत एवम् किंकिणीनिनाद में परिणत होता जा रहा है। पहले जो विध्यात्मक शक्तियां थीं वह अब निषेधात्मक होती गई हैं। सर्वत्र ओंकार जैसी नई विध्यात्मक ध्वनियों का उद्गम हो रहा है। देवता, ऋषि, ब्राह्मण सब के देखते देखते रूद्र का रूद्रत्व मरता गया एवं मरता जा रहा है। उसके स्थान पर नवनवोदित सत्व के उद्रेक के साथ शिव उभरता जा रहा है। जो पहले महा असुर था उसने स्वयं ही अपने असुरत्व को उतार कर देवत्व को धारण कर शास्त्रीय नृत्य कला, संगीत, वेद, वेदाङ्ग, दर्शन आदि चतुर्दश विद्याओं को अपने उच्छ्वासों से अभिव्यक्त किया और निश्वासों में उसे आत्मसात् कर लिया——

यस्य उच्छ्वसितं वेदाः यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्
निर्ममे तमहं वन्दे मायातीर्थं महेश्वरम्।।

अर्थात् जिसकी उसांसों में से वेद प्रकट हो रहे हैं और वेदों में से जो जगत् को प्रकट कर रहे हैं ऐसे उस मायातीत महेश्वर को नमस्कार।

अब शिव ऐसी स्थिति में आ गए हैं कि किसी गजासुर जैसे निरीह आत्मदानी भक्त के कहने पर उसका मन रखने के लिए अपनी अनन्त शून्या दिगम्बरता को गजचर्म से ढांपने को भी राज़ी हो गए हैं। और पार्वती सरीखी अनुपम साधिका के आग्रह पर उसे अनन्त काल तक के लिए अपने साथ अभिन्न बनाने को भी राज़ी हो गए हैं। देवताओं ने जो मांगा देवताओं को दे रहे हैं। असुरों ने जो मांगा असुरों को मिला। ऋषियों और मानवों ने जो मांगा उन्हें मिल रहा है। सभी अपना अपना अहम् देकर जा रहे हैं और आनन्द लेकर आ रहे हैं। सभी कृतकृत्य हो गए हैं। अतः सभी शिव हो गए हैं। ऋग्वेद के ऋषि गा रहे हैं – 'पुरूष एवेदं सर्वं यद्भूतम् यच्च भाव्यम्"। यजुर्वेद के ऋषि 'इदम्' से उठकर मनस् में 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' गा रहे हैं। सारा भारतीय साहित्य, कला, विज्ञान स्वयं को शिवरूप मानता है। उस शिव ने जो उपदेश तन्त्र एवं आगम के रूप में कैलास पर पर्वत–पुत्री पार्वती को सुनाए वे मस्तक–गंगा के रूप में पूर्वी समुद्रों तक फैलते चले गए। उसी महाशिव का वह नृत्य जो मीनाक्षी आदि महादेवियों एवम् राम और तिरूपति आदि महादेवों के सान्निध्य में प्रकट हुआ वह नृत्य, नाट्य आदि के रूप में सर्वत्र स्फुरित हो रहा है। हर नगर हर गांव में शिव शक्ति के साथ पधारे हैं और पधारते हैं तथा पधारते रहेंगे। तब एक शैव का मन शिव को छोड़कर अन्य किसको कहां पर देखे "सर्वं शिवमयम् यतः"।

अतः शैवों का ध्येय मन्त्र "तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" ही बन गया।

इस महती शैव दृष्टि का विकास इस भूखण्ड पर कोई आर्यों अनार्यों के संघर्ष आदि की भ्रान्त कल्पना के आधार पर मानना एक ऐसा दिभ्रम है जहां से लौटना बहुत लोगों को मुश्किल हो रहा है। कालातीत तत्त्व के आधार पर काल की व्याख्या करने वाली दृष्टि की व्याख्या कुछ अनन्वित एवम् इधर उधर छिटके तथ्यों के आधार पर या छोटी सी ऐतिहासिक घटनाओं के साथ तुक मिलाना असंगत हैं। बाहर के अन्य देशों में भी तो रंग बिरंगी संस्कृतियों का मिलन और वियोग एवम् संघर्ष होते रहे हैं। किन्तु वहां तो ऐसी दृष्टि का विकास नहीं दृष्टिगोचर होता। यह दृष्टि विशुद्ध रूप से ऋषिपरम्परा का आत्मप्रसाद मात्र है। परामानसी दृष्टि का प्रतिफलन है। अनन्त इतिहास का क्षण में साक्षात्कार है।

हिमालय में योगसाधना एवम् बौद्ध पृष्ठभूमि

मानवमात्र को ही अनादिकाल से एक ऐसे सुख की खोज रही है जो क्षुद्र न हो तथा अल्प न होकर महान् हो, अखण्ड हो एवम् जिसके पहले एवम् बीच में और अन्त या परिणाम में किसी भी प्रकार के अनिष्ट या क्लेश का स्पर्श न हो। आज के सन्दर्भ में विज्ञानशक्ति की विभिन्न विद्याएं मनुष्य की अनादिकाल से चली आ रही खोज की संपूर्ति के लिए दिनरात एक अनवरत प्रयत्न में लगी हुई हैं क्योंकि विज्ञान का इतना बड़ा प्रसार और ऐसी उपलिब्ध मानवता के प्रत्यक्ष ऐतिहासिक युग में कभी हुई ही नहीं। अतः नए इतिहासविद्यावेत्ताओं ने इस युग को अतीत की तुलना में सर्वाधिक विकास का युग मान लिया है तथा इस युग को बड़ी उपलब्धियों का युग स्वीकार किया है।

विश्व के दो महायुद्धों की विभीषका तथा तीसरे विश्वयुद्ध की संभावना से आतंकित आधुनिक मानव भौतिक संपदा के कुछ लोगों या महावर्गों के पास संचित होने के बावजूद अपनी भीतरी विषमताओं के कारण अपने को कतई सुरक्षित नहीं अनुभव कर पा रहा है। अतः प्रश्न वहीं खड़ा है जहां वह पहले था। विज्ञान ने जिस प्रकार आज भौतिक विद्याओं एवम् प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अपने शक्ति के साधनों स्रोतों को नई नई उपलब्धियों के क्षेत्र में जैसे झोंका है वैसे ही किसी समय भारत में बसने वाले समस्त मानव समुदाय ने अपने लक्ष्य को साधने के लिए भौतिक एवम् पराभौतिक जीवन के बीच के सम्बन्धों की खोज के लिए अपनी सारी मानसी एवम् परामानसी भौतिक एवम् आध्यात्मिक शक्तियों को हिमालय द्वारा प्रदर्शित योगविद्या के प्रयोगों के क्षेत्र में झोंक दिया था। और हजारों वर्षों की साधनाओं के फलस्वरूप यह घोषित किया कि *"नास्ति योगसमा विद्या नास्ति योगसमं बलम्"।।* भौतिक यांत्रिकी की अपेक्षा मानव की आन्तरिक चेतना की यांत्रिकी या मंत्रविद्या की मस्तिष्कीय क्षमता को परावैज्ञानिक मानते हुए ऐसा प्रबन्धन किया कि हिमालय के हिमशिखरों से पिघलकर जाता हुआ पानी केवल मिट्टी और पानी लेकर ही भारत के मैदानों में न जाए अपितु उसकी प्रत्येक धारा में विज्ञानवाद का प्रवाह और मिट्‌टी के प्रत्येक कण में देवचेतना की प्रतीक मूर्तियां या लिंगप्रतिमाएं तथा नदियों का नाद भी मन्त्रगान का रूप साथ लेकर जाए। फलतः प्रत्येक परमाणु के एक साथ तीन तीन आयाम उभरकर सामने आए–स्थूल पार्थिव, सूक्ष्म ज्ञानात्मक एवम् शुद्ध चैतन्यरूप। तीनों का ऐक्य सम्बन्ध या अन्वय कुछ ऐसा था कि उसे संबन्ध न कह कर 'योग' कहा गया। इसी योग को केंद्र बनाकर भारत के मनीषी लोगों ने मानव के सुख की उस

परिकल्पना को प्राप्त कर अपने लोगों के बीच बांट दिया जो जीवन के उद्वेगों और रोगी आवेगों से परे ले जाकर सहज संस्कृति की जीवनधारा को जन्म दे सके।

सामान्यतः योग पद का प्रयोग भारत में 'धर्म' पद की तरह अनेक अर्थों में हुआ है। किन्तु मुख्य रूप से भारतीय चिन्तनधाराओं एवम् दर्शनों में योग के दो रूप ही प्रकट हुए। यहां के तार्किकों ने योग को संयोग पद का पर्यायवाची मानते हुए उसे पदार्थों का ऐसा गुण माना जो दो अप्राप्त या अलग थलग पड़ी वस्तुओं की प्राप्ति या मिलन का उपाय बन सके–*अप्राप्तस्य प्रापणं योगः।* स्थूल रूप में तो यह जुड़ना या मिलना सतही एकत्रीकरण के अर्थ तक ही सीमित होकर रह जाता है, किन्तु अपने चरमरूप में यह योग एक ऐसा रासायनिक मिलन है जो नंए से नए पदार्थों की सृष्टि या रचना करता चलता है। यह योग की पद्धति भारत की प्रत्येक क्रिया में एक दर्शन बनकर व्याप्त हो गई। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, नादयोग, हठयोग, लययोग आदि कई विद्याओं का रचनात्मक रूप लेकर प्रकट हुई। इन विद्याओं के प्रवक्ता एवम् आचार्य हिमालय के अधिष्ठाता शिव और शक्ति हुए। शिव जब अपनी निर्गुणता या अचिन्त्य लोकोत्तरता की अवस्था में सगुणता या शक्ति का समयोग या समरसता का अनुभव करते हैं तो योग की प्रथम भूमिका बनती है या एक अत्यन्त ही गहन एवम् आन्तरिक सम्बन्ध का उदय होना। जब शिव चैतन्य शक्ति से सौन्दर्य से पूर्ण हो उठता है तो उसे अंग्रेजी में "Energised consciousness" कहा जा सकता है। और जब शक्ति शिव से प्रेरित होकर स्वयं को गर्भित अनुभव करती है तो वह शिवरूप होकर conscious energy के रूप में अभिव्यक्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति–पिण्ड में एक ही तत्त्व आरम्भिक प्रक्रिया के रूप में स्वयं को दो भागों में विभाजित किए हुए है जिसे चैतन्य और शक्ति अथवा शिव और जीव कहा गया है। शक्ति का या जीव का शिव की ओर सहज आकषर्ण सौन्दर्य–सृष्टि के लिए है जिसका दूसरा अर्थ है मानवीय जीवन में आनन्द का प्रकट होना। द्वैत (duality) की कल्पना के बिना आनन्द की सृष्टि नहीं हो सकती। इसलिए रसिक दार्शनिक ऐसे द्वैत की कल्पना पर बहुत गौरव अनुभव करते हैं जो लीला ;या`चवतजव्द्व के लिए खड़ा कर लिया गया हो। अतः हिमालय की काश्मीरी परम्परा के आचार्य अपनी योग की परम्परा को विज्ञानवादी या पातजंल योग की परम्परा से सर्वथा पृथक् करके अपनी परिभाषा देते आये हैं कि जीव और आत्म का मिलन अथवा भौतिक पिण्डों में शिवचैतन्य और जीवचैतन्य का एक दूसरे को प्राप्त होना ही योग है–

"ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः,
शिवात्मनोरभेदेन प्रतिपत्तिः परे विदुः ।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञानं जगुरागमवेदिनः"
(शारदातिलकम् 25-12)

भारतीय योग की चिन्ताधारा का एक विलक्षण स्वरूप हमारे सामने आता है जो यहां के लोगों के सामाजिक रीति–रिवाजों में लोक–जीवन के साथ एकमेक हो गया है। किन्तु हमारे अधिकांश समाजशास्त्री भारतीय रीति–रिवाजों का गणित तो प्रस्तुत कर देते हैं किन्तु उन प्रथाओं के पीछे दृष्टि क्या है इसका विश्लेषण नहीं दे पाते, क्योंकि उनकी दृष्टि पाश्चात्य समाजशास्त्र के मॉडल या मानदण्डों का अनुकरण करके चलती है। भारतीय जीवन पद्धति में स्त्री–पुरुष के सम्बन्धों की परिकल्पना का मूल क्या है? इस दिशा में भारत के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा हिमाचल की देवमानवी पृष्ठभूमि ने क्या दिया है? सन्तानों की सुख समृद्धि की परिकल्पना क्या मात्र बायोलॉजिकल या देहप्राणात्मवाद तक ही सीमित है या उससे आगे भी दूर तक जाती है? यह जो जानता है वही भारतीय समाज के आन्तर जीवन को समझ पाएगा। हिमगिरि की महिमा पर स्वयम् की प्रतिभा को न्योछावर कर देने वाले कालिदास सन्तानसम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसका बहुत ही मार्मिक आयाम प्रकट करते हुए कहते हैं – कि स्त्री–पुरुष के अन्तःसम्बन्धों के प्रकाश या दीप्ति का सम्पुंजित प्रत्यक्ष प्रमाण तो सन्तान ही है जिसमें दोनों का परिणय प्रेम देह, मन, प्राण, विज्ञान और आत्मा के स्तर पर साक्षात् योग बनकर प्रकट हुआ है (रघुवंश 3-4)। अपने उस ऐक्य की प्रत्यक्ष मूर्ति को देखकर पतिपत्नी के आपसी सम्बन्धों में विभाजन नहीं, अपितु और दृढ़ता बढ़ती चली आती है। अन्तर केवल इतना ही पड़ता है कि प्रेम की प्रगाढता की प्रक्रिया बदल जाती है। दो तत्त्वों के बीच में उठी आपसी प्रगाढ़ता से उत्पन्न तीसरा सन्तान तत्त्व देखने में भले ही दो का विभाजन लगे, किन्तु उसके आने से पति–पत्नी का प्रेम उस आविष्कार के माध्यम से मन्द नहीं पड़ता अपितु और गुणित या गुना होने लगता है। इसलिए शिव–शक्ति के समायोग की अभिव्यक्ति रूप यह जगत् मिथ्या नहीं हो जाता, अपितु आनन्दमयी लीला का स्फुरण बन जाता है।

अतः हिमालय के परिवेश से उठकर आया जीवन का योगदर्शन शिवशक्तिमूलक होने से भारतीय अध्याम से जुड़ा होने से भारतीय अध्यात्मविद्याओं में अपना एक अलग ही अनुपम स्थान बना लेता है। आम आदमी के जीवन का यथार्थ बन जाता है। जब कि सांख्य–दर्शन से उद्भूत योग प्रकृति की प्रत्येक कृति को दुःखमयता और बन्धनमूलक क्लेश की दृष्टि से देखता है। प्रकृति के सत्त्वगुण से उदय होने वाले सुख या आनन्द को भी दुख की पूर्वपीठिका ही मानता है। जिसका परिणाम प्रेमानुभूति की बजाए एकाकीपन या अकेले होने के प्रयास में प्रकृति–पुरुष के विच्छेद एवम् दुःखवादी वैराग्य में बदल जाता है। स्त्रीपुरुषों के अन्तःसम्बन्धों को संशय की दृष्टि से देखने लगता है। आधुनिकतावादी पश्चिमी समाज से आने वाली मानसिकता अपने सम्बन्धों में

इसी प्रकार की कुछ कुछ आत्मकेन्द्रिक दृष्टि के कारण संशय के बीजों को बोने में व्यस्त है। प्रेमजन्य कृतिकर्म की अपेक्षा मशीनी या जड़ यन्त्रवादी–बौद्धिक आविष्कृतियों को जन्म देने में अपने को धन्य मान रही है। मशीनी बुद्धियोग स्त्रीपुरुष के मौलिक सम्बन्धों का विघटन यदि करता है तो उसे किसी स्वस्थ दृष्टि की निश्चितरूप से अपेक्षा है।

इस दृष्टि से थोड़ा और देखें तो बौद्धदर्शन की योगदृष्टि भी बहुत सूक्ष्म है। किन्तु वह भी जीवन के दुखवादी यथार्थ से जुड़ी हुई है। वहां भी मनुष्य का जीवन अपनी अनित्यता के कारण संशय के घेरे में आ जाता है। जीवन की अनित्यता के परीक्षण में वह भी एक क्षणिक चित्त से अत्यन्त गहराई के साथ जुड़ा हुआ है। वासनाओं से पैदा हुई पीड़ाओं की अग्नि को निर्वाण के शान्तिजल से बुझाने का प्रयास तो उसने भी बहुत किया। किन्तु अन्ततः अपने यथार्थ से जुड़ने के लिए वह तांत्रिक बौद्धयोग में बदल गया। हिमालय की यथार्थपरक योगसाधना के सम्पर्क में आकर उसने कई रूप बदले। महायान मत की अधिकांश तांत्रिक बौद्धसाधनाओं का जन्म हिमालय के शक्तिपीठों में भी हुआ। किन्तु आधारभूमि में कहीं न कहीं जगत् की दुःखमयता और अनन्त शान्ति की खोज के बीच में द्वन्द्व बना रहने के कारण मूल बौद्ध–योग में आए दिन होने वाली विकृतियों के कारण समाज के लिए उपयोगी एक स्वस्थ या स्थिर दृष्टि का विकास न होने के कारण समाज के भीतर छोटे छोटे खण्डों में विशीर्ण हो गया। परिणामतः वह हिमालय की मूल योगदृष्टि में, जिसमें शिव–शक्ति की भावोपासना और तत्त्वज्ञान का समन्वय था, उसीमें किसी न किसी प्रकार से मिल गया। तिब्बत और चीन की बौद्धयोग–सम्बन्धी अवधारणाओं में हिमालय के इस शिवक्षेत्र का बहुत बड़ा योगदान रहा है। शिव के अनुशासन में आ जाने के कारण बुद्ध की मूर्तियों और शिव की भावमूर्तियों के बीच एक समन्वयता भी दिखाई देने लगी।

बुद्ध और शिव दोनों ही विभिन्न योगमुद्राओं में लीन, परम शान्ति के साम्राज्य में प्राणिमात्र के दुःख का निराकरण करने में निरत परमगुरु एवम् परमेश्वर के रूप में हिमालय की प्रत्येक स्थली में आविर्भूत हुए। हिमालय की गुहाओं में से जो योग अनुनादित हुआ उसकी प्रतिध्वनि भारत के दो महाकवियों की प्रतिभा और साधना से उनके दो महाकाव्यों में पूर्णतया प्रकट है। भारतीय संस्कृति की व्यावहारिक एवम् जीवन–शैली से जुड़े ये दो ग्रन्थ आधुनिक भारतीय दर्शन के उपनिषद् गन्थ कहलाने के अधिकारी हैं। उनमें कालिदास के 'कुमारसम्भव' और अश्वघोष के 'बुद्धचरित' को यह श्रेय प्राप्त हो सकता है। दोनों ही भारतीय संस्कृति के सुदूर अतीत की परम्परा और नवीन परम्पराओं के बीच एक सेतु का काम कर सकते हैं।

बुद्धचरित के नायक भगवान् बुंद्ध का जीवन–दर्शन संसार की दुःखमयता की तीव्रातितीव्र संवेदना या अनुभव से उठान लेता है। उसकी समस्या है कि परम्पराओं के पास ज्ञान की सम्पन्नता भरपूर रहने के बावजूद प्रत्येक व्यक्ति से उसके स्वयम् अनुभव करने के अधिकार को छीना नहीं जा सकता। ज्ञानशील परम्परा के हित में भी यही है कि उसके अनुपालक उससे यदि कुछ ग्रहण करते हैं तो उन्हें उसे भी अपने प्रतिदान से पुष्ट करना है। इसके लिए उन्हें स्वयम् भी अपने घोर परिश्रम और साधना से बहुत कुछ प्राप्त करना है और गुणित करके लौटाना है। इसलिए पूर्वी हिमालय की तलहटियों में जन्म लेने वाले सिद्धार्थ की दुःखनिवृत्ति की जिज्ञासा की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है कि भले ही अन्य लोगों के तत्त्व के अनुभव की दिशा में बहुत कुछ किया गया हो, सत्यप्राप्ति के द्वार खोल रखे हों, किन्तु अनुभव के क्षेत्र में स्वयं जब तक प्रवेश न कर लिया जाए तब तक जीवन में चरितार्थता नहीं आ सकती। अतः मुझे स्वयम् को पाने के लिए स्वयम् ही उद्यम करना पड़ेगा। इसलिए बुद्ध अन्तिम समय तक एक ओर उस योग का प्रवचन करते रहे "हे भिक्खुओ" "अत्तदीपा विहरथा", "अत्तसरणा", "अनंचसरण" अर्थात् अपने को दीप बनाकर विहार करो, अपने आत्मा की ही शरण में जाना सीखो। किसी अन्य की शरण में नहीं। दूसरी ओर उन्हें संघ की शरण में भी जाने को कहते रहे। संभवतः योग की पराकाष्ठा पर पहुंचने पर उन्हें लगा हो कि वास्तव में आत्मा अथवा संघ या समाज ये दुःखशान्ति या निर्वाण के दो एकदम अलग विरोधी स्वर नहीं, अपितु एक दूसरे में अन्वित हैं। इसलिए किसी भी जीवन–दर्शन को व्यक्ति और संघ की अन्विति में से ही होकर निकलना पड़ेगा। अतः व्यक्ति और संघ की अन्विति वाला योग हिमाचल पर आकर महायान मत में परिणत हो गया। बुद्ध यदि वज्रगुरु के रूप में प्रकट हुए तो उनकी प्रज्ञा भगवती तारा के विभिन्न रूपों में प्रकट हुई है। यह भगवती तारा बाहर के जगत् के आकाश में एक सूक्ष्म एवम् उत्तर दिशा में सदा अटल रहने वाले ध्रुव नक्षत्र के रूप में प्रकट थी तो आन्तर जगत् में बुद्ध के विज्ञानाकाश या शून्याकाश में आलोकित मानवमात्र के अज्ञान के अन्धकार में सर्वथा अप्रभावित अचल अडोल ध्रुव–प्रज्ञा थी जो संसार–सागर में अपनी अपनी जीवन–नौका को लेकर भटक रहे, दिशा खोए हुए नाविकों को सही दिशा की ओर ले जाने में समर्थ थी। यात्राएं चाहे समुद्र की हों या आकाश की या फिर पृथ्वी के निर्जन जंगलों की, एक बार जो दिशा खो जाता है वह भटकन के आतंक से, भय से व्याकुल हो उठता है। उसे अभय प्रदान करने या भय से मुक्त करने की एक ही युक्ति है कि उसे उसकी दिशा का बोध करा दिया जाए। यह बोध ही प्रज्ञा है जो उसे संसार–सागर की धारा से तार देती है, उबार लेती है और पार लगा देती है। इस उबरने के दर्शन का आविर्भाव हिमाचल के शिखरों के उभार पर भगवती तारा रूप बौद्धों की प्रज्ञा पारमिता के रूप में खूब हुआ और घाटियों की गुफाओं में,

मठों–मन्दिरों साधकों और गुरुओं के गुरु गम्भीर निर्घोषों के साथ अभी तक मन्त्रों का उच्चार होता आ रहा है *"ओं तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा"*।

यह योग वास्तव में मानवमात्र के अपने साथ जुड़ने के लिए है। क्योंकि मनुष्य जब अपने साथ जुड़ने लगता है तो उसका अन्तर्मुखी हो जाना स्वाभाविक है। जो अन्तर्मुखी होता है वह क्रमशः उपासनाओं की ओर बढ़ता है जो उसकी स्थूल चेतना का संस्कार करते हुए बाह्य पदार्थों के सेवन या उपयोगों से आए हुए स्थूल चित्त के वासना–संस्कारों के आवरण से उसे परे कर देती है जिससे वह अपने स्वरूप का यथार्थ अनुभव करता है, चाहे वह जैसा भी है। इस स्वरूपप्राप्ति के बाद ही वास्तव में उसकी लोकयात्रा का आरम्भ होता है। यही कारण है कि हिमालय पर बसने वाली प्रायः सभी जातियां अधिकांशतः अन्तर्मुखी होकर बाहर के जगत् से या मैदानी क्षेत्रों के लोकजीवन से जुड़ीं। योग उनकी एक जीवनशैली के रूप में व्याप्त रहा भले ही वह दार्शनिक ऊंचाइयों का योग रहा हो या टूने–टोटके का योग हो। उसके मन्त्र चाहे संस्कृत में रहे हों। या लोकभाषाओं या वहां की बोलियों के रहे हों, किन्तु जागरूक आस्था–परक जीवनशैली का विकास करने में योग–विद्या के प्रसार का बहुत बड़ा योगदान रहा है। अतः हिमालयी लोकजीवन के योगसूत्रों को बिना हृदयंगम किए जो भी लिखा जाएगा वह अप्रामाणिक होगा। क्योंकि पाश्चात्य जीवन–पद्धति की, जो आरम्भ से ही वाणिज्यव्यवसाय की प्रतिद्वन्द्विता के पाटों में से पैदा हुई है उसका लोक–संस्कृति के मानदण्डों या जीवनसूत्रों से कोई तालमेल नहीं बैठेगा, जिसका कारण दोनों की भौगोलिकी भिन्नता एवम् पर्यावरण से पैदा हुई जीवनदृष्टि से है। योगदृष्टि जिस साम्य की (Harmony) की बात करती है वह पश्चिम के उद्योगीकरण से पैदा हुए साम्यवाद से नितान्त भिन्न है। संभवतः यदि कार्लमार्क्स या पूंजीवादी व्यवसायों की विद्याओं के आचार्य हिमाचल के उच्चतर शिखरों पर आकर कुछ देर रहे होते तो वे योग में दीक्षित हुए बिना न रहते। यान्त्रिकी या टैक्नॉलोजी के मानव ने भले ही हिमालय के दुर्गम घाटियों, वनों एवम् शिखरों पर मानव को पहुंचाने की कुशलता प्राप्त कर ली हो किन्तु पर्यावरण के साथ मिलकर जीने की कला से वह अपरिचित ही रहेगा। कारण यही है कि शिव गुरु, गौरी पार्वती एवम् बुद्ध के क्रमशः समाधि–सिद्धि, शक्तिसाधना एवम् धम्म आदि से पैदा हुए निर्मल एवम् व्यावहारिक योग की सहजता को वह आदमी के विकास का अविकसित आदिम रूप ही मानेगा।

अतः हम इस विचारसरणि को तीन भागों में बांट कर यहां योग की चर्चा करेंगे। क्योंकि वह योगदृष्टि यहां ऐसे ही पैदा हुई है जैसे हिमगिरि की वनस्पतियों के बीच देवदारु के वृक्ष या हिमशिलाओं या हिमानियों के बीच झरने या नदी–नाले, जो अपने आप में स्वयंसिद्ध जीवन या जन्म को प्राप्त करके भी

लोकहित के लिए सदैव प्रवृत्त हैं। अतः उत्तरपूर्वी हिमालय से हम चलें तो सबसे पहले बौद्ध योग से हमारा साक्षात्कार होगा। भगवान् बुद्ध का जन्म नेपाल के जिस तराई क्षेत्र में हुआ था उसका नाम कपिलवस्तु था। आजकल उसी स्थान के दो–अढाई मील के क्षेत्र में तिलौरा ग्राम बसा है, ऐसा प्राच्यविद्या इतिहासज्ञों का मत है। यह स्थान एक समय में ऐसा केन्द्रस्थल था जहां से उठकर कोई भी तत्त्वदर्शन हिमालय के एक ओर भारत के मैदानी क्षेत्र के लोगों को आन्दोलित कर सकता था तो दूसरी ओर हिमालय के ऊपर और उस पार बसी जातियों को प्रभावित कर सकता था। भौगोलिक दृष्टि से बौद्ध धर्म के केन्द्रीय स्थल को यदि पूर्वी हिमालय पर उदय होता हुआ देखते हैं तो उससे भी बहुत समय पूर्व भारत के पश्चिमी हिमालय क्षेत्र से वैदिक चिन्ताधारा की नदियां सप्तसिन्धु क्षेत्र में उदय होकर एक ऐसी संस्कृति को जन्म दे रहीं थीं जो नाना प्रकार के अन्नबहुल उपयोग और त्याग के बीच एक महासेतु का निर्माण कर चुकी थी। उपनिषदों का *"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः"* वाला ईशोपनिषद् का प्रथम आदर्शवाक्य मानवमात्र के उपयोग और योग का अद्भुत समन्वय था। इसमें न तो प्रकृति के दोहन का अतिचार था, न ही जड़बुद्धिता का अनाचार या निष्क्रियता।

पूर्व दिशा में बुद्ध जो मध्यम मार्ग ढूंढकर लाए थे उसमें वैदिक उपनिषदों के तत्त्वज्ञान की समन्विति अपने मूल रूप में वैसे ही विद्यमान थी। किन्तु श्रमण–संस्कृति, जो घोर त्याग और तपस्याओं के बल पर प्रचारित होना चाहती थी वह या तो अनस्तित्व की नास्तिकता और बुद्धि द्वारा सामाजिक मर्यादाओं के अतिक्रमण के पीछे पड़ी हुई थी या सिद्धिओं और चमत्कारों के दुरूह चक्रजाल में व्यस्त थी। सिद्धिओं और साधनों का अपना कर्मकाण्ड कोई छोटा–मोटा नहीं था। सारा व्यक्तिकेन्द्रित था। जैन–सिद्धान्त ने किसी आर्येतर तीर्थंकर को न लेकर आर्यपृष्ठभूमि में से ही श्रमणसंस्कृति का अनुगमन किया। किन्तु व्यवहार में गृहधर्म की विवशताओं के आगे स्वयम् को या स्वयंस्वीकृत कठोर तप और व्रत आदि के परिपालन में घोर असुविधा के कारण धर्म के पूर्ण रूप को व्यक्ति–विशेषों, तीर्थंकरों या गुरुओं में ही देखकर आम आदमी को सन्तोष करना पड़ा। सामान्य जन इस कठोरता का परिपालन न कर पाने से उसे समाज के विस्तृत स्तर तक नहीं ले जा पाये।

बौद्ध धर्म की स्थिति इससे भिन्न थी। उसका उद्देश्य लोक की प्रत्येक इकाई तक धर्म के उस स्वरूप को पहुंचा देना था जो व्यक्तिमात्र को जीवन की दुखमयता के प्रति जागरूक बना कर सद्धर्म या सदाचार का पालन कर सके। इस जागरूकता को पैदा करना ही योगाचार या विज्ञानवाद का ध्येय था। शील, समाधि और प्रज्ञा इन तीन रत्नों या उपलब्धियों के आधार पर मानवमात्र के जीवन को सार्थक या शान्तिमय बनाना ही 'धम्म' के प्रचार का लक्ष्य था। 'संघ

की शरण' या 'बुद्धशरण' उस 'धम्म' की प्राप्ति के उपाय थे। हिमालय के उत्तर की ओर बढ़ने वाले बौद्ध दर्शन ने ईसा पूर्व ही महायान मत का रूप ग्रहण कर लिया था। इस मत के अनुसार जहां बौद्ध धर्म में लोकजीवन और लोक की दुःख–निवृत्ति का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण बन गया था वहीं बौद्ध धर्म के साधना–पक्ष और तत्त्वदर्शन को भी नया रूप दिया गया था। शून्यवाद और विज्ञानवाद क्रमशः माध्यमिक और योगाचार संज्ञाओं को धारण कर गए थे। एक ही साधना–प्रणाली संसार के सभी पदार्थों की एक साथ निःस्वभावता प्रतिपादित करके सत्तामात्र की शून्यता को अनुभव कराने के लिए अनेक युक्तिसंगत विचार–प्रणालियों का आविष्कार करने लगी थी जिनके अनुसार साधक को अनेकानेक मानसिक प्रक्रियाओं और बौद्ध–प्रत्ययों में से होकर निकलना पड़ता था। दूसरे योगाचार की साधनप्रणाली विज्ञान या चित्त को ही क्षणिक एवम् प्रवाहशील मानकर उसका साक्षात्कार करने की थी। योग की ये साधनाएं इस तथ्य को सामने रखकर चलीं कि सत्तमात्र या शक्ति के दिव्य–अदिव्य रूपों के साथ चिपक कर उनकी उपासना करते रहने से मनुष्य उन शक्तियों के ही संचार या उपयोग का माध्यम बन कर रह जाता है। उच्च से उच्चतम स्तरों तक पहुंच कर भी वह अपने निर्वाणरूप में तो जी नहीं पाता, अपितु देवशक्तियों का पशु बन कर ही रह जाता है, पूर्ण स्वाश्रित नहीं। यह बात वैसे तो बृहदारण्यक उपनिषद् के ऋषि भी उठा चुके थे कि जो लोग सत्ता के प्रतिनिधि देवताओं की उपासना अपने से भिन्न करके अन्य के रूप में करते हैं वे देवताओं के बलि–पशु बनकर रह जाते हैं – *"अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवँ स देवानाम्"* (बृ०उ० 1-4-10)

किन्तु माध्यमिक शून्यवादी स्वाश्रित बुद्धता को अपने भीतर जागृत करने के लिए अनेक उपायों का आविष्कार कर चुका था। जिसमें बौद्ध मन्दिरों, **मठों** और पैगोडाओं में बुद्ध की धारणा, ध्यान, समाधि की मुद्राओं को उपयो**गी मान** लिया गया था। भगवान् बुद्ध के निर्वाण–काल के एक सप्ताह से लेकर अशोक के काल तक घटित होने वाली तीन बौद्ध संगीतियों में बौद्ध मत का एक सुनिश्चित साहित्य एवम् स्वरूप निर्मित कर लिए जाने के बाद फिर उन आठ साधना–पद्धतियों को आविष्कृत किया जाने लगा जिन्हें गौतमबुद्ध ने आराडकलाम और उद्दक रामपुत्त से सीखा था। मानवचित्त के साक्षात्कार करने की इन विभिन्न प्रक्रियाओं से ही बौद्ध योग की विपश्यना नामक साधना–पद्धति को भी विकसित कर लिया गया था। महायान सिद्धान्त की शून्यवादी और विज्ञानवादी दोनों प्रणालियों ने जिस जीवनदृष्टि को विकसित किया था उसको लोकमात्र तक पहुंचाने के लिए तथा बृहत्तर समाज की हिमालय के इस पार पर एवम् उस पार रचना के लिए अपने दर्शनयोग एवम् क्रियायोग का अनुसरण एवम् आचरण करने

के लिए तिब्बत, चीन, जापान आदि देश–देशान्तरों तक बौद्ध समाज के साधना के केन्द्रों का सर्वत्र एक तांता ही लगता चला गया। स्थान स्थान पर बौद्ध मठों, मन्दिरों में बौद्ध प्रतिमाओं में बुद्ध की निर्वाणधारा के विभिन्न रूपों को आकृतियों और मुद्राओं में उतारकर बड़े बड़े दीप प्रज्ज्वलित किए जाने लगे। वायुरहित या निवात स्थान में बिना थिरकन इंगणरहित निरन्तर शान्त भाव में जलती हुई दीपशिखाएँ साधकों की चित्तभूमिकाओं का मार्गदर्शन करने लगीं। मौन योग में समाहित बुद्ध–प्रतिमाओं के साक्षित्व में दीपशिखाएँ क्रियात्मक योगसाधनाओं द्वारा बौद्ध–विज्ञान को मुखरित करने लगीं। बुद्धिगत प्रज्ञाओं को क्रमशः षट्पारमिताओं के रूप में प्रकटित करने के लिए देवीरूपों की कल्पना की गई। भगवती तारा के छह विभिन्न रूपों के साक्षात्कार के साथ मन्त्रयोग, तन्त्रयोग एवम् यन्त्रयोग की विभिन्न संकल्पनाओं द्वारा पूरे लोकजीवन को सुसंगठित एवम् साधनाप्रधान बनाकर निर्वाण, महाशान्ति एवम् महासुख पाने का प्रत्येक मानव को अधिकार है, यह घोषणा कर दी गई। उसे किसी विशिष्ट वर्ग के अधिकारक्षेत्र की संपत्ति नहीं माना गया।

किन्तु निर्वाणप्राप्ति से पूर्व साधुचित्त का निर्माण होना तो अनिवार्य था। इसके लिए जिन परीक्षण की प्रक्रियाओं को अपनाने की अपेक्षा थी उन्हें एक सार्थक नाम दे दिया गया जिसे बौद्ध–दर्शन में विज्ञानवाद या योगाचार मत कहा गया। विज्ञानवाद कहने के पीछे जो भाव था उसके अनुसार सारे विश्व की क्षणिकता, अनित्यता एवम् प्रवाहशीलता का साक्षात्कार करना था। जगत् के सभी पदार्थ क्षणिक एवम् अनित्य हैं इसका हृदय की गहराई से अनुभव करने के लिए सत्ता के स्वरूप को समझना नितान्त आवश्यक हो गया। फलतः असंग एवम् वसुबन्धु जैसे तत्त्वदर्शी बौद्ध आचार्यों ने सत्ता के तीन स्वरूपों को समझाने पर बल दिया। वसुबन्धु ने कहा कि सत्ता के तीन स्वभाव हैं। एक तो परिकल्पित सत्ता है जो मानव मात्र की अपनी मानसिक संकल्पनाओं से प्रादुर्भूत होती है। दूसरी परतन्त्र सत्ता है जो बाहर के विषयजगत् में हेतुमद्भाव या कार्यकारणभाव के रूप में स्फुरित हो रही है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ यदि किसी एक वस्तु का कारण है तो वह स्वयम् भी दूसरे पदार्थ का कार्य है अतः वह परतन्त्रता के भाव का ही प्रतिरूप है। इसलिए जो कुछ भी कार्यकारणभाव में आ गया वह सापेक्ष रूप होने से क्षणिक एवम् अनित्य ही सिद्ध होगा।

सत्ता का तीसरा रूप परिनिष्ठित होने से शुद्ध विज्ञान–रूप है। मानवीय चेतना का एक सतत-प्रवाह है जो विज्ञप्तिरूप है। सत्ता के इन तीनों रूपों का साक्षात् ज्ञान हो जाने से निर्वाण या परम शान्ति का लाभ हो सकता है। किन्तु ध्यान करने की बात यह है कि विज्ञान के इस सत्ता–प्रवाह के ये तीनों रूप अन्ततोगत्वा अभूतपरिकल्पित हैं। जिसका अर्थ यह हुआ कि ये तीनों रूप वास्तव

में तो कभी होते नहीं, किन्तु परिकल्पना या प्रतीत्ता में इनका पता चलता रहता है। प्रतीतिमात्र में यद्यपि सत्ता के तीन स्वभाव दृष्टिगत होते हैं, किन्तु शील से समाधि तक, समाधि से प्रज्ञा में पहुंचते ही सत्ता के सभी स्वरूप निःस्वभाव या स्वभावरहित होकर बोध में आ जाने पर निब्बाण का लाभ हो जाता है, जो बौद्ध समाज का चरम लक्ष्य है।

किन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने से पूर्व जिस प्रक्रिया में से साधक को गुज़रना होता है उसे साधारण व्यक्ति तक पहुंचाने के लिए जिन ध्यानसाधनाओं और क्रियाओं का अनुपालन करना होता है वह सभी बौद्धयोग का गूढ़ विषय है। इस बौद्धयोग के अनुसार यह विश्व तीन धातुओं से निर्मित है – कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु। दृश्यमान ये लोकलोकान्तर एवम् जीव–समुदाय के समस्त सुखदुःख आदि रोग कामधातु के अन्तर्गत आ जाते हैं। रूपधातु आकार–प्रधान है। वहां काम नहीं रहता, केवल रूप ही रहता है। अरूपधातु में काम और रूप दोनों ही नहीं रहते, किन्तु केवल विज्ञान रहता है। इन तीनों धातुओं का अतिक्रमण करने के लिए चित्तशुद्धि करना अनिवार्य है जो ध्यान के बिना संभव नहीं। इस ध्यानाभ्यास के लिए बौद्ध लोगों को अनेक प्रकार के अनुष्ठान एवम् तपस्याएं करनी होती हैं।

यहां हम सबसे पहले उनके दृष्टि–साधन की ओर आते हैं जिसे पारिभाषिक शब्दों में 'कृत्स्न' भी कहा जाता है। इसमें चित्त की एकाग्रता के पूर्ण सहयोग से पहले खुली आंखों से, फिर बंद आंखों से किसी एक आलम्बन या आश्रय–स्थल का ग्रहण कर दृष्टि को स्थिर करना सीखना होता है। बाहर के दृष्टिसाधन को 'परिकर्म्य–निमित्त' और अन्तर्दृष्टि के आलम्बन को 'उद्ग्रहनिमित्त कहते हैं। इस 'उदग्रहनिमित्त' नामक अन्तर्दृष्टि की साधना से जब चित्त केन्द्रित होने लगता है तो निमित्त या आलम्बन किए गए पदार्थ से प्रभामण्डल या प्रकाश फटने लगता है जिसे बौद्ध लोग 'प्रतिभागनिमित्त' कहते हैं। तब इस प्रभामण्डल पर किए जाने वाले ध्यान को उपचार–ध्यान कहा जाता है। इस प्रकार क्रमशः लम्बे समय तक ध्यान करते करते चित्त के निर्मल हो उठने से, आवरण टूट गिरने से चित्त की 'गोत्रभू' अवस्था का उदय हो जाता है। यहां आ कर कामधातु के क्षेत्र का उपचार ध्यान समाप्त होता है तथा रूपधातु के क्षेत्र में प्रवेश होते ही 'अर्पणा' नामक अवस्था का उदय होता है। यह अवस्था चार से लेकर क्रमशः 18 दिव्यस्तरों को उद्घाटित करती जाती है और ध्यान का उत्कर्ष आगे से आगे बढ़ता जाता है। इसके बाद निरन्तर साधना के द्वार से साकार चित्त के जगत् से निराकार अरूप धातु या विज्ञान के अनुभवजगत् में प्रवेश होता है तथा उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ चित्त जब संज्ञा और वेदना के सम्यक् निरोध हो जाने के साथ शान्त हो जाता है तो निर्वाण का मार्ग खुल जाता है। प्रस्तुत सारी

बौद्धयोग की साधना हिमालय के भीतरी क्षेत्रों में रहने वाले गृहस्थों और साधुओं के दैनन्दिन जीवन में नाना रूप धारण कर उनके दैनन्दिन जीवन की क्रियाओं में समा चुकी हुई है। उसके आधार पर ही वे अपनी जीवनचर्या को शताब्दियों से चलाते आ रहे हैं। वे ही उनके जीवनमूल्यों आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक चिन्तन की समन्वित चेतना या आन्तरिक एकता के सूत्र हैं जिन्हें वहां के लोकाचार और व्यवहार के गहन अध्ययन से पैर पैर पर देखा जा सकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं रहना चाहिए कि हिमालय के पूर्वी भाग में दार्जिलिंग के हिमशिखरों से लेकर, सिक्किम और भूटान के पर्वत–प्रदेशों से लेकर हिमालय के ऊपरी पश्चिमी शिखरों पर बौद्ध–साधनाओं एवम् योग के जो नाना प्रयोग हुए उनके परिणामों को समोकर एवम् समेटकर रखने वाले, उनका प्रचार एवम् प्रसार करने वाले प्रधान योगाचार्यों में शान्तरक्षित (ई० 705-762) का बड़ा नाम रहा। कुछ विद्वान् इनका जन्मस्थान आज का भागलपुर मानते हैं तो कुछ हिमाचल के मण्डी जिले में रिवाल्सर को। ये स्वतन्त्र माध्यमिक मत एवम् योगाचार के नालन्दा में परमाचार्य थे। यद्यपि इनके प्रधान शिष्यों में कमलशील का नाम आता है जिसने इनके 'तत्त्वसंग्रह' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर भाष्य लिखा तथा दूसरे शिष्य गुणाकर श्रीभद्र ने तिब्बती भाषा में उसका अनुवाद किया। शान्तरक्षित ने विज्ञानवाद या योगाचार को ही प्रधान मानकर 'तत्त्वसिद्धि' आदि अन्य ग्रन्थों की भी रचना की। उन्होंने छः वर्ष तक यदि नेपाल में बौद्धयोग की प्रतिष्ठा की तो दो बार तिब्बत में भी गए। आचार्य पद्मसंभव (ई० 717-762) योग और तन्त्र के महासिद्ध आचार्य थे जिनका तिब्बत की लोकचेतना पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। लोग उन्हें द्वितीय बुद्ध के रूप में स्मरण करते रहे हैं। कहा जाता है कि इनका जन्मक्षेत्र उत्तर–पश्चिमी हिमालय की स्वात घाटी में कहीं रहा। किन्तु इनकी योग और तन्त्र–साधना की जो अमिट छाप पड़ी उसके कारण इनकी मूर्तियों में इनके माथे पर तृतीयनेत्र लगाया गया तथा एक हाथ में वज्र एवम् अन्य हाथ में खोपड़ी या कपाल में भरा हुआ जीवन का अमृत पकड़ाया गया। इस प्रकार पद्म संभव हिमालय के चरम शिखरों पर साक्षात् दिव्यपुरुष परमबुद्ध के रूप में प्रतिष्ठित रहे।

हिमालय के तिब्बती भाग पर बौद्धयोग एवम् तन्त्र का जो रूप एक दूसरे युग के रूप में उभरकर आया वह रिञ्चेन सैंग्पो (Rinchen Sangpo) के तत्त्वदर्शन में तन्त्र और योग के समन्वित स्वरूप को लेकर प्रकटित हुआ। वह दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी का बहुत बड़ा योगदान है। प्रसिद्ध है कि काश्मीर में रिञ्चेन सैंग्पो का एक तान्त्रिक सिद्धयोगी रत्नसिद्धि से साक्षात्कार हुआ था और पं० गुणमित्र से उन्होंने व्याकरण–शास्त्र का अध्ययन करके जहां एक ओर बौद्धयोगी धर्मशान्ति से विद्या प्राप्त कर 'वज्रधातु' एवम् 'वज्रधातुमण्डल' जैसे ग्रन्थों का

अनुवाद किया वहां स्वयम् भी 'वर्णसूत्र' की रचना की। फिर हिमाचल–प्रदेश की व्यास घाटी में रहते हुए श्रद्धाकर वर्मन् जैसे विद्वान् से योग और तन्त्र की साधना सीखकर तिब्बती भाषा में कई अनुवाद भी प्रस्तुत किए।

इसके बाद बौद्ध तन्त्र और योग में जो नितान्त महत्त्वपूर्ण नाम रहे हैं उनमें दीपंकर श्रीज्ञान या आतिशा, जो ई० 982 से 1054 तक रहे और भारत के विक्रमशील विद्याकेन्द्र के स्नातक रहे तथा उनके परवर्ती मार्पा (ई० 1012-1097) एवम् मिलार्पा (ई० 1038-1123), पुतोन रिम्पोछे (ई० 1290-1364), त्सोङख्पा (ई० 1355-1417) तथा तारानाथ जो ईसा की सोलहवीं शती में कालचक्र–यान महायोग के प्रसिद्ध योगी रहे हैं। इन सभी की योगसाधनाओं के प्रशिक्षण एवम् प्रचार–प्रसार को कम नहीं आंका जा सकता।

यह ठीक है कि बौद्ध योगसाधनाओं ने जहां एक ओर हिमालय के ऊपरी लोकमानस के निर्माण में वहां की सामाजिक आस्थाओं एवम् कुलीन जीवनदृष्टि की रचना में अधिकाधिक प्रभावित किया है वहीं पौराणिक शैवागम की योगसम्बन्धी दृष्टियों ने हिमालय के बहुत बड़े भाग को तथा काश्मीर के जीवनदर्शन को बहुत अध्कि प्रभावित किया है। उसे अलग से शाक्तयोग एवम् शैवयोग नामक अलग–अलग प्रकरणों में विस्तार से प्रतिपादित किया जा सकता है। इसी योगदृष्टि ने भारतीय हिमालय के ऊपरी, मध्य तथा निम्न तलों पर बसने वाली विविधताओं में भी आन्तरिक एकसूत्रता एवम् जीवन–दृष्टि को बनाए रखा है।



डा. रमाकान्त आंगिरस

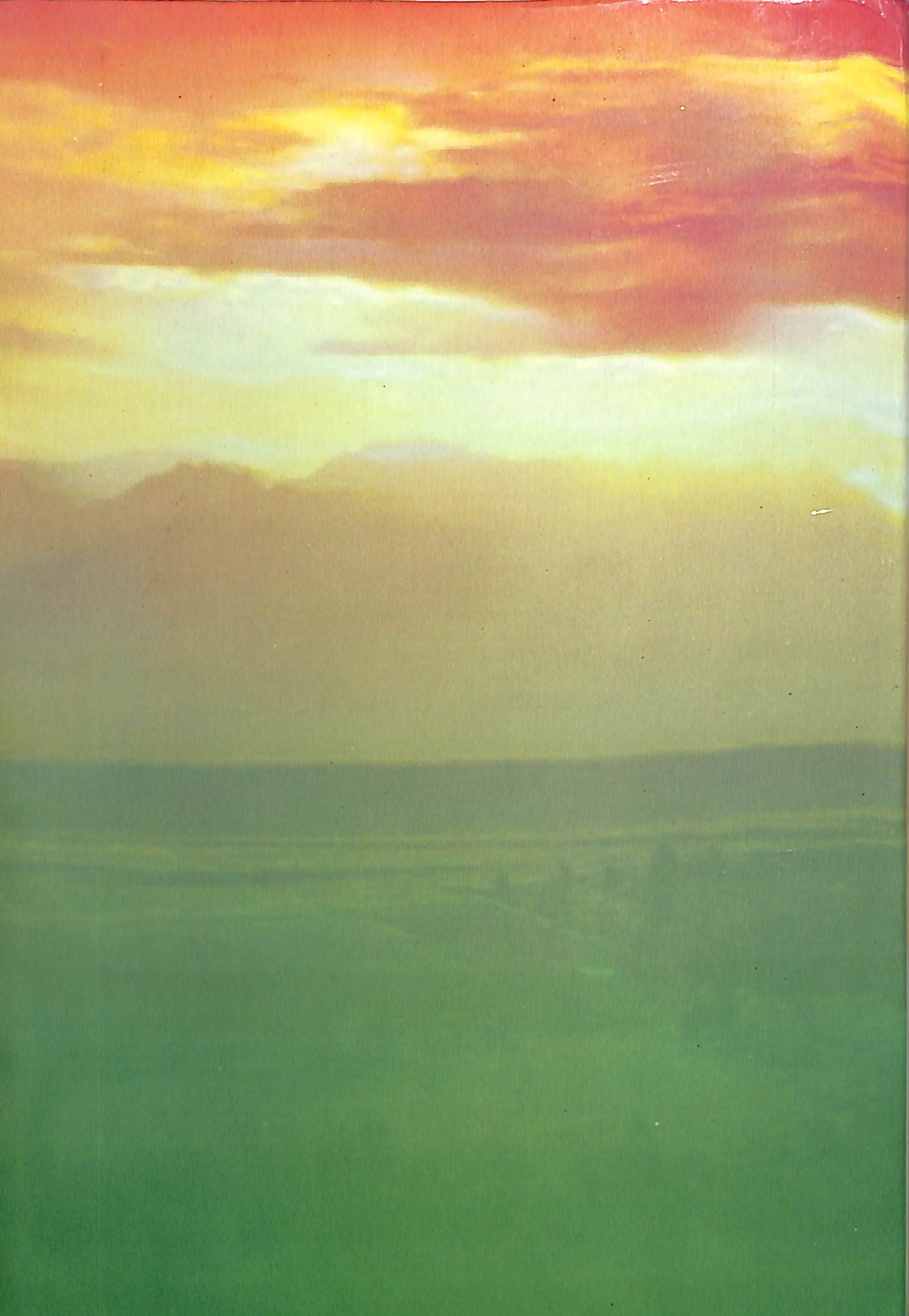
एक : परिचय

डा. रमाकान्त आंगिरस पंजाब–विश्वविद्यालय चण्डीगढ में कालिदास प्रोफेसर ऑफ संस्कृत के पद पर रहते हुए सेवानिवृत्त हुए हैं। आत्मचिन्तन और मन्थन में रत रहते हुए वे केवल अपने छात्रों के ही प्रेरणास्रोत नहीं रहे अपितु अपने मित्रों और परिचित विद्वज्जनों को भी प्रेरणा देते रहे हैं।



एक लम्बी सी अध्ययन एवम् अध्यापन की परम्परा का सफल निर्वाह करते हुए दर्शन, साहित्य, एवम् कलाओं के अनुष्ठान और अनुसंधान में तत्पर रहे हैं। परम्परा से संस्कृतनिष्ठ परिवार से होने के कारण संस्कृति को सहज जीवन से जोड़ते हैं। उन्हें कई बार देश–विदेश में अपने चिन्तनपरक अध्यापन के लिए पर्याप्त सम्मान मिला। राष्ट्रीय एवम् अन्तर्–राष्ट्रीय सेमिनारों में अपनी बात को सटीक ढंग से कहना और शास्त्रीय जटिलताओं को सरलता में परिणत करके उन्हें सर्वजन–ग्राह्य बना देने को वे अपना ध्येय मानते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनका शास्त्रज्ञान, लोकदृष्टि एवम् अनुभव में से समंजस होकर मुखरित हुआ है। डा. आंगिरस अपने इस रचनात्मक चिन्तन को दो भागों में प्रकाशित करने का संकल्प रखते हैं। उनका अपना मौलिक, कविता–संग्रह भी प्रकाशित होने की दिशा में अग्रसर है। इससे पूर्व डा. आंगिरस के "शांकर वेदान्त : एक अनुशीलन", "ट्रिलोजी ऑफ तन्त्र" "तन्त्रार्थ–मीमांसा" जैसे ग्रन्थ एवम् अनेक शोध–पत्र प्रकाशित होकर सुधी पाठक वर्ग में समादृत हो चुके हैं।

डा॰ आदित्य आंगिरस
डा॰ शिवानी शर्मा



प्रकाशक :
श्रीराम धर्मार्थ ट्रस्ट, मोरिण्डा (पंजाब)